प्रकाशक :
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन सौजन्य :
श्री प्रकाशचन्द जी बेताला, बैंगलोर

संस्करण :
सप्तम : सन् २००६

मूल्य : पचास रुपये मात्र

मुद्रक :
कल्याणी प्रिन्टर्स
अलख सागर रोड़, बीकानेर
दूरभाष : २५२६८६०

प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन–परम्परा में महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचंदजी म.सा. की पाट–परम्परा में षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. विश्व–विभूतियों में एक उच्चकोटि की विभूति थे, अपने युग के क्रांतदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत संत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व, प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एवं भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभौम और मानवमात्र के लिए उपादेय था। उन्होंने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नहीं, अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुंज बन गया। उन्होंने व्यक्ति, समाज, ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वों को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भाँति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरंग में मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होंने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक् प्रयास अपने प्रेरणादायी उद्‌बोधनों के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यों को सरल भाषा में आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवों की वाणी को पहुंचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषों एवं महासतियों के जीवन–वृत्तान्तों को सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–संवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्‌बोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम में किरणावली का यह अंक भगवती सूत्र व्याख्यान पाठकों के लिए प्रस्तुत है। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेंगे।

युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक, ज्योतिर्धर, आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. का महाप्रयाण भीनासर में हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग में जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण, कर्मनिष्ठ, आदर्श समाजसेवी स्व. सेठ चम्पालालजी बांठिया का चिरस्मरणीय, श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासों और समाज के उदार सहयोग से

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। संस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद में संस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासों से किरणावलियों की संख्या बढ़ाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्रायः बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ में यह निर्णय किया गया कि किरणावलियों को नया रूप दिया जावे। इसके लिए संस्था के सहमंत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियों को एक साथ समाहित किया और पुनः सभी किरणावलियों को 32 किरणों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म.सा. के साहित्य के प्रचार–प्रसार में जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। संघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी संगठन और कार्यकर्ताओं के बल पर जवाहर किरणावलियों के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन में अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज संघ के प्रयासों से यह जीवन–निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नहीं, अपितु विश्व–धरोहर बन चुका है। संघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व. डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ में समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60,000 रु. एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व में लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला संस्करण श्रीमती मंजूला बेन, बड़ोदरा एवं श्री प्रकाशचन्द्रजी बेताला, बैंगलोर के सौजन्य से प्रकाशित किया गया और प्रस्तुत किरण 31 (भगवती सूत्र व्याख्यान भाग 7 एवं 8) के अर्थ–सहयोगी श्री प्रकाशचन्दजी बेताला, बैंगलोर हैं। संस्था सभी अर्थ–सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मंत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

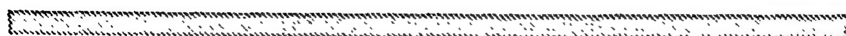
जीवन–तथ्य

जन्म स्थान	:	थांदला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	:	वि.सं. 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	:	श्री जीवराजजी कवाड़
माता	:	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	:	लिमड़ी (म.प्र.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (म.प्र.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	:	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, आषाढ़ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	:	भीनासर (राज.)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. 2000, आषाढ़ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

- विपत्तियों के तमिस्र गुफाओं के पार जिसने संयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
- ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरंतर अभिवर्द्धित किया।
- संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
- उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थों में विजयश्री प्राप्त की।
- परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए जिसने गांव–गांव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
- शुद्ध खादी के परिवेश में खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस में खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
- अल्पारंभ–महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
- स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर–सम्मेलन में गहरे चिंतन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
- महात्मा गांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं. श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं ने जिनके सचोट प्रवचनों का समय–समय पर लाभ उठाया।
- जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
- सत्य सिद्धांतों की सुरक्षा के लिये जो निडरता एवं निर्भीकता के साथ भू–मंडल पर विचरण करते थे।



"हुक्म संघ के आचार्य"

1. **आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1870, स्वर्गवास वि.स. 1917**
   ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक, साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।
2. **आचार्य श्री शिवलालजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933**
   प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।
3. **आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा. – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स. 1954**
   विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तों के आदर्श विलक्षण।
4. **आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स. 1957**
   महान क्रियावान, सागर सम गंभीर, संयम के सशक्त पालक, शांत–दांत, निरहंकारी, निर्ग्रन्थ–शिरोमणि।
5. **आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977**
   सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्‌भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।
6. **आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स. 2000**
   ज्योतिर्धर, महान क्रांतिकारी, क्रांतदृष्टा, युगपुरुष।
7. **आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि.स. 2019**
   शांत क्रांति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।
8. **आचार्य श्री नानालालजी म.सा. – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स. 2056**
   समता–विभूति, विद्वद्‌शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण–ध्यानयोगी।
9. **आचार्य श्री रामलालजी म.सा. – दीक्षा 2031, आचार्य वि.सं. 2056 से**
   आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिबोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशांतमना।

अनुक्रम

भगवती सूत्र भाग-८

श्रीमद्भगवती सूत्र

प्रथम शतक : नवम उद्देशक

—

(कपासन—चातुर्मास)

जीवों का गुरुत्व—लघुत्व

मूल पाठ—

प्रश्न — कह णं भंते! जीवा गरुयत्तं हव्वं आगच्छंति?

उत्तर — गोयमा! पाणाइ वाएणं, मुसावाएणं, आदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं, परिग्गहेणं, कोह—माण—माया—लोभ—पेज्ज—दोस—कलह—अब्भक्खाण—पेसुन्न—अरतिरति—परपरिवाय—मायामोस—मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवा गरुयत्तं हव्वं आगच्छंति।

प्रश्न — कह णं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वं आगच्छंति?

उत्तर — गोयमा! पाणाइवायवेरमणेणं, जाव मिच्छादंसणसल्लविरमणेणं, एवं खलु गोयमा! जीवा लहुयत्ते हव्वं आगच्छति।

एवं संसारं आउलीकरेंति, एवं परित्तीकरेंति, एवं दीहीकरेंति, एवं हस्सीकरेंति, एवं अणुपरियहंति, एवं वीतिवयंति। पसत्था चत्तारि, अप्पसत्था चत्तारि।

संस्कृत—छाया

प्रश्न — कथं भगवन्! जीवा गुरुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति?

उत्तर — गौतम! प्राणातिपातेन, मृषावादेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण, क्रोध—मान—माया—लोभ—प्रेम—द्वेष—कलह—अभ्याख्यान—पैशुन्य—अरतिरति—परपरिवाद—मायामृषा—मिथ्यादर्शन शल्येन, एवं खलु गौतम! जीवा गुरुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति।

प्रश्न — कथं भगवन्! जीवा लघुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति?

उत्तर — गौतम! प्राणातिपात विरमणेन, यावद् मिथ्यादर्शन शल्यविरमणेन, एवं खलु गौतम! जीवा लघुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति।

एवं संसारमकुलीकुर्वन्ति, एवं परीतीकुर्वन्ति, एवं दीर्घीकुर्वन्ति, एवं ह्रस्वीकुर्वन्ति, एवं अनुपरिवर्तते, एवं व्यतिव्रजन्ति। प्रशस्तानि चत्वारि; अप्रशस्तानि चत्वारि।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! जीव गुरुता–भारीपन किस प्रकार शीघ्र पाते हैं?

उत्तर – गौतम! प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेम से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान (दोषारोपण करने) से, चुगली खाने से, अरति–रति से, पराई निन्दा से, कपटपूर्वक मिथ्या भाषण से, और मिथ्यादर्शनशल्य से, हे गौतम! इस प्रकार जीव शीघ्र भारीपन पाते हैं।

प्रश्न – भगवन्! जीव लघुता (हल्कापन) किस प्रकार शीघ्र पाते है?

उत्तर – गौतम! प्राणातिपात के त्याग से और यावत् मिथ्यादर्शन के त्याग से– सम्यग्दृष्टि बनने से; हे गौतम ! इस प्रकार जीव शीघ्र लघुपन प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जीव प्राणातिपात आदि के करने से संसार को बढ़ाते हैं, लम्बा करते हैं और भव–भ्रमण करते हैं तथा प्राणातिपात आदि से निवृत्त होकर जीव संसार को घटाते हैं, छोटा करते हैं–और संसार को लांघ जाते हैं। इनमें चार– हल्कापन, संसार को घटाना, छोटा करना और लांघ जाना– प्रशस्त हैं और चार– भारीपन, संसार को बढ़ाना, लम्बा करना और संसार भ्रमण करना– अप्रशस्त हैं।

व्याख्यान

आठवें उद्देशक में आत्मा के बल, वीर्य और पराक्रम का वर्णन किया गया है। संसार में सर्वत्र शक्ति का ही सम्मान होता है। शक्ति के बिना कहीं पूछ नहीं। सोने की अधिक और पीतल की कम कद्र क्यों है? इस पर विचार करने से भी यही मालूम होगा कि पीतल की अपेक्षा सोने में अधिक शक्ति है। सोने में इतनी ताकत है कि उसका कितना भी पतला तार बना कर खींचा जाय, पर वह टूटेगा नहीं। पीतल में यह बात नहीं है। वह थोड़े– से ही आघात से टूट जाता है। इसी अन्तर के कारण पीतल की अपेक्षा सोने की कद्र ज्यादा है।

सोने को पहचानने वाला आत्मा ही है। जब सोने में भी वह शक्ति है तो उसे पहचानने वाले आत्मा में कितनी शक्ति होनी चाहिए ? आखिर सोने

की कीमत आंकने वाला आत्मा ही है। आत्मा की जो शक्ति है उसी को वीर्य कहते हैं।

आत्मा में जो शक्ति है, उसका उपयोग दो प्रकार से होता है– एक तो उस ताकत से और ताकत बढ़ाना और दूसरे उस ताकत से ही ताकत घटाना। वीर्य से ही अच्छा या बुरा काम होता है। वीर्य (ताकत) के बिना पाप या धर्म कुछ भी नही हो सकता। आत्मा में जो शक्ति है, उसका उपयोग पाप या धर्म किसी में भी हो सकता है, मगर पाप से जीव भारी होता है और धर्म से हलका होता है। जीव किस प्रकार भारी होता है और किस प्रकार हलका होता है, यह बात इस नौवें उद्देशक में बतलाई गई है। प्रथम शतक के आरम्भ में जो संग्रहगाथा आई है, उसमें यह कहा गया है कि नौ उद्देशक में जीव की गुरुता का वर्णन किया जायगा। इस प्रतिज्ञा को निभाने के लिए भी इस उद्देशक में यह बतलाया गया है कि जीव किस प्रकार भारी होता है?

तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति गुरु की विनय करने से ही हो सकती है। गुरु की सेवा–भक्ति से जो काम होता है, वह गरूर से नहीं हो सकता।

आत्मा की गुरुता का प्रश्न करने वाले गौतम स्वामी हैं। वे चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक थे। फिर भी कितने विनयवान् थे।

गौतम स्वामी ने इतनी नम्रता क्यों दिखलाई है? वे अपने लिए ही यह नम्रता नहीं दिखला रहे हैं, किन्तु सारे संसार के लिए भी उन्होंने नम्रता प्रदर्शित की है।

जीव के अनेक भेद हैं। जीव, शिव, आत्मा, परमात्मा, परमब्रह्म आदि जीव के अनेक भेद हैं। लेकिन ये भेद क्रिया से हैं। जीव जैसी क्रिया करता है, वैसा ही बन जाता है। अच्छी क्रिया करने से जीव शिव बन जाता है।

गौतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं– प्रभो! मेरा, आपका और सारे संसार के प्राणियों का जीव एक सरीखा है। फिर भी कोई–कोई जीव भारी क्यों होते हैं?

गौतम स्वामी को दूसरों की चिंता क्यों हुई? वे स्वयं तो हल्के ही थे, फिर संसार के जीवों की चिंता उन्होंने क्यों की है? आजकल के लोग स्वार्थी बन बैठे हैं, इसलिए भले ही विचार करें, परन्तु साधुता तो दूसरों के कल्याण को अपना ही कल्याण समझने में है। और भगवान् भी कितने करुणासागर थे! उन्होंने गौतम के प्रश्न के उत्तर में यह नहीं फरमाया कि: गौतम, तू साधु है। तुझे दुनिया से क्या सरोकार है? किन्तु भगवान भी सोचते हैं कि शिष्य ऐसा ही होना चाहिए जो संसार के कल्याण की बात सोचे और

पूछे। इस शिष्य के प्रश्न से जान पड़ता है कि इसने मुझे पहचान लिया है कि मेरा जीवन परमार्थ के लिए ही है।

कल्पना कीजिए, एक राजा के पास दो आदमी जाते हैं। एक अपने लाभ की वस्तु ही मांगता है और दूसरा आदमी राजा से कहता है– आपकी प्रजा को अमुक दुःख है, प्रजा में अमुक गुण की कमी है और फलां काम करने से प्रजा का उत्थान होगा। अब राजा इन दोनों आदमियों में से किसे कैसा समझेगा? अपने स्वार्थ की बात करने वाले को भला समझेगा या प्रजा की भलाई की बात बतलाने वाले को भला समझेगा? राजा अगर समझदार है तो निःसंदेह प्रजा के हित की चिंता करने वाले को अच्छा समझेगा और स्वार्थी मनुष्य को पसन्द नहीं करेगा।

जब एक राजा भी स्वार्थ की बात सुनना पसन्द नहीं करता तो तीन लोक के नाथ, देवाधिदेव, जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर डाले हैं, स्वार्थ की बात से किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं? वे भी गौतम स्वामी के परमार्थ सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर प्रसन्न हुए हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् बोले– हे गौतम! जीव अठारह पापों से भारी होता है। अठारह पाप थोड़े में इस प्रकार हैं :–

(1) पहला पाप प्राणातिपात अर्थात् हिंसा है। (2) दूसरा पाप झूठ है।

(3) तीसरा पाप चोरी है। (4) चौथा पाप मैथुन है। (5) पांचवां पाप परिग्रह है।

जो वस्तु वास्तव में अपनी नहीं है, उस पर ममत्व का भाव रखना परिग्रह कहलाता है।

जैन शास्त्रों में तो परिग्रह को पाप बतलाया ही है, पर अन्यान्य ग्रंथों से भी प्रमाण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि अनधिकार्य वस्तु पर ममत्व रखना पाप है। यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि सभी एक स्वर से परिग्रह को पाप स्वीकार करते हैं। उपनिषद् में कहा है– धन पर ममता–मूर्च्छा क्यों रखता है! धन किसका है कि तू उस पर मूर्छा धारण करता है!

लोग सोने के जो कड़े हाथों में पहने रखते हैं, वही अगर उनके सिर पर मारे जावें तो उन्हें चोट पहुंचेगी या नहीं? फिर इन पर इतनी ममता क्यों है?

(6) छठा पाप क्रोध है। (7) सातवां मान, (8) आठवां माया, (9) नौवां लोभ, (10) दसवां राग, (11) ग्यारहवां पाप द्वेष है। यद्यपि राग–द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ में आ जाते हैं, पर खुलासा करने के लिए उन्हें अलग गिनाया है।

किसी वस्तु पर ममत्व करके, उस ममत्व में रंग जाना राग कहलाता है। 'रज्यते इति रागः' अर्थात् ममता का रंग चढ़ जाना राग है। जैसे कपड़े पर रंग चढ़ता है, उसी प्रकार आत्मा पर ममत्व–भाव से जो रंग चढ़ता है, वह राग है। और 'द्वेषणं द्वेष' किसी पर घृणा करना, नफरत करना द्वेष कहलाता है।

राग और द्वेष, दोनों का नाम गिनाने का अभिप्राय यह है कि जहां द्वेष होता है वहां राग अवश्य होता है। इसी प्रकार जिस वस्तु पर राग है, उस वस्तु को हरण करने या बिगाड़ने पर द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। राग और द्वेष से बचने के लिए ही संसार की वस्तु पर से ममत्व हटाया जाता है।

(12) बारहवां पाप कलह है। मुंह से लड़ना–झगड़ना कलह कहलाता है। (13) तेरहवां पाप अभ्याख्यान है। किसी पर झूठा दोषारोपण करना, अचोर को चोर, अव्यभिचारी को व्यभिचारी कह देना आदि अभ्याख्यान कहलाता है। (14) चौदहवां पाप पिशुनता है। पिशुनता का अर्थ चुगली खाना है। आजकल चुगलखोर को मुखबिर कहते हैं, मगर उसे चुगलखोर ही समझना चाहिए। ऐसा आदमी प्रत्यक्ष में किसी से कुछ नहीं कह सकता, न कुछ बोल या समझा सकता है, लेकिन चुगली खाता है।

(15) पन्द्रहवां पाप परपरिवाद है। जिससे दूसरे को दुःख हो, इस तरह दूसरे की बुराई बोलना परपरिवाद कहलाता है। यह पाप है। मीठा खाने पर जबान भी मीठी होती है और कड़वा खाने पर जबान भी कड़वी होती है। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि जबान से किसी की बुराई करने से मेरी जबान खराब होगी और जिसकी बुराई की जाती है, उससे भी पहले बुराई करने वाला ही बुरा गिना जाएगा।

पड़ोस के मार्ग के बीचोबीच कोई टट्टी फिर गया। उस मार्ग से जो भी निकलता, वही टट्टी जाने वाले को गाली देता। लेकिन गाली देने से गंदगी क्या साफ हो गई ? गाली देने वालों को यह सोचना चाहिए कि यदि हम टट्टी नहीं साफ कर सकते तो कम से कम इस पर राख तो डाल दें। मगर राख डालने में आलस्य आता है और गाली देने में मजा आता है। लोग यह नहीं समझते कि गंदगी फैलाने वाले ने अगर मूर्खता की तो गालियां देकर हम भी क्यों मूर्ख बनें?

यहां यह भी प्रश्न उठ सकता है कि टट्टी जाने वाला बड़ा है या टट्टी उठाने वाला बड़ा है। आप से आलस्य के मारे घर से बाहर टट्टी जाने के लिए न निकला जावे और जो टट्टी साफ करे उसे आप नीच, हीन और घृणित

समझो, क्या वह उचित है? वच्चा घर में टट्टी जाता है और मां उठाती है, तो क्या मां नीच है? किसी बुराई को मिटाना तो अच्छा है, मगर बुराई के पीछे और बुराई वढ़ाना बुरा है।

(16) सोलहवां पाप रति–अरति है। अच्छे काम से नफरत करके बुरे काम में लगना रति–अरति है। पानी का स्वभाव नीचे की ओर जाना है, इसी प्रकार प्राणियों को अच्छे काम में लग कर उन्नत होना तो कठिन जान पड़ता है और नीच काम की ओर जाना जीव की आदत हो रही है। इस प्रकार अच्छे कामों से मन हटा कर बुरे कामों में लगना रति–अरति है।

(17) सत्तरहवां पाप मायामृषा है। कपट सहित झूठ को मायामृषा कहते हैं। आज की वकालत जैसे माया सहित झूठ बोलने का ही नाम है। ऊपर से जान पड़े कि सत्य है, पर भीतर से झूठ भरा हो तो समझना चाहिए क़ि यह मायामृषा है। ऐसा करने वाला लोगों को चाहे धोखा दे सके, पर ईश्वर को धोखा नहीं दिया जा सकता। ईश्वर कहता है– मैं जानता हूं कि यह झूठ है। तुमने झूठ वोल कर अपने आत्मा को डुवोया है।

(18) अठारहवां पाप मिथ्यादर्शनशल्य है। यह पाप सव पापों का राजा है। किसी में साधु के गुण तो नहीं हैं, फिर भी उसे साधु मानना, कुदेव को देव मानना और कुधर्म को धर्म मानना, यह मिथ्यादर्शनशल्य है।

कई लोग पक्ष में पड़कर, दुराग्रह के वशीभूत होकर असाधु को साधु मानने लगते हैं और साधु को असाधु समझने लगते हैं। कई साधु का भेष धारण करते हैं पर असाधु का काम करते हैं। वहुत–से लोग भेष को ही प्रिय एवं मान्य समझ कर या साधारण गृहस्थ की अपेक्षा उन्हें अच्छा जानकर मानते–पूजते हैं। लेकिन मात्र वेष किसी काम का नहीं है। अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को फटकारते हुए कहा था–

कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिझयं संजथवुहइत्ता।।
असंजए संजय मखमाणे–विणिग्घायमा गच्छई सेचिरंपि ।।1।।

सरकारी चपरास पहन कर चोरी करने वाले को जैसे अधिक दंड मिलता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर की चपरास पहन कर पाप, अर्थात् असाधुता के काम करने वाला साधारण अपराधी की अपेक्षा अधिक अपराधी है। यह मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि ऋषीश्वरों की ध्वजा है। पाप का नाश किये विना, केवल रोटी के लिए इस ध्वजा को धारण करने वाले को धिक्कार है! जो लोग हट्टे–कट्टे हैं, कमा कर खा सकते हैं, फिर भी केवल आजीविका के हेतु साधु का वेष धारण किये हुए हैं और भीख मांगते–फिरते

हैं, वे धिक्कार के पात्र हैं। कोई अन्धा हो, लूला हो, लंगड़ा हो तो दूसरी बात है, उसकी बात कुछ समझ में आ भी सकती है, लेकिन जो हट्टा–कट्टा है, साधुपन का पालन नहीं कर सकता, फिर भी भीख मांग कर खाता है, उसे कौन धिक्कार के योग्य नहीं समझेगा?

अब रही यह बात कि, चलो भाई, इन्होंने साधुपन लिया है। एक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण ठीक होगा। मान लीजिए, एक वेश्या है जो लोगों के सामने आंख मटकाती है और हावभाव दिखलाती है। वेश्या के इस कर्म से किसी को आश्चर्य नहीं होगा, क्योंकि उसने यह पेशा अख्तियार कर रक्खा है। लेकिन एक स्त्री, जिसकी गणना पतिव्रताओं में की जाती है, वेश्या की भांति हाव–भाव और कटाक्ष करने लगे तो क्या उस पतिव्रता को इसी कारण अच्छी समझोगे कि वह वेश्या से अच्छी है? वेश्या अपना नाम वेश्याओं की सूची में लिखा चुकी है, लेकिन वह अपने–आप को प्रतिव्रता प्रकट करती है। अपने को पतिव्रता प्रकट करके जो वेश्या का व्यवहार करती है, वह जगत् को छलती है, संसार को डुबाती है। यही, एक कथा के आधार पर बतलाता हूं। यह कथा जैन साहित्य में नहीं है, दूसरी जगह कहीं पढ़ी है:–

एक बार द्रौपदी नदी में स्नान करने गई थी। द्रौपदी की गणना पतिव्रता स्त्रियों में है। जैन साहित्यकार और महाभारत, दोनों में ही उसे पतिव्रता माना है। दुर्योधन उसे नग्न करना चाहता था, लेकिन द्रौपदी के सत्य के प्रभाव से वस्त्र का ढेर लग गया था। वह नग्न नहीं हुई। उसका पतिव्रत संसार में प्रसिद्ध था।

द्रौपदी स्नान करने गई थी कि इतने में ही कर्ण उस ओर से निकले। कर्ण भी तेजस्वी और वीर थे। वह छठे पाण्डव के समान था और दूसरा अर्जुन ही जान पड़ता था। कर्ण वीर का बाना धारण किये, कुलीन और शीलवान पुरुष की तरह उधर निकले। उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि कौन यहां स्नान कर रहा है? वे यों सहज ही उस ओर से निकल रहे थे। कुलीन पुरुष के सामने अगर कोई स्त्री आ जाती है, चाहे वह किसी भी अवस्था में हो, तो वे अपनी दृष्टि नीची कर लेते हैं।

द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देख कर उसकी भावना बदल गई। वह सोचने लगी– ये कैसे धीर–वीर पुरुष हैं! केवल अर्जुन ही इनके समान है। यदि ये भी कुन्ती के पेट से जन्मे होते तो छठा पति करने में भी मैं संकोच न करती। द्रौपदी के मन में ऐसा विचार आया।

द्रौपदी का यह विचार योगविद्या द्वारा कृष्ण ने जान लिया। कृष्ण ने सोचा– द्रौपदी सती कहलाती है। उसके मन में यह पाप आया, यह तो गजब हुआ! उसका यह पाप दूर करना चाहिए। ऐसा न किया तो संसार डूब जायगा। इस प्रकार विचार करके कृष्ण बिना बुलाये ही पाण्डवों के यहां पहुंचे। कृष्ण को देखकर पाण्डवों की प्रसन्नता का पार न रहा। कृष्ण का खूब स्वागत–सत्कार किया गया। पाण्डव उन्हें महल में ले जाने लगे। कृष्ण ने कहा– आज मैं महल में जाने के लिए नहीं आया हूं। मेरी इच्छा यह है कि तुम पांचों पाण्डवों और द्रौपदी के साथ वन क्रीड़ा के लिए चला जाय। वहीं भोजन आदि करें। भला कृष्ण की बात कौन टालता! पाण्डव और द्रौपदी, कृष्ण के साथ वन को रवाना हुए।

कृष्ण सबको साथ लिए किसी ऋषि के आश्रम के वन में गये। वह वन खूब फला–फूला था। जब सब लोग वन में घुसने लगे तो कृष्ण ने कहा– देखो, यह तपोवन है। इसमें से कोई फल मत तोड़ना। सब ने कृष्ण की बात स्वीकार की।

सब लोग वन के भीतर चले। भीम शरीर से कुछ भारी थे। सब लोग आगे चले गए और वह कुछ पीछे रह गये। जाते–जाते जामुन का एक पेड़ आया। उसमें पूरे पके हुए बड़े–बड़े जामुन लगे थे। फल देख कर भीम अपनी लालसा न रोक सके। भीम ने सोचा– 'हम राजा हैं। पृथ्वी पर हमारा अधिकार है। एक फल तोड़ कर खा लें तो क्या हर्ज है? अभी कोई देखता भी नहीं है।' इस प्रकार विचार करके भीम ने एक जामुन तोड़ लिया। भीम ने फल तोड़ा ही था, अभी मुंह में रख भी नहीं पाये थे कि कृष्ण भीम की ओर लौट कर इस तरह देखने लगे, मानों साक्षी ही खड़े हैं। कृष्ण ने तब भीम से कहा– 'भीम, तुमने यह क्या किया!'

भीम बहुत लज्जित हुए। लज्जा के मारे वे कांपने लगे। कृष्ण ने कहा– माना कि तुम राजा हो, तब भी तुम्हें मेरी आज्ञा का ध्यान रखना चाहिए था।

भीम बड़े शर्मिन्दा हुए। अन्त में उनसे यही कहते बना– मुझ से अपराध बन गया। क्षमा कीजिए।

कृष्ण बोले– क्षमा करने से काम नहीं चलेगा। तप की शक्ति लगा कर इस फल को जहां का तहां लगाओ।

कृष्ण की यह अदभुत आज्ञा सुन कर भीम संकट में पड़ गये। तब कृष्ण ने कहा– क्या धर्म में यह शक्ति नहीं है? या धर्म की शक्ति पर तुम्हें विश्वास नहीं है?

भीम से यह कहकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा– धर्मराज, तुम भीम द्वारा उपार्जित द्रव्य का उपभोग करते हो तो इनके पाप में भी भाग लो और प्रायश्चित्त करो।

युधिष्ठिर अजातशत्रु थे। उन्होंने कहा– वास्तव में भीम ने जो गलती की है उसे मैं भी गलती मानता हूं। इसे मिटाने के लिए आप जो कहें, वही करने के लिए मैं तैयार हूं। बस, आज्ञा दीजिए।

कृष्ण ने कहा– तुम यह कहो कि 'अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊं तो, हे फल, तू जहां का तहां जाकर लग जा।'

कृष्ण की बात मान कर युधिष्ठिर ने कहा– 'अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊं तो, हे फल, तू जहां का तहां जाकर लग जा।'

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर फल वृक्ष की ओर चढ़ने लगा। उसे बीच में ही रोक कर कृष्ण ने कहा– बस, धर्मराज ! तुम्हारी परीक्षा हो गई। अब भीम आओ, परीक्षा दो।

भीम रोने जैसे होकर कहने लगे कि मैंने तो इसे तोड़ा ही है। मैं क्या परीक्षा दूं! मेरे कहने पर यह कब चढ़ने लगा! तब कृष्ण ने कहा– यह पाप तो प्रत्यक्ष ही है। इस पाप के सिवाय और कोई पाप न किया हो तो फल को आज्ञा दो। तब भीम ने कहा– हे फल, इस पाप के सिवाय मैंने अन्य पाप न किया हो तो तू ऊपर चढ़ ! फल ऊपर चढ़ने लगा। तब कृष्ण ने उसे रोक दिया।

कृष्ण ने इसी प्रकार अर्जुन, नकुल, सहदेव की भी परीक्षा ली। जब पांचों भाइयों की परीक्षा हो चुकी, तब कृष्ण ने द्रौपदी से कहा– 'भाभी, अब तुम आओ।'

द्रौपदी सिटपिटाई। उसने सोचा– मुझ में कर्ण को पति रूप में चाहने का पाप है, न जाने इस परीक्षा का परिणाम क्या होगा? फिर उसने विचार किया– उस पाप को कौन जानता है। उसने भी सबके समान उस फल से कहा– अगर मैंने पाण्डवों के अतिरिक्त मन से किसी को भी पति रूप में न चाहा हो तो तू गति करके डाली में लग जा।

द्रौपदी के इतना कहते ही फल पृथ्वी पर आ गिरा। कृष्ण भाभी से कहने लगे– वाह! भाभी वाह! तुमने क्या किया? तुम्हारी जैसी पतिव्रता में यह पाप कैसे? तुमने तो और पति की कमाई भी खो दी।

द्रौपदी लज्जा के मारे कांप उठी। वह सोचने लगी– पृथ्वी! फट जा और तुझ में समा जाऊं! वह रोने लगी। कृष्ण ने कहा– रोने से कुछ नहीं होगा। जो पाप हो, उसे प्रकट करो। द्रौपदी रोती हुई कहने लगी– मैंनें और

कभी कोई पाप नहीं किया। लेकिन एक दिन मैं नहाने गई थी। संयोगवश कर्ण उधर आ गये। उन्हें देख कर मुझे विचार आया– अगर ये छठे पाण्डव होते तो मैं इन्हें भी अपना पति वना लेती।

इस प्रकार द्रौपदी ने बालक के समान सरल भाव से अपना पाप प्रकट कर दिया। तब कृष्ण ने कहा– अब घबराने की आवश्यकता नहीं है। सच्चे हृदय से आलोचना कर लेने पर फिर पाप नहीं रह जाता। जिस मन से पाप होता है, उस मन से वह पाप कट भी जाता है। इसलिए अब चिन्ता न करके फल को आज्ञा दो।

द्रौपदी ने अप्रतिम स्वर में कहा– अब क्या आज्ञा दूं? मेरा धर्म तो चला गया। कृष्ण बोले– धर्म सदा के लिए रूठ नहीं जाता है, वरन् गया धर्म वापस भी आ जाता है। इसलिए तुम फल को आज्ञा दो। द्रौपदी ने फल को आज्ञा देते हुए कहा– इस पाप के सिवा मैंने कोई पाप न किया हो तो, हे फल! तू चढ़ और डाल में लग जा। द्रौपदी के यह कहने पर फल डाली में लग गया।

कृष्ण ने कहा– मेरा प्रयोजन पूरा हुआ। मैं इसी पाप को निकालने आया था। अगर यह पाप रहता तो गजब हो जाता। द्रौपदी पतिव्रता कहलाती है। पतिव्रता में इतना भी पाप रहना ठीक नहीं है।

सारांश यह है कि साधु द्वारा किये जाने वाले और गृहस्थ द्वारा किये जाने वाले पाप में वहुत अन्तर है। गृहस्थ तो पैसा रखते ही हैं, पर साधु पैसा रखने लगें तो कैसा अपराध होगा! गृहस्थावस्था त्यागी, साधुवेष ग्रहण किया, फिर भी पाप न छोड़ा। यह गृहस्थ के पाप की अपेक्षा बहुत बुरा है। कहा है :–

भेख लियों जग देखन को, पर भेख की टेक सक्यो नहीं पाली।
कोइक राखत केरड़ा–केरड़ी, कोई चरावत गाय अरु छाली ।।
जान बरात में संग जो जावे, भात संगन में खात है गाली।
कहे गुरु ज्ञानी सुनो भाई साधो, वे बाबा का बाबा ने हाली के हाली।।

भला यह भी कोई साधुपन है! साधुता न पले, फिर भी साधु कहलाना साधुत्व की पवित्रता को कलंकित करना है। तिस पर यह समझना कि भेष प्यारा लगता है या साधुपन लेने के कारण हमसे तो अच्छे ही हैं, यह और भी बड़ी खरावी है।

द्रौपदी ने जरा–सा ही पाप किया था, पर कृष्ण ने उसको वहुत बड़ा माना। इसी तरह साधु हो करके भी जो पाप करे और पाप का प्रायश्चित

लेने के बदले उसे दबाने का प्रयत्न करे, तो वह असह्य होना चाहिए। अन्यथा गजब हो जायगा और धर्म मलीन हो जायगा।

किसी साधु से अगर साधुता का पालन नहीं होता और वह उसे छोड़ दे तो हम किसी के पास फरियाद करने नहीं जाते। बल्कि हम उसे पहुंचाने चले जाएंगे। कहेंगे– तुम से साधुव्रत–पालन नहीं होता, यह बात तुमने स्पष्ट कह दी, सो अच्छा किया। जब साधुपन न पले तब भेष रहने देना ठीक नहीं है।

यह तो साधुओं की बात हुई। मगर श्रावक कहला कर पाप छिपाने वाले को क्या कहा जाय? ऐसे श्रावकों को भी उलाहना दिया गया हैः–

फोकट श्रावक नाम धरावे, दिल में जरा शरम नहीं आवे।
होलियां खेले ने गालियां गावे, काला मुख वे करावे।
परनारी ने फिरे ताकता, आने जरा शरम नहीं आवे।।

श्रावकपन भी कोई साधारण बात नहीं है। श्रावक भी ईश्वर का भक्त है। उसके लिए गृहस्थी के कार्य तो क्षम्य हैं, पर घर–नारी को छोड़ पर–नारी को ताकते फिरने वाला क्या श्रावक है? ऐसे लोगों के कारण ही दूसरे हम से कहते हैं– महाराज, आपके श्रावकों में दया नहीं है। जब हम पूछते है– 'क्यों भाई, दया नहीं है यह कैसे जाना? तब उत्तर मिलता है– अमुक श्रावक ने अपनी कलम से मेरी गर्दन काट डाली।' ऐसे समय में हमें कितनी लज्जा का अनुभव होता है!

हमारे लिए तो प्रेम के साथ शास्त्र सुनने वाले सभी श्रावक हैं। जो प्रेम से शास्त्र सुने, वही श्रावक कहलाता है। आप लोग ऊपर उठो, कल्याण के पथ पर आओ, पाप का तिरस्कार करो, अगर भूतकाल में अपराध किया हो तो उसे द्रौपदी की भांति धो डालो और भविष्य में पाप से दूर रहने का संकल्प कर लो, तो हमें लज्जित न होना पड़ेगा। किसी आदमी को झूठा कहा जाय तो उसे दुःख होता है; मगर झूठ बोलने में वह दुःख का अनुभव नहीं करता, यह कितने आश्चर्य की बात है! इसी का नाम मिथ्यात्व है।

मिथ्यादर्शनशल्य अठारहवां पाप है। असाधु को साधु और साधु को असाधु समझना, मिथ्या देव और धर्म को मानना, यह सब मिथ्यात्व है। लोग मिथ्यात्व के कारण ईश्वर को भी बुराई में गूंथते हैं। पाप तो आप करते हैं, मगर नाम ईश्वर का रखते हैं और ईश्वर के नाम पर बुरे काम करते हैं। यह तो वैसी ही बात हुई कि महाराष्ट्र के ब्राह्मणों को कांदा तो खाना है, मगर कांदा नाम न रख कर उसे 'कृष्णाबाल' नाम देते हैं। कांदे में कृष्णाबालपन

क्या है, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं, मगर किसी पाप के साथ किसी महापुरुष का नाम जोड़ देने से उस पाप की गुरुता कम हो जाती है, ऐसी लोगों की धारणा है। भंग पीने वाले कहते हैं– इसका पान शिवजी ने किया था। यह शिवजी की बूंटी है। इस प्रकार सत्य को न समझने वाले लोगों ने ही ईश्वर को बदनाम करने का प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार अधर्म को धर्म समझना भी मिथ्यात्व है। जैसे इन्द्रियों के भोगोपभोग को धर्म समझना और त्याग आदि को अधर्म समझना। मिथ्यात्व का यह पाप सब पापों का राजा है। इन पापों से आत्मा भारी होकर संसार के पैंदे में चला जाता है, अर्थात् नरक–निगोद में पड़ता है।

आत्मा के भारी होने के कारण पूछने के पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! अगर इन पापों से आत्मा भारी होता है, तो हल्का कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया – आत्मा इन पापों को जैसे–जैसे त्यागेगा, वैसे ही उसी परिमाण में हलका होता जाएगा।

भगवान् ने मोक्ष का यह सरल मार्ग बतलाया है। शास्त्र में आत्मा के कल्याण की सब बातें भरी हैं। वह लोग धन्य हैं जो इन शास्त्रों में रमण करते हैं। शास्त्रों में बहुत शक्ति है।

इन प्रश्नोत्तरों में भारी का अर्थ सिर्फ कर्म वाला ही नहीं, किंतु अशुभ कर्म वाला समझना चाहिए, क्योंकि अशुभ कर्मों से ही जीव अधोगति में जाता है।

पहले भगवान् ने जीव के भारी होने के कारण बतलाये, मगर ऐसा बतलाने के साथ ही यदि उसे मिटाने की दवा न बताई जाय तो रोग बतलाना वृथा है। उससे कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार भगवान् ने जीव का रोग तो बतलाया कि जीव अठारह पापों से भारी होता है, किन्तु उसके साथ ही दवा भी बतलाना आवश्यक समझा। इसी प्रयोजन से दूसरा प्रश्न किया गया है। इसके संबंध में भगवान् ने कहा– गौतम, जीव में हलका होने की शक्ति है और हलका होना ही उसका अपना असली स्वभाव है। मगर वह हलका तभी हो सकता है जब पूर्वोक्त अठारह पापों से निवृत्त हो जाय।

पहला पाप प्राणातिपात बतलाया जा चुका है। किसी प्राणी के प्राणों का हरण करना प्राणातिपात है। मन, शरीर, श्वास आदि सभी प्राण हैं। प्रत्येक प्राणी को अपने–अपने प्राण प्रिय हैं। अतः किसी भी प्राणी के प्रिय

प्राणों का नाश करना पहला प्राणातिपात पाप है। इस पाप से निवृत्त होना प्राणातिपात–विरमण कहलाता है।

यहां प्रश्न होता है कि जीव तो जीव की ही सहायता से जीता है। फिर प्राणातिपात से निवृत्त होना किस प्रकार सम्भव है ? साथ ही कई लोगों की धारणा ऐसी है कि :–

जीवो जीवस्य जीवनम्।

अर्थात् जीव, जीव से ही जीता है। जीव, जीव का ही भोजन करता है। ऐसी अवस्था में प्राणातिपात का त्याग करना अपना प्राणातिपात करना है, अर्थात् अपने प्राणों का त्याग करना है।

लेकिन 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का अगर यही अर्थ किया जाय कि बड़े जीव, छोटे जीवों को मार खावें, शक्तिमान् अशक्त को हजम कर जाय तो फिर क्या हम किसी से छोटे या अल्पशक्ति नहीं हैं? अगर हाथी या सिंह इसी सिद्धान्त की दुहाई देकर हमें खा जाना चाहें तो क्या हम उन्हें ऐसा करने की आज्ञा दे देंगे ? क्या उस समय भी आप इस सिद्धान्त को सही मानेंगे? अगर नहीं, तो दूसरों के लिए इसे ठीक समझना और जब आप पर आ पड़े तो उसे गलत कहना क्या पक्षपात और स्वार्थ नहीं है?

'जीवो जीवस्य जीवनम्' का वास्तविक अर्थ यह है कि जीव, जीव की सहायता से ही जीता है। जीवहिंसा पर जीव का जीवन कायम नहीं है, किन्तु एक के प्रति दूसरे जीव की सहायता ही जीवन कायम रखती है। इसी लिए तो 'जीवो जीवस्य जीवनम्' कहा है, अन्यथा 'जीवो जीवस्य मृत्यु' कहा गया होता। अगर जीव की हिंसा किये बिना कोई जीव जीवित नहीं रह सकता होता तो ज्ञानी हिंसा के त्याग का उपदेश ही क्यों देते? मगर ज्ञानियों ने प्राणातिपात का विरमण व्रत बतलाया है, इसका अर्थ यही है कि 'हे जीव! तू जीवहिंसा के बिना भी जीवित रह सकता है।' यों संसार में सदा से हिंसा रही है, और इसी कारण अहिंसा के उपदेश की आवश्यकता भी हुई। मगर जब हिंसा के बिना भी जीवन रह सकता है तो हिंसा का घोर पाप करके आत्मा को भारी करने का क्या प्रयोजन है? क्यों अपने हाथों पैर पर कुठाराघात किया जाय?

यों देखा जाय तो शरीर अपराधों का घर है। शरीर के द्वारा उठते–बैठते, खाते–पीते हिंसा होती ही है, फिर भी शरीर से हिंसा की भांति अहिंसा की भी साधना हो सकती है। हाथ में थप्पड़ मारने की शक्ति है तो दूसरे की रक्षा करने की भी शक्ति है ही। शक्ति, शक्ति ही है, विशेषता उसके

उपयोग में होती है। शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना और किस प्रकार के उपयोग से आत्मा का कल्याण हो सकता है, यही बताने के लिए उपदेश दिया जाता है। अगर हाथ में थप्पड़ मारने का ही धर्म होता और रक्षा करने का धर्म न होता तो रक्षा करने का उपदेश ही न दिया जाता। यही बात सम्पूर्ण शरीर के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। शरीर में दोनों ही धर्म मौजूद हैं। इसी कारण प्राणातिपात–विरमण का उपदेश दिया जाता है। शिकारी शिकार के लिए जीव देखने के लिए अपनी आंखों का उपयोग करता है और दयावान् अपनी आंखों का उपयोग जीव बचाने में करता है। जिस मन से हिंसा होती है, उसी से अहिंसा भी हो सकती है। इस प्रकार सारे शरीर में दोनों ही धर्म विद्यमान हैं इसीलिए ज्ञानी कहते हैं – जीव, हिंसा करके भारी क्यों होता है? हिंसा का त्याग करके हलका क्यों नहीं होता?

हिंसा से निवृत्त होने का क्रम शास्त्रकारों ने बतलाया है। अतएव इस प्रकार का आग्रह करने की आवश्यकता नहीं है कि अगर हिंसा छूटे तो पूरी ही छूटे। अगर अधूरी हिंसा छूटी तो न छूटने के ही समान है। फिर उसे छोड़ने का प्रयोजन ही क्या है? ऐसा आग्रह करना इसी तरह की बात है, जैसे कोई लड़का कहे कि पढ़ना तो अच्छा है, मगर मैं पढूंगा तब, जब अध्यापक मुझे एकदम एम.ए. की पढ़ाई पढ़ावें। वर्णमाला भी न जानने वाला लड़का ऐसा आग्रह करके अगर स्कूल न जाए तो क्या परिणाम होगा? वह सदा के लिए मूर्ख रह जाएगा। इसी प्रकार जो यह आग्रह करता है कि पालूंगा तो सम्पूर्ण अहिंसा पालूंगा, अगर सम्पूर्ण न पालूंगा तो तनिक भी नहीं पालूंगा, तो समझना चाहिए कि उसका यह कथन अहिंसा से बचने का बहाना मात्र है। लड़का पढ़ाई आरम्भ करके धीरे–धीरे क्रम से ऊंची पढ़ाई भी कर सकता है, मगर ऊंची पढ़ाई का बहाना करके यदि स्कूल ही न जावे तो मूर्ख रहेगा। इसी प्रकार अगर आप पूर्ण अहिंसा का बहाना करके तनिक भी अहिंसा न पालें, तो आपका आत्मा भारी होगा।

आप ज्ञान की पाठशाला में आये हैं। आपको देखना चाहिए कि हमारे शरीर में दोनों धर्म मौजूद हैं। अगर हम धीरे–धीरे अहिंसा का पालन करते जाएंगे तो एक दिन पूर्ण अहिंसक भी बन जाएंगे। सम्पूर्ण हिंसा चौदहवें गुणस्थान में ही छूटती है। अब अगर कोई आदमी धीरे–धीरे न चढ़ते हुए, बीच की सीढ़ियां छोड़कर एकदम ऊपर चढ़ना चाहे तो वह नीचे ही रह जायगा, कभी ऊपर नहीं चढ़ सकेगा। इसलिए आपसे अगर पूर्ण हिंसा इस समय नहीं छूट सकती तो कम से कम निरपराधी को मारने की हिंसा तो त्यागनी

चाहिए। और जब अपराधी की हिंसा करना अनिवार्य हो जाय, तो उसे हिंसा समझते हुए यह भावना अवश्य रक्खो कि किसी दिन मुझे यह हिंसा भी छोड़नी ही है। इस प्रकार की भावना रखने से कभी वह दिन भी होगा जब आप सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी होकर अयोगी केवली हो सकेंगे और आपका आत्मा सिद्ध बन सकेगा।

दूसरा पाप असत्य है। मन में असत्य विचार आना भी पाप है। पूर्ण सत्य का पालन करने के लिए मन में असत्य विचार भी नहीं आने देना चाहिए। आपको यह कठिन जान पड़ेगा कि मन में कभी असत्य विचार न आवे, लेकिन आज आप न कर सकें तो कम से कम व्यावहारिक सत्य का ही पालन करो। यद्यपि सम्पूर्ण सत्य उतना कठिन नहीं है, जितना आप मान रहे हैं, मगर अभ्यास न होने के कारण ही आपको ऐसा जान पड़ता है। लेकिन ज्ञानी पुरुष आपसे यह नहीं कहते कि, आप पालो तो सम्पूर्ण सत्य ही पालो, अन्यथा लेशमात्र भी न पालो। उनका कथन यह है कि आप कम से कम व्यवहारिक सत्य का पालन करो। व्यावहारिक सत्य का पालन करते-करते कभी वह दिन भी आयेगा जब आप सम्पूर्ण सत्य के अधिकारी बन जाएंगे। आप ग्रहस्थ है। गृहस्थ होते हुए भी आप पांच तरह का असत्य तो त्याग ही सकते है। अगर आपने कन्नाली, गोवाली, भोमाली, थापणमोस और कुड़ीसाख, इन पांच तरह के झूठों का त्याग कर दिया तब भी आप श्रावक हैं और आत्मा को हलका बनाने वालों में आपकी गिनती होगी।

कन्नाली का अर्थ है– कन्या के निमित्त झूठ बोलना। इसके त्याग का अर्थ यह नहीं है कि सिर्फ कन्या के लिए ही झूठ न बोला जाय। अन्य मनुष्यों के विषय में झूठ बोलने की परवानगी है। यहां कन्या को आगे रखकर (उपलक्षण से) मनुष्य मात्र के विषय में झूठ बोलने का निषेध किया गया है। अगर मनुष्य को हानि पहुंचाने, उसको धोखा देने या उसके साथ विश्वासघात करने के लिए कोई आदमी झूठ न बोले तो क्या उसका कोई काम रुक जायगा? लोगों से झूठ नहीं छूटता है, इस कारण पारस्परिक अविश्वास बढ़ता जा रहा है और पति-पत्नी का चाबी-ताला भी अलग-अलग रहता है। अगर आप झूठ छोड़ देंगे तो दूसरा भी आपके लिए झूठ छोड़ देगा। लेकिन जब आप दूसरे के लिए झूठ नहीं त्यागेंगे,. तब दूसरा आपके लिए क्यों त्यागेगा?

आप सोचते होंगे– 'क्या मेरे असत्य के त्यागने से संसार असत्य का त्याग कर देगा? मगर आप दुनिया की चिन्ता क्यों करते हैं? आप पढ़े हैं या आपका विवाह हुआ है तो क्या संसार के सब लोग शिक्षित या विवाहित हो

गये? अगर नहीं, तो फिर आपने पढ़ाई क्यों की? शिक्षा प्राप्त क्यों की? पढ़ते समय या विवाह करते समय तो संसार का विचार नहीं आया, मगर असत्य का त्याग करते समय यह विचार कहां से फूट पड़ा? अन्यान्य कार्यों के समय ऐसा नहीं सोचना और धर्मकार्य के समय ऐसा सोचना क्या घोर दुर्बलता नहीं है? दूसरे लोग सत्य का आचरण करें, आप सत्य–आचरण करेंगे तो फिर आपके सामने असत्य आएगा ही नहीं। अगर कोई आपके प्रति असत्य का आचरण करेगा भी तो आप पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

दूसरा झूठ 'गोवाली' है। इसका अर्थ– गाय के सम्बन्ध में झूठ बोलना। इसका अर्थ यह न समझा जाय कि सिर्फ गाय के लिए ही झूठ बोलने का निषेध है, अन्य पशुओं के सम्बन्ध में झूठ बोलने का निषेध नहीं है। यहां गाय को आगे रखकर पशु–मात्र के विषय में असत्य बोलने का निषेध किया गया है। आप पर कोई मनुष्य विश्वास करता है तो आप अच्छे पशु को बुरा और बुरे को अच्छा न बतलावें। इसी प्रकार पशु हो किसी और का तथा बता देना किसी अन्य का, यह भी इसी असत्य में गर्भित है। इसका भी त्याग करना चाहिए। किसी भी मनुष्य या पशु का अहित करने के लिए झूठ नहीं बोलना चाहिए।

तीसरा असत्य 'भोगालीए' है। इसके त्याग का अर्थ है– भूमि या भूमि पर उत्पन्न होने वाली किसी वस्तु के सम्बन्ध में झूठ न बोलना। इन तीन प्रकार के असत्यों का त्याग करने से स्थूल रूप में सभी चीजों सम्बन्धी झूठ का त्याग हो जाता है। इनमें से किसी भी प्रकार के असत्य का आचरण मत करो। अगर असत्य का आचरण किया तो वह लौटकर आपके ही सामने आएगा।

चौथा झूठ 'थापणमोस' है। किसी की धरोहर को हजम कर जाना 'थापणमोस' है। यह कितना बड़ा अपराध है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसका त्याग किये बिना कोई श्रावक नहीं कहला सकता। यह एक घोर कृत्य है।

अगर आप असत्य न बोलें तो आपका कोई काम नहीं रुकता। मैं एक बार बाहर गया था। वहां मैंने दो किसानों की बातचीत सुनी। जान पड़ता था, उनमें से एक किसान का खेत सम्बन्धी कोई झगड़ा था। उसके लिए एक किसान कह रहा था– 'वह कहता था कि तू उस व्यक्ति के विरुद्ध यह गवाही दे देना कि उसने मेरा खेत आधी रात के समय हल से जोता है।' तब दूसरे किसान ने कहा– 'चाहे कुछ भी हो, मैं झूठ नहीं बोलूंगा। मैंने उसे खेत जोतते

नहीं देखा तो झूठी गवाही कैसे दे दूं? तुम उससे साफ कह देना कि मेरा नाम गवाह में न लिखावे, अन्यथा मैं स्पष्ट कह दूंगा कि मैं कुछ नहीं जानता। इसने झूठमूठ ही मेरा नाम लिखाया है।'

जब झूठ न बोलने से उस किसान का भी काम नहीं रुकता, तब आप महाजन या बड़े आदमी कहलाकर भी झूठ बोलें तो कितने आश्चर्य की बात है! क्या झूठ न बोलने से आपका कोई काम रुक जायगा? शास्त्र में सत्य को भगवान् कहा है ! ऐसी अवस्था में सत्य को धोखा देना है। इसलिए आप असत्य का त्याग करें। अगर आप से पूर्ण असत्य नहीं त्यागा जा सकता तो कम से कम श्रावक होने के कारण ऐसा स्थूल झूठ तो त्यागो, जिससे राजदंड, पंचदंड मिलता है और जिस झूठ के कारण आदमी झूठा कहलाता है, उस प्रकार के झूठ त्यागने से आपका कोई भी काम रुका नहीं रहेगा।

यह संसार सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। अगर संसार में सत्य न रहे तो संसार का अस्तित्व एक विपत्ति बन जाय। साधुओं ने साधुता अंगीकार की है, सो इसीलिए कि जीवन में लेशमात्र भी असत्य न रहे और अम्पूर्ण सत्य का प्रकाश हो। साधु ने पूर्ण सत्य के पालन की प्रतिज्ञा की है, इसलिए असत्य भाषण तो दूर रहा, साधु के हृदय में असत्य विचार भी नहीं आना चाहिए। अगर छद्मस्थ होने के कारण कभी बोलने में असावधानी हो जाय तो प्रतिक्रमण के समय, द्रौपदी की तरह सरलता से अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए। मुंहपत्ती और ओघा रखने से ही कोई साधु नहीं हो जाता, किन्तु सत्य का पालन करने वाला ही साधु है और जो सत्य का पालन न करे, वह साधु नहीं है।

यों तो संसार में खोटा भी सिक्का रहता है और सच्चा भी, मगर लेने वाला परीक्षा करके ही लेता है। इसी प्रकार संसार में सच्चे और झूठे– दोनों प्रकार के साधु होते हैं। इसी कारण साधु की परीक्षा भी बतलाई गई है। अगर सब साधु सच्चे ही सच्चे होते या झूठे ही झूठे होते, तो परीक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

तीसरे पाप का त्याग अदत्तादानविरमण है। अदत्तादान का अर्थ चोरी है। सम्पूर्ण रूप से अदत्तादान का त्याग भले ही उच्चतर अवस्था में हो सके, मगर स्थूल चोरी का त्याग तो सभी कर सकते हैं। गृहस्थ को कम से कम ऐसे अदत्तादान का त्याग तो करना ही चाहिए, जिसे सर्वसाधारण चोरी

कहते हैं और जिसके करने पर राजदंड मिलता है। गृहस्थ स्थूल अदत्त न ले और साधु सूक्ष्म अदत्त– तिनका जैसी तुच्छ चीज भी बिना दिये न ले।

चौथे पाप का त्याग ब्रह्मचर्य का पालन करने से होता है। ब्रह्मचर्य के विषय में कई लोग कहते हैं– अगर सारा संसार ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे तो थोड़े दिनों में संसार में मनुष्यों का नाम–निशान ही न रहे। उन्हें यह विचारना चाहिए कि विवाह तो लगभग सभी करते हैं, फिर विवाह करने वाले परस्त्रीगमन तो नहीं करते? उन्होंने परस्त्री–त्याग कर दिया है न? अगर विवाह करने पर इतना भी नहीं हुआ तो फिर यह चिन्ता क्यों होती है कि ब्रह्मचर्य पालने से संसार उठ जायगा? एक बार गांधीजी से भी यह प्रश्न किया गया था। उन्होंने उत्तर दिया– 'संसार न चले तो क्या हर्ज है?' वास्तव में इस प्रकार की दलीलें ब्रह्मचर्य न पालने का बहाना मात्र हैं। गृहस्थो! अगर आप पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन नहीं कर सकते तो परस्त्री–त्यागरूप स्थूल ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करो। स्थूल ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए परस्त्री का त्याग तो अनिवार्य है ही, साथ ही स्वस्त्री के विषय में भी मर्यादा करनी पड़ती है।

आज लोगों का शरीर खोखला और थोथा हो रहा है। चेहरे पर ओज नहीं, तेज नहीं दिखाई देता। शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है। मानसिक निर्बलता भी बढ़ती जाती है। इस सबका मूल कारण ब्रह्मचर्य की कमी ही है। ब्रह्मचर्य का पालन करने पर बल, बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को तो देव भी नमस्कार करते हैं। शास्त्र में कहा है –

देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति ते।।

– उत्तर अ. 16, गा. 16

इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य की महिमा अद्भुत है। पर स्थूल ब्रह्मचर्य पालने वाले अर्थात् परस्त्री–त्याग करके स्वस्त्री में संतोष करने वाले को भी देव मानते हैं। परस्त्री के त्यागी को विष अमृत बन जाता है, शूली सिंहासन हो जाता है और अग्नि शीतल बन जाती है।

वीर्य की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य का मूल्य वीर्य से ही होता है। जैसे पानी के बिना मोती का और तेज के अभाव में हीरे का मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार वीर्य के बिना मनुष्य का कोई मूल्य नहीं है। ऐसे

महामूल्यवान् वीर्य को लोग तीसों दिन नष्ट करते हैं और कभी–कभी कच्ची अवस्था में ही नष्ट कर डालते हैं। कड़ी मेहनत करने के कारण किसान तो विषय–वासना से बहुत–कुछ बच भी जाते हैं, पर ऐयाशी में पड़े रहने वाले और जिन्हें खाना, पीना और पहनना ही काम है, ऐसे निठल्ले लोग विषय–वासना के चंगुल में बुरी तरह फंस जाते हैं। ऐसे लोग ऊपर से भले ही भले दीखते हों, पर उनका तेज तो अधिक विषयभोग के कारण नष्ट हो ही जाता है। इसलिए वीर्य की रक्षा करना परमावश्यक है। जो स्त्री बुद्धिमती होगी वह अपने पति से यही कहेगी कि हम दोनों विवाह–सम्बन्ध में बंधे हैं सो पशु (चतुष्पद) बनने के लिए नहीं, वरन् चतुर्भुज होकर आत्मा को हलका करने के लिए।

पांचवां पाप परिग्रह है और उससे निवृत्त होना परिग्रहविरमण कहलाता है। परिग्रह का अर्थ संग्रहबुद्धि है। आज संसार में जो विषमता फैल रही है, उसका मुख्य कारण संग्रहबुद्धि है। रशिया में संग्रहबुद्धि के कारण ही साम्यवाद फैला था, जो आज प्रकट और अप्रकट रूप से सर्वत्र फैल रहा है। यह विषमता तब फैलती है, जब एक आदमी इतना संग्रह कर लेता है कि संगृहीत वस्तु उसके काम नहीं आती – पड़ी–पड़ी सड़ती है और उसका पड़ोसी उसके अभाव में मरता है। इस प्रकार की परिस्थिति में साम्यवाद का प्रचार बढ़ना स्वाभाविक है। उसे कोई रोक नहीं सकता। इस संग्रहबुद्धि के कारण ही संसार में मार–काट मची हुई है। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि संग्रहबुद्धि त्यागो।

आप कहेंगे कि आनन्द–कामदेव आदि के पास करोड़ों मोहरों की सम्पत्ति थी। क्या उन्हें संग्रह का दोषी कहा जाता था? अगर इतनी सम्पत्ति रखने पर भी वह संग्रहबुद्धि वाले नहीं थे, तो आजकल के लोग, जिनके पास तुलना में कम ही सम्पत्ति है, कैसे संग्रहशील कहे जा सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आपने उनके चरित को ठीक तरह समझा नहीं है। इसी से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। उनके पास जो सम्पत्ति थी, वह उनके अधिकार में थी, किन्तु उसका उपयोग उसी प्रकार से होता था, जैसे किसी सार्वजनिक संस्था के धन का उपयोग होता है। उदाहरणार्थ, खजाने का द्रव्य राजा ग्रहण कर सकता है, परन्तु उसका उपयोग प्रजा के हित में होता है। अतएव वह धन राजा का कहलाता हुआ भी असल में प्रजा का ही समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों के पास जो द्रव्य था, उसका

उपयोग सभी के हित में होता था। आनन्द के जीवन चरित में आनन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह –

आलंबणं, चक्खू, आहारे, पमाणे, मेढ़ी पमाणभूए।

था। अर्थात् आनन्द श्रावक प्रजा का आलंबन था। जैसे अंधे को लकड़ी का सहारा होता है, उसी प्रकार प्रजा को आनन्द का सहारा था। वह प्रजा के लिए आंख के समान था, अर्थात् सबका मार्ग–प्रदर्शक था। साथ ही वह गरीबों के लिए रोटी था, प्रमाण था, मेढी (वह काष्ठ, जिनके सहारे दांय में बैल घूमते हैं) था, प्रमाणभूत था।

आनन्द के पास चालीस हजार गायें थीं। अगर दस गायों पर एक आदमी काम करने वाला माना जाय तो आनन्द की गायों से चार हजार आदमियों को रोटी मिलती थी। वह इतना त्यागी और सादा था कि अपने नाम से अंकित अंगूठी और कुंडल के अतिरिक्त शरीर पर और कोई गहना नहीं पहनता था। रूई के कपड़ों के सिवा अन्य सब कपड़ों का उसने त्याग किया था। इस प्रकार आनन्द के चरित से प्रकट होता है कि उसकी सम्पत्ति कुछ और ही प्रकार की थी। उसमें ऐसी संग्रह–परायणता नहीं थी कि कोई मरे तो भले ही मरे, मगर मैं अपनी चीज न दूंगा और इस प्रकार की भावना होना ही परिग्रह है। परिग्रह महापाप है। इस पाप का त्याग करने से आत्मा तत्काल हलका होता है।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के विषय में भी समझना चाहिए। इन अठारह पापों से निवृत्त होने पर आत्मा हलका होता है। इन पापों का त्यागी ही हलुकर्मी (लघुकर्मी) कहलाता है। इन पापों का त्याग करने वाला जीव सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करता है और अक्षय सुख का धाम बन जाता है।

तूंबा स्वभाव से हलका होता है। अगर उस पर मिट्टी का लेप कर दिया जाय और फिर घास लगाकर फिर मिट्टी का लेप किया जाय। इस प्रकार मिट्टी के कई पुट देकर उसे पानी में छोड़ दिया जाय तो वह भारी होकर डूब जायगा। यद्यपि तूंबे का स्वभाव डूबने का नहीं है, किन्तु मिट्टी के संसर्ग से वह डूब जाता है। इसके बाद जब उसकी मिट्टी छूट जायगी तो उसे ऊपर आने में देर नहीं लगेगी, और न ऊपर आने के लिए किसी की सहायता की ही अपेक्षा रहेगी। इसी तरह आत्मा स्वभाव से हलका है, पर अठारह पापों के लेप से भारी होकर डूबता है। जब आत्मा पर पाप का लेप नहीं रहता, तब आत्मा को ऊर्ध्वगामी होने में देरी नहीं लगती।

गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान् के उत्तर से यह स्पष्ट है कि आत्मा स्वभाव से भारी नहीं है। अगर स्वभाव से भारी होता तो गौतम स्वामी यह प्रश्न ही न करते और तब भगवान् उत्तर क्यों देते? वास्तविक बात यह है कि जीव जिस समय पाप करता है, उसी समय वह भारी हो जाता है। उस पाप का परिणाम चाहे कभी भी आवे, लेकिन जीव में भारीपन तो उसी समय आ जाता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिये हैं, उन्हें आज के विज्ञान की दृष्टि से देखो तो वह और भी स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएंगे। कोई बात जब तक प्रत्यक्ष में स्पष्ट न हो जाय तब तक सब लोग उससे लाभ नहीं उठा सकते। मेरा प्रयत्न यही है कि सब लोग बात को समझ जाएं। ऐसा करने में शास्त्र का पाठ अधिक न हो तो कोई हानि नहीं। जब तक बात पूरी तरह समझ में न आवे, उसके कहने से लाभ ही क्या है? मेरी बात सब की समझ में आ जाय, यह आवश्यक है। इसलिए इस बात पर प्रत्यक्ष से विश्वास कराने के लिए जरा स्पष्टीकरण करता हूं।

प्रत्यक्ष देखो कि जब आदमी अपने मन में किसी तरह के अन्याय, अधर्म आदि का बुरा विचार करता है, तब आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी उसका मस्तक भारी हो जाता है। विचार का भार सब भारों से अधिक है। मनुष्य विचारों से जितना भारी होता है, उतना भारी हमाल की तरह बोझ उठाने से भी नहीं होता। विचार का बोझ न सह सकने के कारण कई लोगों की मृत्यु तक हो जाती है। यह बात इतनी साफ है कि एक बालक भी समझ सकता है। इसी प्रकार अठारह पापों से भी आत्मा भारी होता है। क्रोध होने पर आत्मा भारी हो जाता है। अभिमान, चिन्ता, शोक आदि का भाव आने पर आत्मा के ऊपर काफी भार आ पड़ता है। छोटा बालक चिन्ता का मारा रोने लगता है। इसके विरुद्ध आत्मा जब स्वस्थ, स्वच्छ और शान्त होता है– किसी को मारने, दुःख देने आदि की भावना नहीं होती, तब आत्मा में भारीपन भी नहीं होता। इसीलिए भगवान् कहते हैं– ऐ मनुष्य! तू शिला का बोझ क्या देखता है! आत्मा पर से पाप का बोझ हटा। जो आत्मा पाप के बोझ से बचा हुआ है, उस पर पहाड़ गिर पड़ने पर भी उसका कोई बिगाड़ नहीं हो सकता। अगर आपका आत्मा पाप से रहित होने के कारण हलका है तो आपका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अतएव किसी दूसरे के लिए यह न देखो कि यह हमें हल्का बना देगा या भारी कर देगा। जीव अपने ही पाप

से भारी होता है और पाप न रहने पर ही हल्का होता है। अतएव आत्मा को हल्का करने के लिए पाप का परित्याग करो।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं– भगवन्! जीव संसार को किस प्रकार प्रचुर बनाता है ? कर्मों के द्वारा संसार प्रचुर कैसे होता है, यह समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि संसार क्या है ? संसार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है –

संसरणं संसारः।

अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जन्मना और मरना तथा इस प्रकार अनेक योनियों में परिभ्रमण करना संसार कहलाता है। गौतम स्वामी पूछते हैं कि, भगवन्! जीव संसार, यानी जन्म–मरण कैसे बढ़ाता है ? जन्म–मरण की वृद्धि का क्या कारण है?

भव्य जीवों! क्या आप जन्म–मरण के चक्कर में पड़ा रहना पसंद करते हैं? अगर आपको जन्म–मरण पसंद होगा तो आपके लिए यह बात लाभ देने वाली न होगी। जिसका इरादा इस चक्कर से निकल जाने का है, वही इस व्याख्या से लाभ उठा सकता है; अन्य नहीं।

कई लोग कहते हैं– जन्म–मरण के बिना कैसे ठीक–ठाक व्यवस्था रहेगी? आजकल के लोगों की इच्छा भ्रमण करने की ज्यादा रहती है। इस कारण भ्रमण करने के साधन भी बढ़ गये हैं। प्राचीन काल में बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी ही भ्रमण करने के साधन थे। लेकिन अब रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि हो गये हैं। इस प्रकार संसार में भ्रमण करने की इच्छा रखने वालों के लिए यह प्रश्नोत्तर लाभदायक नहीं हो सकते। लेकिन जो भ्रमण का ही इरादा रखते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि आप जन्मना ही पसन्द करते हैं, मगर जन्म तो मृत्यु के पश्चात् ही होता है; तो क्या आप मरना भी पसन्द करते हैं ? जन्म और मृत्यु साथी हैं। एक पैर रख जाने पर ही दूसरा पैर उठता है। इसी प्रकार पहले मृत्यु होने पर ही बाद में जन्म होता है और जन्म होने पर ही मृत्यु होती है। अगर कोई मरना नहीं चाहता तो स्पष्ट है कि वह जन्मना भी नहीं चाहता। जो जन्म लेना चाहेगा, वह मरना भी चाहेगा। मगर आत्मा स्वतः जन्म–मरण पसन्द नहीं करता। फिर भी आज उसकी जन्मने–मरने की आदत हो गई है। इसी कारण वह संसार–भ्रमण कर रहा है। अन्यथा आत्मा अमृत है। जन्म लेना और मृत्यु के चक्कर में पड़ना उसका धर्म नहीं है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा का असली स्वभाव अगर जन्म–मरण करने का नहीं है, तो जन्म–मरण की वृद्धि क्यों होती है? इसका

उत्तर यह है कि यह सब अपने हाथ की बात है, किसी दूसरे के हाथ की बात नहीं। कई लोग समझते हैं– हम क्या करें? जब जहां ईश्वर भेज देता है, तब तहां, जाना पड़ता है। लेकिन यह बात गलत है। यह भ्रम मात्र है। आप करना और ईश्वर को दोष देना अज्ञान का परिणाम है। इस अज्ञान को मिटाने के लिए ही ज्ञानी कहते हैं कि यह बात और किसी के हाथ में नहीं है, किन्तु तेरे ही हाथ में है। अठारह पाप करने से ही जन्म–मरण होता है। जब कोई किसी को मारता है, तब वह समझता है कि मैं इसे मार रहा हूं, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि तू उसे क्या मार रहा है, अपने–आप को ही मार रहा है। तू इसे मारता है, इसी कारण तुझे बार–बार जन्मना–मरना पड़ता है। इसी प्रकार किसी दूसरे को धोखा देना अपने को ही धोखा देना है। किसी के सामने झूठ बोलना स्वयं विपदा में पड़ना है। इन सब कारणों से तुझे बार–बार जन्म–मरण की व्यथाएं भोगनी होंगी। इसी प्रकार चोरी करके जो दूसरे की इष्ट वस्तु का अपहरण करता है, उसकी प्यारी चीज का भी अपहरण होगा और उसे बार–बार जन्मना–मरना होगा। जीव की इन्हीं हरकतों से उसे भवभ्रमण करना पड़ता है। इसमें दूसरे के हाथ की कोई बात नहीं है। एक आचार्य ने कहा –

स्वयं कृतं कर्म सदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

अर्थात् इस आत्मा ने पहले जैसे कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल इस समय (उदयकाल में) भोगना पड़ता है। अगर दूसरे के लिए फल का भोगना माना जाय तो अपने किये कर्म निरर्थक हो जाएंगे।

इन्हीं आचार्य ने फिर कहा– 'परो ददातीति विमुञ्च शेमुपीम्'– हमें दूसरा कोई सुख–दुःख देता है, ऐसी बुद्धि को त्याग दो। कोई किसी को सुख–दुःख नहीं दे सकता। अपने शुभाशुभ के लिए दूसरे को उत्तरदायी मानने से कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसा करने से जन्म–मरण की बढ़ती ही होती है।

ज्ञानीजनों का कथन है कि जन्म–मरण को बढ़ाना जैसे अपने हाथ की बात है, उसी प्रकार उन्हें घटाना और अन्ततः सर्वथा नष्ट कर देना भी अपने ही हाथ की बात है। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा– प्रभो! जीव जन्म–मरण कैसे घटाता है, संसार को किस प्रकार तोड़ता है, संसार की ग्रंथि का छेदन किस प्रकार करता है? भगवान ने जो उत्तर दिया, वह यों तो बहुत

गम्भीर और विस्तृत है, मगर उसका सार यह है कि अगर जीव अठारह पापों का त्याग करे तो संसार घटेगा।

रोगी का रोग मिटाने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम यह कि वैद्य रोगी को उत्तम औषध दे और दूसरे रोग होने का कारण, उससे होने वाली हानि और दवा से होने वाला लाभ उसे समझा दे। दवा दे देना एक साधारण बात है, मगर इन सब बातों को समझाने के लिए दिमाग चाहिए। समझने वाले के लिए भी यह सब भली–भांति समझ लेना कठिन होता है। इसलिए यही कहा जाता है कि रोग था, जो वैद्य की दवाई से मिट गया। इतनी–सी बात समझ में भी जल्दी आ जाती है। इसी प्रकार आप ज्यादा न समझ सकें तो इतना ही समझ लें कि आत्मा में एक रोग है, जिसके कारण जन्म–मरण होता है। जन्म–मरण से बचने के लिए इस रोग को हटाना चाहिए।

अहिंसा, दया आदि जन्म–मरण छुड़ाने के उपाय हैं। दूसरे की दया वास्तव में अपनी ही दया है। दूसरे के प्रति सत्य बोलना अपना रोग मिटाना है। सत्य बोलने से बढ़ा हुआ संसार भी घटेगा। इस प्रकार अपना सुधार और अपना बिगाड़ अपने ही हाथ है। पाप का रोग किस प्रकार क्या करता है, यह सब समझने में दिमाग न चले, तब भी विश्वास के साथ भगवान् की बतलाई हुई दवाई का सेवन करोगे तो कल्याण ही होगा।

मतलब यह है कि अठारह पापों से संसार बढ़ता है और उनके त्याग से संसार घटता है। इस सबका थोड़े में स्पष्ट अर्थ यह है कि उद्देश्य कितना ही अच्छा हो, साधन के बिना काम नहीं होता। कोई भी इरादा, चाहे वह कितना ही ऊंचा और पवित्र क्यों न हो, तभी सफल हो सकता है, जब उसके अनुसार काम किया जाय। कल्पना कीजिए, कोई आदमी पूर्व में जाना चाहता है, मगर पश्चिम के रास्ते पर अग्रसर होता है, अपने अभीष्ट स्थान पर वह कैसे पहुंच सकता है? अकेले इरादे से कोई भी काम पूरा नहीं हो सकता। इरादे को पूरा करने के लिए काम करना अनिवार्य है। उद्देश्य के अनुसार आचरण हुए बिना काम नहीं हो सकता है। दुखी न होने और जन्म–मरण के चक्कर में न पड़ने का इरादा सबका हो सकता है, लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि इस अच्छे इरादे को पूरा करने के लिए काम भी अच्छा करो। अच्छा काम किये बिना अच्छा इरादा सफल नहीं हो सकता।

पहले गौतम स्वामी ने संसार के बढ़ाने–घटाने के विषय में प्रश्न किया था। अब वे प्रश्न करते हैं कि– भगवन्! जीव संसार को दीर्घ कैसे करता है?

पहले यह भी देख लेना चाहिए कि बढ़ाने और दीर्घ करने में क्या अन्तर है?

शास्त्र में कर्मप्रकृति के भेद बताये हैं। संसार कर्मप्रकृतियों की अपेक्षा भी बढ़ता है और काल से भी बढ़ता है। काल की अपेक्षा संसार की वृद्धि होना दीर्घ होना कहलाता है और कर्मप्रकृतियों से संसार का बढ़ना प्रचुर होना कहलाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्, यह जीव संसार में कोल्हू के आस–पास बैल की तरह चक्कर क्यों खाता है? और इस चक्कर से कैसे निकल सकता है?

अठारह पाप करने से चार अप्रशस्त बातें होती हैं और अठारह पाप त्यागने से चार प्रशस्त बातें होती हैं। भगवान् ने इन आठों प्रश्नों का निर्णय किया है।

प्रश्न किया जा सकता है कि बात तो एक ही है, फिर एक ही बात के विषय में चार प्रश्न क्यों किये गये हैं? इसका उत्तर यह है कि कपड़ा एक होने पर भी उसकी सिलाई के लिए सुई, कतरनी आदि अनेक साधन उपयोग में आते हैं। इन साधनों से ही कपड़े सिये जाने का काम होता है। इसी प्रकार संसार का बढ़ना, घटना, बुराई, भलाई आदि सबका सम्बन्ध अठारह पापों से ही है।

पापों का त्याग करने के लिए उनके नाम याद रखने की आवश्यकता है। कभी सब नाम याद न रहें तो कैसे काम चलेगा? मगर कदाचित् नाम याद न रहे तो भी एक बात याद रखने से काम चल सकता है। यह बात एक उदाहरण से समझना ठीक होगा। कल्पना कीजिए, एक गाड़ी जा रही है। जब तक वह सीधे, बेरोक जा रही है, तब तक तो कोई बात नहीं, लेकिन जहां वह अटकेगी, वहां यही समझा जायगा कि कोई रोड़ा आ गया है। इसी प्रकार आपकी जीवन–गाड़ी जब तक सीधी चलती जाय तब तक तो कोई प्रश्न ही नहीं, लेकिन जहां अटक जाय, समझलो कि यह पाप का फल है। प्रकृति के बिगड़ने और कष्ट होने पर समझो कि यह पाप का फल है।

ऐसा समझने से लाभ यह होगा कि आप होशियार हो जाएंगे। जहां गाड़ी अटक जाती है, गाड़ीवान रास्ता साफ कर देते हैं और उन्हें सहूलियत हो जाती है। अगर कोई गाड़ीवान यह सोच कर रास्ता साफ नहीं करता कि– कौन सिरपच्ची करे! दूसरा कोई साफ कर देगा तो अच्छा है। तो वह सिरपच्ची ही किया करेगा। जैसे कई – एक अज्ञान गाड़ीवान रास्ता साफ नहीं करते और केवल बैलों को मारते हैं, इसी तरह के विचार वाले कई आदमी पापों को तो काटते नहीं और कष्ट पाते हैं।

अन्य पदार्थों की गुरुता–लघुता

यहां तक जीव के हलकेपन और भारीपन का विचार किया गया लेकिन हल्केपन और भारीपन की वास्तविक स्थिति क्या है, यह जानना भी आवश्यक है। अतः गौतम स्वामी सारे संसार की गुरुता–लघुता का प्रश्न करते हैं। यह मूल बात हुई। इसी के सम्बन्ध में गौतम स्वामी पूछते हैं :–

मूल पाठ

प्रश्न – सत्तमे णं भंते! उवासंतरे किं गरुए, किं लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए?

उत्तर – गोयमा! णो गरुए, णो लहुए, णो गुरुलहुए, अगुरुयलहुए।

प्रश्न – सत्तमे णं भंत्ते! तणुवाए किं गरुए, लहुए, गुरुयलहुए, अगुरुयलहुए?

उत्तर – गोयमा! णो गरुए, णो लहुए, गुरुयलहुए, णो अगुरुयलहुए। एवं सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही, सत्तमा पुढ़वी, उवासंतराइं सव्वाइं जहा सत्तमे उवासंतरे। जहा तणुवाए, एवं गरुयलहुए, घणवाय, घणउदहि पुढवी, दीवा य, सायरा, वासा।

संस्कृत छाया

प्रश्न – सप्तमं भगवन्! अवकाशान्तरम् किं गुरुकं, किं लघुकं, गुरुलघुकम्, अगुरुलघुकम्?

उत्तर – गौतम! नो गुरुकं, नो लघुकं, नो गुरुलघुकं, अगुरुलघुकम्।

प्रश्न – सप्तमो भगवन्! तनुवातः किं गुरुकः, लघुकः, गुरुलघुकः, अगुरुलघुकः?

उत्तर – गौतम! नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुलघुकः, नो अगुरुलघुकः। एवं सप्तमो घनवातः, सप्तमो घनोदधिः, सप्तमी पृथ्वी, अवकाशान्तराणि

सर्वाणि यथा सप्तमम् अवकाशान्तरम्। यथा तनुवातः, एवं गुरुलघुको घनवातः घनोदधि, पृथ्वी, द्वीपाश्च, सागराः, वर्षाणि।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! क्या सातवां अवकाशान्तर भारी है, हलका है, भारी – हलका है, या अगुरुलघु – न भारी न हलका है?

उत्तर – गौतम! वह भारी नहीं, हलका नहीं, भारी–हलका नहीं है, किन्तु अगुरुलघु (हलकेपन और भारीपन से रहित) है।

प्रश्न – भगवन्! क्या सातवां अनुवात भारी है, हलका है, भारी हलका (गुरुलघु) है या अगुरुलघु है ?

उत्तर – गौतम! वह भारी नहीं है, हलका नहीं है, गुरुलघु (भारी हलका) है, अगुरुलघु नहीं है। इसी प्रकार सातवां घनवात, सातवां घनोदधि, सांतवीं पृथ्वी के विषय में कहना। सब अवकाशान्तर सातवें अवकाशान्तर के विषय में जैसा कहा, वैसे ही जानने चाहिए, अनुवात के विषय में जैसा कहा, उसी प्रकार सभी घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र और क्षेत्रों के विषय में भी जानना।

व्याख्यान

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया– हे प्रभो! अवकाशान्तर हलके हैं, भारी हैं, या हलके–भारी दोनों प्रकार के हैं या दोनों ही प्रकार के नहीं हैं?

चौदहराजू लोक, जिन्हें चौदह तबक या चौदह भुवन कहते हैं, वह पुरुषाकार हैं। इन चौदहराजू वाले लोक में सारा संसार या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समा गया है। लोक का विचार करते हुए शास्त्र में, नीचे की ओर सात नरक पृथ्वियां बतलाई गई हैं। उन सात नरक पृथ्वियों के बीच में, एक के बाद दूसरा, इस क्रम से सात आकाश हैं। वे आकाश ही सात अवकाशान्तर कहलाते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है– हे गौतम! अवकाशान्तर न भारी हैं, न हलके हैं, न हलके–भारी हैं, किन्तु अगुरुलघु है। उन्हें न तो हल्का कहा जा सकता है, न भारी कहा जा सकता है, न हलका–भारी, दोनों कहा जा सकता है। उनमें न हलकापन है, न भारीपन है, अतएव उन्हें अगुरुलघु कह सकते हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने तनुवात के विषय में प्रश्न किया, कि तनुवात गुरु है, लघु है, गुरुलघु है या अगुरुलघु है? तब भगवान् ने उत्तर

दिया— गौतम! तनुवात गुरुलघु (उभयरूप) हैं, अर्थात् इनमें तीसरा भंग पाया जाता है।

फिर गौतम स्वामी ने घनवात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर और वास–क्षेत्र (भरत आदि क्षेत्र) के सम्बन्ध में इसी प्रकार के प्रश्न किये। इनके उत्तर में भगवान् ने कहा— यह सब तनुवात की भांति हैं अर्थात् गुरुलघु हैं। तात्पर्य यह है कि अवकाशान्तर में चौथा भंग पाया जाता है (क्योंकि वह अमूर्त है) और शेष में सब तनुवात की तरह तीसरा भंग पाया जाता है। अर्थात् अवकाशान्तर के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे हलके हैं या भारी हैं, मगर तनुवात आदि हलके–भारी रूप दोनों अवस्था में हैं।

यहां तनुवात आदि को हलका–भारी, उभय रूप बतलाया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि एक ही वस्तु हलकी और भारी— दोनों प्रकार की कैसे कही जा सकती है? इस प्रश्न के समाधान में शास्त्र का कथन यह कि कोई भी वस्तु एकान्त हलकी या एकान्त भारी नहीं है। भारीपन और हल्कापन सदैव सापेक्ष होता है। एक वस्तु में, किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा हल्कापन होता है और तीसरी वस्तु की अपेक्षा भारीपन होता है। अतएव निश्चय में कोई वस्तु न हलकी है, न भारी है। इसी कारण तनुवात आदि को गुरुलघु यानी हलका–भारी, दोनों ही कहा है। जो वस्तु सापेक्ष है उसे सापेक्ष ही समझना और सापेक्ष ही कहना, यही स्याद्वाद है।

किसी चीज को हलकी कहने में भारी चीज की अपेक्षा रहती है। व्यवहार में तो चारों ही भंग हैं, परन्तु निश्चय में केवल दो ही भंग हैं, अर्थात् या तो पदार्थ गुरुलघु है या अगुरुलघु है। एकान्त गुरु या एकान्त लघु कोई चीज नहीं है।

व्यवहार में गुरु, लघु आदि किसे कहते है, यह भी समझने योग्य बात है। भारी वस्तु वह है जो पानी पर रखने से डूब जाती है और हलकी वह है जो ऊर्ध्वगामी हो, अर्थात् ऊपर की ओर जाए, जैसे धुआं। तिरछी जाने वाली वस्तु गुरुलघु कहलाती है, जैसे वायु और अगुरुलघु वह है जिसमें रूप ही न हो, त्रिकाल में भी जिसमें परिवर्तन न हो। चौस्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु होते हैं और अरूपी द्रव्य भी अगुरुलघु ही होते हैं; किन्तु आठस्पर्शी पुद्गल गुरुलघु होते हैं। कहा है —

णिच्छयओ सव्वगुरुं, सब्बलहुं वा न विज्जए दव्वं।
ववहारओ, उ जुज्जइ, बायरखंधेसु णण्णेसु।।
अगुरुलहू चउफासा, अरूविदव्वाय होंति नायव्वा।
सेसाओ अट्ठफासा, गुरुलहुया निच्छयणयस्स।।

अर्थात् निश्चय नय की अपेक्षा कोई भी द्रव्य एकान्त भारी या एकान्त हलका नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा बादर स्कंधों में भारीपन या हलकापन होता है, अन्य किसी स्कन्ध में नहीं।

जो द्रव्य चार स्पर्श वाले या अरूपी होते हैं, वे सब अगुरुलघु होते हैं और आठ स्पर्श वाले जितने द्रव्य हैं वे सब गुरुलघु होते हैं।

वास्तव में हलकापन, भारीपन, छोटापन, बड़ापन और अच्छापन एवं बुरापन, ये सब सापेक्ष भाव हैं, अर्थात् एक को दूसरे की अपेक्षा रहती है। जहां एक का बोध होगा वहां दूसरे का भी बोध होगा। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य के एक लड़का है। उस लड़के को वह छोटा या बड़ा नहीं कह सकता। छोटा या बड़ा तब कहा जा सकता है, जब दो या अधिक लड़के हों। जब किसी लड़के के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि 'यह बड़ा लड़का है' तो इसका अर्थ यह है कि इससे छोटा दूसरा लड़का अवश्य है। इसी प्रकार 'छोटा लड़का' ऐसा कहने से बड़े लड़के का अनुमान होता है। ठीक ऐसी ही बात हलके–भारी के सम्बन्ध में है। बड़ा या छोटा किस तरह होता है, यह बात एक दृष्टान्त से समझाई जाती है।

एक जगह कुछ लड़के खेल रहे थे। उनमें वजीर का भी एक लड़का था। उसी ओर से बादशाह निकला। उसे मालूम हुआ कि इनमें वजीर का भी लड़का है। तब बादशाह ने सोचा, हमारा वजीर बहुत होशियार है, देखना चाहिए कि उसके लड़के में भी कोई विशेषता है या नहीं? यह सोचकर बादशाह ने अपने हाथ में लकड़ी से जमीन पर एक लकीर खींच दी। फिर सब लड़कों को बुलाकर कहा– 'इस लकीर को बिना बिगाड़े या तोड़े ही छोटी कर दो।' सब लड़के अचरज में पड़ गये। कहने लगे– 'यह कैसे हो सकता है?' मगर वजीर के लड़के ने आगे बढ़कर कहा– 'अगर हुक्म दें तो मैं इसे छोटी बना सकता हूं।' बादशाह ने हुक्म दे दिया। वजीर के लड़के ने बादशाह के हाथ से उसकी छड़ी ली और एक लम्बी लकीर खींच दी। फिर बादशाह से कहा– 'लीजिए, आपकी लकीर छोटी हो गई।' बादशाह ने कहा– 'मेरी लकीर तो ज्यों की त्यों है। वह कहां छोटी हुई है?' वजीर का लड़का बोला– 'किसी तीसरे से इसका फैसला करा लीजिए कि आपकी लकीर छोटी है या नहीं?'

तात्पर्य यह है कि अभी जो वस्तु बड़ी या भारी मालूम होती है, वही वस्तु दूसरी किसी अधिक भारी या बड़ी वस्तु के मुकाबिले में छोटी या हलकी जान पड़ने लगती है। अतएव वजीर के लड़के की तरह छोटे–बड़े का विचार

करना चाहिए। सदा स्मरण रखना कि बड़प्पन या छुटपन सापेक्ष है। बड़े का बड़प्पन, छोटे के अस्तित्व पर ही निर्भर है।

यह कहा जा सकता है कि हलकापन और भारीपन, परस्पर विरोधी धर्म हैं। दोनों एक साथ, एक ही वस्तु में कैसे रह सकते हैं? जो वस्तु हलकी होगी, वह भारी नहीं होगी और जो भारी होगी, वह हलकी नहीं होगी। फिर यहां एक वस्तु में दोनों का होना क्यों कहा गया है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी वस्तु को एकान्त हलका या भारी नहीं कह सकता। बिना दूसरे की अपेक्षा ये सापेक्ष धर्म कहीं रह ही नहीं सकते। एक वस्तु में दोनों धर्मों का रहना अनुभव से सिद्ध है। जिस वस्तु में जिन धर्मों का रहना अनुभव से सिद्ध है, वहां विरोध के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती। उदाहरण के लिए, किसी आदमी को पिता कहा जायगा या पुत्र कहा जायगा? अगर आपसे यह कहा जाय कि आप अपने को पिता या पुत्र में से एक ही कुछ कहिए, दोनों मत कहिए, तो आप क्या करेंगे ? अगर आप पिता हैं, तो भी क्या किसी के पुत्र नहीं हैं? अगर आप पुत्र हैं तो क्या किसी के पिता नहीं हैं? जो अपने को एकान्ततः पुत्र कहेगा, वह अपने पुत्र का भी पुत्र हो जायगा। इसी प्रकार जो एकान्ततः पिता बनना चाहेगा वह अपने पिता का भी पिता हो जायगा ! मगर यह ठीक नहीं है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, और पुत्र की अपेक्षा पिता है। पितृपन और पुत्रपन परस्पर विरोधी मालूम होने वाले धर्म जैसे एक साथ रहते हैं, उसी प्रकार हलकापन और भारीपन भी विरोधी मालूम होते हैं, पर विरोधी नहीं हैं और एक ही साथ, एक ही वस्तु में रहते हैं। इस प्रकार के वचन ज्ञानी पुरुषों के हैं। इन पर विचार करो तो प्रतीत होगा कि ज्ञानियों ने जनता के कल्याण के लिए कैसे वचन कहे हैं।

यहां तक गुरुलघु की बात हुई। अब अगुरुलघु के सम्बन्ध में विचार करना है। जो वस्तु देखी, सुनी, चखी, छुई न जा सके, अर्थात् जो अरूपी हो, उसे अगुरुलघु कहते हैं। ऐसी वस्तुएं हैं अवश्य, मगर वे इन्द्रियगम्य नहीं हैं।

अगर कोई वस्तु देखी, सुनी या छुई नहीं जा सकती, अर्थात् इन्द्रियगम्य नहीं है तो उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि अगर ऐसी चीज की सत्ता न मानी जाय तो संसार सर्वथा जड़ हो जायगा। ऐसी वस्तु है, यह बात आप अपने अनुभव से जान सकते हैं, मगर वह इन्द्रियों से जानी नहीं जा सकती है। आत्मा में ज्ञान है, यह बात सभी जानते और मानते हैं। देखा, सुना या स्पर्श किया जा सकता है? थोड़ी देर

के लिए ज्ञान को भी जाने दीजिए। आप पढ़े–लिखे हैं, यह तो आपको मालूम है, लेकिन आपके मगज की विद्या क्या देखी जा सकती है? स्पर्श की जा सकती है? सूंघी जा सकती है? सुनी जा सकती है? चखी जा सकती है? वह विद्या हाथ से पकड़ी नहीं जा सकती। किसी भी अन्य इन्द्रिय से गम्य नहीं है। यह निर्विवाद है कि मगज में विद्या है, फिर भी वह इन्द्रियगोचर नहीं होती।

इल्म मगज में है, यह तो आप जानते हैं, पर साथ ही यह भी जानना चाहिए कि वह इल्म किसी की विद्यमानता में रह सकता है? आप किसी समय यह कहते होंगे कि अभी मेरा दिमाग ठीक नहीं है। मुझे यह बात मालूम है, पर अभी कुछ जंचता नहीं है। आप इस बात पर विचार कीजिए कि यह कहने वाला कौन है? विद्या किस की मौजूदगी रहते काम करती है? और आप जो–कुछ कहते है, वह किस की बदौलत? जिसकी मौजूदगी में दिमाग काम करता है, जिसके चलते विद्या है, और जो कहता है कि मेरा दिमाग अभी ठीक नहीं है, उस वस्तु का नाम आत्मा, ब्रह्म, चिदानन्द या रूह है।

आत्मा के अतिरिक्त और भी पदार्थ ऐसे हैं, जिनकी सत्ता तो है, मगर गुरुलघु है, जैसे आकाश। आप जब किसी ऊंचे मकान पर चढ़कर दूरी पर देखते होंगे तो आपको मालूम होता होगा कि यहां से कुछ दूरी पर आकाश और पृथ्वी का मिलान हो गया है। लेकिन क्या वास्तव में ही पृथ्वी और आकाश मिल गये हैं? अथवा यह आपका भ्रम ही है? मेरे पिताजी का जब देहान्त हुआ, तब मैं बच्चा था। मैं आकाश और पृथ्वी को मिला हुआ समझकर यह सोचता था कि मेरा पिता इसी में गया है। मुझसे इतना चला नहीं जाता। अन्यथा मैं भी वहां जाकर उसमें घुस जाता और अपने पिताजी से मिल लेता। लेकिन यह मेरा भ्रम ही था। आकाश रूपी पदार्थ नहीं है। वह अरूपी पोल है। उस पोल में उड़ते हुए पुद्गल दीखते हैं, मगर आकाश तो वस्तुतः पोल ही है।

इन्ही सब कारणों से शास्त्रकारों ने पदार्थों को दो भागों में बांटा है। प्रथम वे, जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जा सकें। वे न एकान्त भारी हैं, न एकान्त हल्के हैं, किन्तु गुरुलघु हैं। जिन चीजों को इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती, वे अविनाशी होने के साथ ही, न हलकी होती हैं और न भारी होती है। और जो चीज हलकी और भारी नहीं होती, उसमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है।

यह बात सभी को विदित है कि छोटे मामले में छोटा विचार होता है और बड़े मामले में बड़ा विचार करना पड़ता है। इसके सिवा सिद्धान्त एक–देशीय होना नहीं चाहिए। जो सिद्धान्त केवल मनुष्य का ही विचार करे वह पूर्ण सिद्धान्त नहीं है। पूर्ण सिद्धान्त वही कहला सकता है, जिसमें प्राणी मात्र का समान रूप से विचार किया गया हो। और जो सिद्धान्त ऐसे होते हैं, वही पूर्ण पुरुष के कहे हुए होते हैं। यह बात इतनी न्यायसंगत और स्पष्ट है कि जो कोई तटस्थ व्यक्ति इस पर विचार करेगा, उसे सहमत ही होना पड़ेगा।

चौदहराजू लोक में सबसे नीचे रहने वाले नरक के प्राणियों का अन्य लोग निराली रीति से वर्णन करते हैं। अतएव गौतम स्वामी भगवान् महावीर प्रभु से इस सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं : –

मूलपाठ –

प्रश्न – नेरइया णं भंते! किं गरुया, जाव अगुरुलहुया?

उत्तर – गोयमा! णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया वि, अगुरुलहुया वि।

प्रश्न – से केणट्ठेणं?

उत्तर – गोयमा! विउव्विय – तेयाइं पडुच्च णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया, णो अगरुलहुया। जीवं च कम्मं च पडुच्च णो गुरुया, णो लहुया, णो गुरुलहुया, अगुरुलहुया। से तेणट्ठेणं, एवं जाव–वेमाणिया। णवरं, णाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं। धम्मत्थिकाए, जाव जीवत्थिकाए चउत्थपएणं।

प्रश्न – पोग्गलत्थिकाए णं भंते! किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगुरुयलहुए?

उत्तर – गोयमा! णो गरुए, णो लहुए, गरुयलहुए अगुरु वि, लहुए वि।

प्रश्न – से केणट्ठेणं?

उत्तर – गोयमा! गरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च णो गरुए, णो लहुए, गरुयलहुए, णो अगुरुलहुए। अगुरुलहुयदव्वाइं पडुच्च णो गरुए; णो लहुए, णो गुरुलहुए, अगुरुलहुए। समया, कम्माणि य चउत्थपएणं।

प्रश्न – कण्हलेस्सा णं भंते! किं गरुया, जाव–अगरुयलहुया?

उत्तर – गोयमा! णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया, वि, अगुरुलहुया वि।

प्रश्न – से केणट्ठेणं?

उत्तर – गोयमा! दव्वलेस्सं पडुच्च ततियपएणं, भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपदेणं, एवं जाव सुक्कलेस्सा।

दिट्ठी–दंसण–णाण–अण्णाण–सन्नाओ चउत्थपदेणं णेयव्वाओ। हेट्ठील्ला चत्तारि सरीए णेमव्वा ततिएणं पदेणं। कम्मया चउत्थएणं पदेणं। मणजोगो, वइजोगो चउत्थएणं पदेणं, कायजोगो ततिएणं पदेणं। सागारोवओगो, अणागारोवओगो चउत्थपदेणं। सव्वदव्वा, सव्वपएसा, सव्वपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ। तीयद्धा, अणागयद्धा, सव्वद्धा चउत्थएणं पदेणं।

संस्कृत छायाः

प्रश्न – नैरयिका भगवन्! किं गुरुका यावत् अगुरुलघुकाः?

उत्तर – गौतम! नो गुरुकाः, नो लघुकाः, गुरुलघुकाअपि, अगुरुलघुकाअपि।

प्रश्न – तत् केनार्थेन?

उत्तर – गौतम! वैक्रिय–तैजसानि प्रतीत्य नो गुरुकाः, नो लघुकाः, गुरुलघुकाः, नो अगुरुलघुकाः, जीवं च कार्मणं च प्रतीत्य नो गुरुकाः, नो लघुकाः, नो गुरुलघुकाः, अगुरुलघुकाः। तत् तेनार्थेन, एवं यावद् वैमानिकाः। नवरम्– नानात्वं ज्ञातव्यं शरीरैः। धर्मास्तिकायो यावत् जीवास्तिकायः चतुर्थपदेन।

प्रश्न – पुद्गलास्तिकायो भगवन्! किं गुरुकः, लघुकः, गुरुलघुकः, अगुरुलघुकः?

उत्तर – गौतम! नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुलघुकोऽपि, अगुरुलघुकोऽपि।

प्रश्न – तत् केनार्थेन?

उत्तर – गौतम! गुरुकलघुकद्रव्याणि प्रतीत्य नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुकलघुकः, नो अगुरुलघुकः! अगुरुलघुकद्रव्याणि प्रतीत्य नो गुरुकः, नो लघुकः, नो गुरुलघुकः, अगुरुलघुकः। समयः कर्माणि च चतुर्थपदेन।

प्रश्न – कृष्णलेश्या भगवन्! किं गुरुका, यावत् अगुरुलघुका?

उत्तर – गौतम! नो गुरुका, नो लघुका, गुरुलघुका अपि, अगुरुलघुकाऽपि।

प्रश्न – तत् केनार्थेन?

उत्तर – गौतम! द्रव्यलेश्यां प्रतीत्य तृतीयपदेन, भाव लेश्यां प्रतीत्य चतुर्थपदेन, एवं यावत् शुक्ल लेश्या।

दृष्टि–दर्शन–ज्ञान–अज्ञान–संज्ञाश्चतुर्थपदेन ने तव्या, अधस्तनानि चत्वारि शरीराणि ज्ञातव्यानि तृतीयपदेन। कार्मण चतुर्थकेन पदेन। मनोयोगः, वचायोगश्चतुर्थकेन पदेन, काययोगस्तृतीयेन पदेन, साकारोपयोगः, अनाकारोपयोगश्चतुर्थपदेन, सर्वद्रव्याणि, सर्वप्रदेशाः, सर्वपर्यवाः यथा पुद्गलास्तिकायः। अतीताद्धा, अनागताद्धा, सर्वाद्धा चतुर्थेन पदेन।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! क्या नारकी जीव भारी हैं, यावत् अगुरुलघु हैं?

उत्तर – गौतम! भारी नहीं हैं, लघु नहीं हैं, गुरुलघु हैं और अगुरुलघु भी हैं।

प्रश्न – भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर – गौतम! नारकी जीव वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा गुरु नहीं हैं, लघु नहीं हैं, अगुरुलघु नहीं हैं, गुरुलघु हैं। और जीव तथा कर्म की अपेक्षा गुरु नहीं हैं, लघु नहीं हैं, गुरुलघु नहीं हैं, अगुरुलघु हैं। हे गौतम! इसलिए पूर्वोक्त कथन किया है और इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए। विशेष यह है कि शरीरों में भिन्नता है। तथा धर्मास्तिकाय यावत् जीवास्तिकाय चौथे पद से जानना, अर्थात् अगुरुलघु समझना।

प्रश्न – भगवन्! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है, लघु है, गुरुलघु है, या अगुरुलघु है?

उत्तर – गौतम! पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु भी है और अगुरुलघु भी है।

प्रश्न – भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर – गौतम! गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा गुरु नहीं है, लघु नहीं है, अगुरुलघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है। और अगुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा गुरु नहीं है, लघु नहीं है, गुरुलघु नहीं है किन्तु अगुरुलघु है। समय और कर्म चौथे पद से जानना, अर्थात् वह अगुरुलघु है।

प्रश्न – भगवन्! कृष्णलेश्या गुरु है, अथवा यावत् अगुरुलघु है?

उत्तर – गौतम! वह गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

प्रश्न – भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर – गौतम! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा तीसरे पद से जानना, अर्थात् द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से कृष्णलेश्या गुरुलघु है। भावलेश्या की अपेक्षा से

चौथे पद से जानना, अर्थात् भावलेश्या की अपेक्षा कृष्णलेश्या अगुरुलघु है। इसी प्रकार शुक्ललेश्या तक जानना।

तथा दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा को चौथे पद से अगुरुलघु जानना। पहले के चार शरीर तीसरे पद से – गुरुलघु जानना। कार्मण शरीर को चौथे पद से – अगुरुलघु जानना। मनोयोग–मन, वचनयोग–शब्द साकार उपयोग और निराकार उपयोग, ये सब चौथे पद से– अगुरुलघु जानना। तथा काययोग–शरीर को तीसरे पद से गुरुलघु समझना। सर्वद्रव्य, सर्वप्रदेश और सर्वपर्याय, पुद्गलास्तिकाय के समान जानना। अतीतकाल, अनागत (भविष्य) काल और सर्वकाल चौथे पद से अर्थात् अगुरुलघु जानना।

व्याख्यान

अठारह पापों का विचार करते हुए हलके–भारी का जो विचार किया जाता है, वह तात्त्विक दृष्टि से किया गया है और यह बतलाया गया है कि अठारह पापों से जीव भारी होता है और पापों को त्यागने से हलका होता है। उसमें वस्तु का विचार नहीं, वरन् उपाधि के सम्बन्ध में ही विचार किया गया है। असल में जीव हलका है, फिर भी उपाधि के कारण वह किस प्रकार भारी हो जाता है और उपाधि से छूटने पर किस प्रकार हलका हो सकता है, इस बात का वहां दिग्दर्शन कराया गया है। यदि जीव भारी ही रहता हो– उसकी असलियत भारीपन ही होती, तो जीव हलका हो ही नहीं सकता था। मगर उसकी असलियत भारीपन की नहीं है, हलकेपन की है। इसी कारण उपाधि से भारी हो जाने पर भी जब वह उपाधि से छूटता है, तब हल्का हो जाता है। गीता में भी कहा है :

नासतो विद्यते भावो नाभावो जायते सतः।

जो है, वह नाश नहीं हो सकता और जो नहीं है वह हो नहीं सकता। इस प्रकार जीव अगर भारी ही हो या केवल हलका ही होता, तब तो यह प्रश्न करने की आवश्यकता ही न होती। लेकिन जीव असल में न तो हल्का है, न भारी है; पर पाप से उसी प्रकार भारी हो जाता है, जिस प्रकार तूंबे की असलियत डूबने की न होने पर भी मिट्टी के लेप से भारी होकर वह डूब जाता है। उसका डूबना उपाधि के कारण ही होता है।

मतलब यह है कि पाप से भारी होने का जो वर्णन किया गया है, वह उपाधि की अपेक्षा से है। अब वस्तु की अपेक्षा से भारी–हलके का विचार किया जाता है। संसार की कौन–सी वस्तु भारी है और कौन–सी हलकी है? इस विषय में गौतम स्वामी के प्रश्नों का भगवान् उत्तर देते हैं। संसार का कोई

भी पदार्थ न एकान्त हलका है, न भारी है, किन्तु हलका-भारी (गुरुलघु) है। संसार की चीज का हलकापन और भारीपन अपेक्षा से है। इस कारण हरेक चीज किसी अपेक्षा से हलकी और किसी अपेक्षा से भारी है। साथ ही कोई-कोई चीज ऐसी भी है जो न हलकी है, न भारी है। जिस चीज को इन्द्रियां ग्रहण कर सकती हैं, वह किसी अपेक्षा से हलकी और किसी अपेक्षा से भारी है। इसके विपरीत, जिसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती, वह चीज है तो अवश्य, लेकिन अरूपी तथा अविनाशी है और वह न हलकी है, न भारी ही है।

गौतम स्वामी ने नरक के जीवों के सम्बन्ध में प्रश्न किया है- नारकी जीव कैसे हैं? भगवान् ने उत्तर दिया- हे गौतम! कोई चीज केवल हलकी या भारी तो हो ही नहीं सकती। अतएव नरक के जीव हलके और भारी, दोनों ही हैं, अर्थात् गुरुलघु हैं और साथ ही अगुरुलघु (न हलके न भारी) भी हैं।

परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में विरोध को हटाकर सम्बन्ध स्थापित कर देना- उनके विरोध को हटा देना ही स्याद्वाद का कार्य है। जिस प्रकार शरीर में प्राण हैं, उसी प्रकार जैन सिद्धान्त में स्याद्वाद है। अगर जैन सिद्धान्त से स्याद्वाद हटा दिया जाय तो उसमें क्या बचेगा? वह प्राणहीन शरीर के समान हो जायगा। अन्य दार्शनिक एकान्तवाद का आश्रय लेकर अपूर्ण वस्तु-स्वरूप प्रकट करते हैं और इसी कारण परस्पर विरोध और वैमनस्य का भाव जागता है। जैन सिद्धान्त कहता है कि समग्र वस्तु-स्वरूप का अवलोकन करो। वह अनेकान्त दृष्टि से ही सम्भव है। ऐसा करने से जटिल से जटिल प्रश्न भी सहज ही हल हो जाते हैं।

जैसे शरीर का कोई भी अंग प्राण से खाली नहीं है, उसी प्रकार कोई भी जैन सिद्धान्त अनेकान्त दृष्टि से खाली नहीं है। इसलिए भगवान् ने कहा है- नरक के जीव किसी अपेक्षा से हलके-भारी अर्थात् गुरुलघु हैं और किसी अपेक्षा से अगुरुलघु हैं अर्थात् न भारी हैं न हल्के हैं; क्योंकि नरक के जीव शरीर सहित आत्मा रूप हैं।

हम अपने-आप को देखें तो भी यही मालूम होगा कि हम शरीररूप और आत्मारूप- दोनों रूप हैं। हमारे भीतर न केवल शरीर है, न केवल आत्मा ही है, किन्तु शरीरधारी आत्मा है। इसी प्रकार नरक के जीव भी देहधारी आत्मा हैं। नारकी जीव, न केवल आत्मा का ही नाम है, न केवल कलेवर का ही। वह भी कलेवर और आत्मा, दोनों के संयोग वाले जीव हैं। इसी कारण

भगवान् कहते हैं– हे गौतम! नरक के जीव न तो हलके हैं, न भारी हैं, किन्तु हलके–भारी दोनों ही हैं और साथ ही हलके–भारी नहीं (अगुरुलघु) भी हैं।

भगवान् ने ऐसा क्यों कहा है? इसका कारण यह है कि संसार में अनेक मत–मतान्तर प्रचलित हैं। किसी ने निश्चय को पकड़कर व्यवहार को उठा दिया है और किसी ने व्यवहार को पकड़ कर निश्चय को छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ, नास्तिकों का कहना है कि यह शरीर पांच भूतों का पुतला है, जो सब भूतों के संयोग से बोलता–चलता है और जब भूत बिखर जाते हैं तब यह कुछ भी नहीं रहता। जैसे घड़ी के पुर्जे आपस में मिलकर घड़ी रूप में परिणत हो जाते हैं और घड़ी चलने लगती है। जब पुर्जे बिखर जाते हैं तब घड़ी बन्द हो जाती है। उसी तरह पांच भूतों के संयोग से बना हुआ यह पुतला, जब तक पंचभूत मिले हुए हैं, तब तक बोलता–चलता है और जब पंचभूत बिखर जाते हैं तब पुतला बोलना–चलना छोड़ देता है, यानी मर जाता है। यह गलत है कि इसमें अलग कोई आत्मा है और वह परलोक से आता या परलोक को चला जाता है।

इस प्रकार कहने वाले नास्तिक उस वस्तु को नहीं मानते, जो इन्द्रियों द्वारा देखी, सुनी, चखी, सूंघी या पकड़ी न जा सके। मतलब यह है कि नास्तिक लोग सिर्फ जड़ को मानते हैं। उनके लिए चैतन्य कोई वस्तु नहीं है।

इसके विरुद्ध ब्रह्मवादियों का कथन है कि– 'एकं ब्रह्म, द्वितीयो नास्ति।' अर्थात् जो कुछ है, ब्रह्म ही है। ब्रह्म को छोड़कर और कुछ नहीं है। अगर उनसे पूछा जाय कि यह सब दिखाई दे रहा है सो क्या है? तब उत्तर मिलता है– यह सब तो उसी तरह का ब्रह्म है, जैसे अंधकार में रस्सी का टुकड़ा सांप जान पड़ता है। इस प्रकार वह जड़ को स्वीकार न करके, केवल चैतन्य को ही स्वीकार करते हैं।

ऐसी विरोधी मान्यताएं देखकर जैन सिद्धान्त कहता है – आपस में लड़ते क्यों हो? संसार में जड़ भी है और चैतन्य भी है। न केवल जड़ है, न सिर्फ चेतन है। यह संसार जड़ और चेतन के संयोग से बना है। कोई भी स्थान जड़ और चेतन से खाली नहीं है। नरक के जीव भी जड़–चेतन रूप हैं।

नास्तिक लोग जीव को घड़ी के समान कहकर भूल करते हैं। उनके प्रति हमारा कहना यह है कि हम घड़ी या उसके खटके को चेतन नहीं कहते। यह देखो कि घड़ी को बनाने वाला और उसे चलाने वाला कौन है? घड़ी आप

ही नहीं बन गई है। उसे किसी ने बनाया है, तभी वह बनी है। घड़ी जब वन्द हो जाती है तब चेतन ही उसे चलाता है। चेतन न होता तो घड़ी बनती कैसे और उसे घड़ी कहता कौन? इस प्रकार केवल जड़ ही नहीं, किन्तु चेतन भी है। इस शरीर में पंचभूत नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता, जैसे घड़ी में पुर्जे हैं, उसी तरह शरीर में पंचभूत भी हैं, लेकिन शरीर जो–कुछ करता है वह चिदानन्द के ही प्रताप से करता है। अतएव शरीर में चिदानन्द भी अवश्य है। चिदानन्द न होता तो आंख, नाक, कान आदि कौन बनाता? एक बिगड़ी हुई आंख बनाने वाला डॉक्टर भी होशियार माना जाता है, तो फिर जिसने आंख, कान आदि बनाये उसका अस्तित्व ही न हो, यह कैसे माना जा सकता है? इसके सिवाय 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार कह कर आत्मा का निषेध करने वाला कौन है? जो आत्मा का निषेध करता है, वही आत्मा है। इतनी नजदीकी होने पर भी नास्तिक लोग आत्मा को नहीं जान पाते, यह एक आश्चर्य की बात है।

अब ब्रह्मवादियों की बात पर विचार कीजिए। ब्रह्मवादी कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और जो–कुछ दीख पड़ता है वह सब भ्रम मात्र है। जैसे अंधेरे में, रस्सी देखकर सांप का भ्रम होता है, उसी तरह यह भी सब भ्रम है। इसका उत्तर यह है कि रस्सी में सांप का भ्रम होता है। सो तो ठीक, मगर दुनिया में कहीं रस्सी और सांप, दोंनों हैं तभी उनमें भ्रम होता है। अगर सांप ही न होता तो भ्रम कैसे होता? इसी प्रकार हमें जड़ का जो भ्रम होता है, वह जड़ के हुए बिना नहीं हो सकता। यह हम भी स्वीकार करते हैं कि जड़ पदार्थ आत्मा के लिए उपाधि हो रहा है और इस उपाधि से मुक्त होने पर परमब्रह्म, परमात्मा बन जाता है। मगर जगत् में जड़ का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। अतःएव जैसे जड़ का ही अस्तित्व मानकर चेतन की सत्ता से इनकार करना ठीक नहीं है, उसी प्रकार चेतन ही मानना और जड़ की सत्ता को स्वीकार न करना भी ठीक नहीं है। दोनों का अस्तित्व अनुभव में आ रहा है, अतएव दोनों को स्वीकार करना ही उचित और सत्य है।

भगवान् कहते है– हे गौतम! संसार में न केवल देह है, न केवल आत्मा ही है। देह और आत्मा दोनों हैं। तूने नरक के जीवों के विषय में प्रश्न किया सो उसका उत्तर यह है कि नरक के जीव हलके–भारी (गुरुलघु) भी हैं हलके–भारी नहीं (अगरुलघु) भी हैं।

नरक के जीवों के तीन शरीर होते हैं–(1) तैजस, (2) कार्मण और (3) वैक्रिय। तैजस और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा नरक के जीव गुरुलघु होते हैं और कार्मण शरीर की अपेक्षा न हलके होते हैं, न भारी ही। तैजस और वैक्रिय शरीर किसी का छोटा होता है और किसी का बड़ा होता है। इस कारण एक की अपेक्षा दूसरा हलका होता है, एक की अपेक्षा दूसरा भारी होता है।

जीव के अच्छे–बुरे कामों के संस्कार जिसमें एकत्रित होते हैं, वह कार्मणशरीर कहलाता है। इसे सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर भी कहते हैं। इसमें अच्छे या बुरे कामों के संस्कार इकट्ठे होते रहते हैं। कहा जाता है कि जीव के साथ पुण्य–पाप जाता है। पुण्य और पाप वास्तव में जाता है जीव के साथ ही, मगर कार्मणशरीर के द्वारा। कार्मणशरीर में पुण्य–पाप के सब संस्कार मौजूद रहते हैं और वह शरीर परलोक में जीव के साथ जाता है। उदाहरण के लिए बड़ के वृक्ष को देखिये। बड़ का बीज दीखने में छोटा–सा दिखाई देता है, पर उसके भीतर बड़ का पूरा वृक्ष विद्यमान रहता है। अब कोई कहे कि इस बीज में बड़ का वृक्ष कहां है? दिखलाई क्यों नहीं देता? उसमें वृक्ष देखने के लिए वह उसे कितना ही तोड़े–फोड़े, फिर भी वह उसमें दिखाई नहीं पड़ेगा। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि जहां तुझे कुछ भी नजर नहीं आता, वहीं विशाल वटवृक्ष विद्यमान है, जो मिट्टी और पानी का संयोग पाकर नजर आने लगता है। जैसे फोटो छोटा होता है, पर उसका विस्तार करने पर वह बड़ा हो जाता है, उसी तरह कुदरत ने बड़ के वृक्ष का फोटो उसके बीज में उतार दिया है और इस कारण बड़ का वृक्ष नष्ट हो जाने पर भी जो बीज रह जाता है, उससे फिर वृक्ष तैयार हो जाता है। इसी तरह जीव के पुण्य–पाप का फोटो कार्मणशरीर में रह जाता है, जिन्हें परलोक में जाकर जीव भोगता है।

यहां कोई कह सकता है कि अगर पूर्वभव में किये हुए पुण्य और पाप का फल भोगना ही पड़ता है तो फिर इस जन्म में सत्कार्य करने से क्या लाभ है? मगर यह कथन विचारपूर्ण नहीं है। क्योंकि प्रथम तो जो जीव पुण्य–पाप करता, वह उनमें परिवर्तन भी कर सकता है। जैसे खट्टे आम का वृक्ष, मीठे आम का वृक्ष बनाया जा सकता है, उसी प्रकार पुण्य को पाप में परिणत किया जा सकता है। जैसे कच्चा आम खट्टा होता है, और पकने पर वही मीठा हो जाता है और सड़ जाने पर खराब हो जाता है, उसी प्रकार पाप को पुण्य में भी परिणत किया जा सकता है और पुण्य को पाप रूप में पलटा

जा सकता है। कार्मण शरीर में पुण्य–पाप का संस्कार अवश्य पड़ता है, फिर भी जो पाप किया है उसमें पुण्यरूप परिणत होने की योग्यता मौजूद है। यही बात पुण्य के विषय में है। इसलिए घबराने की आवश्यकता नहीं है। परदेशी राजा ने ऐसे कर्म किये थे कि उसे बहुत काल तक नरक भोगना पड़ता, मगर केशी श्रमण की कृपा से उसके पापकर्म मिट गये और उसे स्वर्ग मिला। गीता में कहा हैः–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।

गीता, अ. 9–श्लो. 30

अर्थात् कोई बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे (परमात्मा को) अनन्यभाव से भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए; क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा है।

साधु होने पर भी निश्चिन्त नहीं होना चाहिए। साधु होने मात्र से ही कोई पापों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता। मनुष्य अनादिकाल के संस्कारों के कारण साधु होकर भी गिर जाता है। भगवती सूत्र में कहा है कि चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के धनी भी जब गिरे तब सातवें नरक में गये। इस संबंध में कुंडरीक, पुंडरीक के उदाहरण मौजूद हैं। कुंडरीक ने हजार वर्षो तक तप किया था, फिर भी वह गिर गया और राज्य करने चला गया। वह सिर्फ तीन दिन तक राज्य कर सका। इन तीनों दिनों में ही सारे पुण्य का क्षय करके नरक गया। इस प्रकार साधु होने पर भ्रष्ट हो जाने की संभावना रहती है। अतएव साधुओं को निश्चिन्त न होकर सदा सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न होता है– क्या पुण्य को पाप रूप में और पाप को पुण्य रूप में परिवर्तित करना अपने हाथ की बात है? इसका उत्तर है– हां, यह अपने हाथ की बात है। अगर हम स्वयं अपने पुण्य–पाप परिवर्तन न करें तो साक्षात् ईश्वर भी हमारे लिए कुछ नहीं कर सकता। रावण को राम मिल गये थे और गोशालक को भगवान् महावीर का संयोग प्राप्त हो गया था। फिर भी वे सुधरे नहीं। वास्तव में जीव अगर सुधरता है, तो अपने ही कर्तव्य से और बिगड़ता है तो भी अपने ही कर्तव्य से। दूसरा, दूसरे को कुछ बना–बिगाड़ नहीं सकता।

जीव सुधरता है अपने कर्तव्य से, तथापि उसके सुधार में सहायक निमित्त की आवश्यकता होती है। इसलिए परमात्मा की प्रार्थना, स्तुति, गुरु की विनय–भक्ति आदि की आवश्यकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है

कि आपके कुछ किये बिना ही ईश्वर आपके लिए कुछ करता है। उदाहरण के लिए आप स्वयं पढ़ते–लिखते हैं, मगर प्रकाश की सहायता जरूरी होती है। आपके पढ़ने–लिखने में प्रकाश भी निमित्त रूप से सहायक होता है। इसी प्रकार कर्म तो आप करेंगे, मगर निमित्त रूप में परमात्मा की सहायता भी आवश्यक है।

इस सब कथन का सार यह है कि देह और आत्मा, दोनों अलग–अलग तत्त्व हैं। अगर आप इस सत्य को समझ गये हों तो विचार कीजिए कि आप इस देह के लिए ही कर्ता रहोगे या आत्मा के लिए भी कर्ता बनोगे? केवल गहनों–कपड़ों आदि में ही उलझे रहोगे या आत्मा के कल्याण के काम के विषय में भी विचार करोगे? आपको आत्मा की भी कुछ फिक्र करनी चाहिए। आप कह सकते हैं कि हमें अगर आत्मा की चिन्ता न होती तो यहां आते ही क्यों? मगर केवल यहां आने से ही कुछ न होगा। पाप को मिटाने से ही आत्मा का कल्याण होगा। यहां आने पर भी क्या बुरा विचार नहीं आ सकता? यहां आ करके भी अगर आपके अन्तःकरण में अपूर्व आध्यात्मिक विचारों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने देह और आत्मा का भिन्न–भिन्न तत्त्व प्रकट करते हुए कहा कि नारकी जीव शरीर की अपेक्षा हलके–भारी होते हैं, अर्थात् उनमें गुरुलघु पर्याय है और आत्मा की अपेक्षा हल्के–भारी नहीं, हैं अर्थात् अगुरुलघु पर्याय है।

इसके आगे गौतम स्वामी ने चौबीसों दण्डकों के जीवों के संबंध में यही प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर में फरमाया– हे गौतम! नरक के जीवों की तरह सभी जीवों के संबंध में यही बात समझ लेनी चाहिए, अर्थात् सभी जीव गुरुलघु और अगुरुलघु रूप हैं।

कुछ मनुष्यों की दो आंखें देखकर जाना जा सकता है कि सब मनुष्यों के दो ही आंखें होती है। एक मनुष्य को देखकर अनेक मनुष्यों के विषय में यह जाना जा सकता है कि सब मनुष्य इसी प्रकार के हैं। भगवान् ने नरक के जीवों के विषय में हलके भारीपन का विचार करके दूसरे जीवों के विषय में 'अतिदेश' किया है। एक के विषय में कहकर अनेक का बोध करना ही अतिदेश कहलाता है। जैसे– एक रुपया दिखला कर यह कहना कि सब रुपये ऐसे होते है, या जैसा यह है वैसे ही अन्य रुपये होते है, यह अतिदेश वाक्य कहलाता है। भगवान् ने नरक के जीवों का वर्णन करके शेष सब जीवों के विषय में यही बात कही है। यों तो कहां नरक के जीव और

कहां वैमानिक एवं ज्योतिष्क देव! परन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा भेदभाव नहीं रखते। ज्ञानी मूल तत्त्व का विचार करते हैं और मूल तत्त्व का विचार करने पर ऐसी भिन्नता नहीं रह जाती, सभी जीव समान प्रतीत होते हैं। इसी कारण भगवान् ने नरक के जीवों का एक, स्थावर जीवों के पांच, दो–इन्द्रिय का एक, ते–इन्द्रिय का एक, चौ–इन्द्रिय का एक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक, मनुष्य का एक, भवनवासियों के दस, वाणव्यन्तर का एक, ज्योतिषी देवों का एक, और वैमानिक देवों का एक– इस प्रकार चौबीसों दण्डकों के जीवों के विषय में एक समान बात कही है। वह यह कि सभी जीव देह की अपेक्षा गुरुलघु और कार्मणशरीर एवं आत्मा की अपेक्षा अगुरुलघु हैं।

जिस प्रकार नरक के जीव न केवल शरीर की अपेक्षा कहे जाते हैं न केवल जीव की अपेक्षा ही, किन्तु शरीर और जीव, दोनों की अपेक्षा से उनका वर्णन किया गया है। उसी प्रकार विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और भवनवासी, वाण–व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक आदि जीवों का भी शरीर और आत्मा की अपेक्षा से वर्णन किया जाता है। जो जीव शरीररहित हैं, और वे परमब्रह्म रूप हैं और उनकी बात निराली ही है, वे न हलके हैं, न भारी हैं। वे अगुरुलघु पर्याय से युक्त हैं।

परम्परागत धारणा से एक भेद और भी है। नारकी आदि जीवों के तैजस, वैक्रिय और कार्मण– ये तीन शरीर हैं, किन्तु स्थावर जीव के वैक्रिय शरीर नहीं होता, वरन् औदारिक शरीर होता है। हां, स्थावरों में भी वायुकाय के जीवों के चार शरीर होते हैं, अर्थात् उनमें एक वैक्रिय शरीर अन्य स्थावरों की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार वायुकायिक जीवों के औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण– चार शरीर होते हैं और विकलेन्द्रिय के औदारिक, तैजस तथा कार्मण– ये तीन ही शरीर होते हैं। विकलेन्द्रिय के वैक्रिय शरीर नहीं होता। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर होते हैं (वैक्रिय शरीर किसी–किसी को प्राप्त हो सकता है– सबको सदा प्राप्त नहीं रहता)। पंचेन्द्रिय मनुष्य के तीन शरीर तो होते ही हैं, वैक्रिय और आहारक शरीर भी हो सकते हैं। मनुष्यों को आहारक शरीर भी प्राप्त हो सकता है और लब्धि के निमित्त से वैक्रिय शरीर भी हो सकता है। देवों में नारकी जीवों के समान वैक्रिय, तैजस और कार्मण– ये तीन शरीर होते हैं। इस प्रकार शरीरों में विभिन्नता होने पर भी गुरु–लघु के प्रश्न में सब जीव दो ही विभागों में समा जाते हैं। केवल हलकी या केवल भारी तो कोई चीज है ही नहीं और कार्मण शरीर को छोड़कर शेष चार शरीरों की अपेक्षा चौबीस

दण्डकों के सभी जीव गुरुलघु हैं और जीव तथा कार्मण शरीर को अपेक्षा सभी जीव अगुरुलघु हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते है–भगवन्! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय, यह चार द्रव्य हल्के हैं या भारी हैं, या हल्के भारी है या हल्के भी नहीं और भारी भी नहीं हैं?

संसार में धर्मास्तिकाय नामक एक पदार्थ है, जो चलने में सहायता देता है। अर्थात् गति सहायक द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहते हैं। गौतम स्वामी ने उसके विषय में प्रश्न किया। साथ ही स्थिति–सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय के विषय में अवगाहना के कारणभूत आकाशास्तिकाय के विषय में और जीवास्तिकाय के विषय में भी पूछा कि ये चारों पदार्थ गुरु हैं, लघु हैं, गुरुलघु हैं या अगुरुलघु हैं?

गौतम स्वामी में प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते है– हे गौतम! उक्त चारों पदार्थ न गुरु हैं, न लघु हैं और न गुरुलघु हैं, बल्कि अगुरुलघु हैं। ये चारों पदार्थ अरूपी हैं, इनमें गुरुता–लघुता नहीं है। जीव दृश्य भी यद्यपि स्वरूपतः अरूपी है, किन्तु शरीर सहित जीव रूपी है और इसी कारण उसे गुरुलघु कहा गया है। सिद्ध जीव, जिनके शरीर नहीं है, अरूपी होने के कारण अगुरुलघु ही हैं।

फिर गौतम स्वामी ने प्रश्न किया– प्रभो! पुद्गलास्तिकाय गुरु है, लघु है, गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है? भगवान ने उत्तर दिया– गौतम! पुद्गलास्तिकाय गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है। स्थूल पुद्गल गुरुलघु है और सूक्ष्म पुद्गल अगुरुलघु रूप है।

पदार्थ अपने प्रतिपक्षी की अपेक्षा रखता है। अगर सूक्ष्म पदार्थ न हो तो स्थूल के व्यवहार का लोप हो जाता है। स्थूल पदार्थ गुरुलघु ही होता है। किसी को एकान्त गुरु या एकान्त लघु नहीं कहा जा सकता; और चौस्पर्शी पुद्गलों को गुरुलघु भी नहीं कहा जा सकता। अतएव स्थूल पुद्गल गुरुलघु है और सूक्ष्म पुद्गल अगुरुलघु हैं।

अब गौतम स्वामी काल के विषय में प्रश्न करते हैं– भगवन्! काल गुरु है, लघु है, या अगुरुलघु है?

काल का सूक्ष्मतम भाग 'समय' कहलाता है। 'समय' से लेकर उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि तक का दीर्घकाल गुरु है, लघु है, गुरुलघु है या अगुरुलघु है? यही गौतम स्वामी का प्रश्न है।

दुनिया में काल के सिर पर दोष मढ़ देने की प्रथा प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। लोग स्वयं बुराई करते हैं, मगर कहते हैं– क्या किया जाय भाई! काल ही ऐसा निकृष्ट आ गया है कि न पूछो बात! मगर ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि काल में ऐसी वस्तु नहीं है, जो स्वयं ही अच्छा–बुरा कर सके। वह तो द्रव्यों के परिणमन में सहायक मात्र है। रात बीती और दिन हुआ। दिन आप से कोई काम करने के लिए नहीं कहता। फिर भी जो काम दिन में होने वाले हैं, वे दिन में ही होंगे, लेकिन उन्हें करने वाले आप ही हैं– दिन नहीं। दिन तो आपके कार्य करने में सहायक मात्र है। इसी प्रकार कालद्रव्य सिर्फ सहकारी है। जैसा काम आप करते हैं, वैसे ही काल कहलाने लगता है। जब लोग अच्छे काम करते हैं तब काल अच्छा कहलाता है और जब निकृष्ट काम करते हैं तब निकृष्ट काल कहा जाता है। इस प्रकार काल की अच्छाई–बुराई का व्यवहार आपके कामों पर है, आपके कार्यों का अच्छापन या बुरापन काल पर निर्भर नहीं है। आप जैसे काम करेंगे, वैसे ही काम होंगे। जिस काल में एक मनुष्य सामायिक करता है, उसी काल में दूसरा घर के काम–काज करता है और उसी काल में तीसरा घोर पाप करता है। काल तो शरीर के समान है, जिसे भिन्न–भिन्न प्रदेश के कपड़े पहनाये जा सकते हैं, मगर शरीर तो वही एक रहता है। आप अच्छे काम करके काल को अच्छा कह सकते हैं और बुरे काम करके बुरा कह सकते हैं। मगर काल तो वही है, उसमें क्या अन्तर पड़ता है?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया– गौतम! काल न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है, किन्तु अगुरुलघु है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी ने कर्म के विषय में प्रश्न किया– प्रभो, कर्म गुरु है, लघु है, गुरुलघु है या अगुरुलघु है? भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! अगर कर्म गुरुलघु होते तो शरीर के छूटने पर वे भी छूट जाते, मगर कर्म तो परलोक में भी साथ जाते हैं। अतः वह न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है, वरन् अगुरुलघु हैं।

यह संसार कर्म की बदौलत ही है, फिर भी इसी सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया– भगवन्! समस्त संसारी जीवों के कर्म एकत्रित किये जाएं तो क्या वे एक चने के बराबर होंगे? भगवान् ने उत्तर दिया– नहीं, एक चने के बराबर भी नहीं होंगे। जिन कर्मों से सारे ब्रह्माण्ड की रचना है, वे एक चने के बराबर भी नहीं हैं, इतने अधिक सूक्ष्म हैं! फिर भी वे स्थूल का

आकर्षण करते हैं। कर्मों की इस सूक्ष्मता के कारण ही उनमें गुरुता, लघुता अथवा गुरुता–लघुता नहीं पाई जाती। कर्म वस्तुतः अगुरुलघु हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने लेश्या के विषय में प्रश्न किया है। लेश्याएं छह हैं। योग और कषाय के निमित्त से आत्मा में जो अध्यवसाय उत्पन्न होता है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या के मूल भेद दो हैं– द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। गौतम स्वामी का प्रश्न है– भगवन्! लेश्या भारी होती है, हलकी–भारी होती है या न हलकी और न भारी होती है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा– हे गौतम! द्रव्य की अपेक्षा लेश्या हलकी–भारी (गुरुलघु) होती है और भाव की अपेक्षा अगुरुलघु होती है।

स्वर्ग और नरक लेश्या के निमित्त से ही मिलता है, फिर भी लेश्या (भावलेश्या) न गुरु है, न लघु है। द्रव्यलेश्या अलबत्ता गुरुलघु है। जिसकी जैसी लेश्या होती है उसे वैसी ही गति मिलती है। गीता में कहा गया हैः–

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यज्जन्ते कलेवरं।
तं तमेवेति कौन्तेय! सदा सद्माव भावितः।।

अर्थात् जो प्राणी जैसे–जैसे भावों का स्मरण करता है और मरने के समय जैसे भाव रखता है– जैसे भाव रखकर शरीर छोड़ता है, वह वैसे ही भावों में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि जीव की गति अपने ही भावों के अनुसार होती है। हाँ, अच्छे या बुरे भाव रखना जीव के अधिकार की बात है।

भावलेश्या – जो जीव के भाव–रूप ही है– न भारी है, न हलकी है। यही भावलेश्या जीव की अच्छी–बुरी गति का कारण है।

लोग कहते हैं, अमुक आदमी तलवार से मारा गया, मगर गंभीरता से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि तलवार से कोई नहीं मर सकता। जो मरता है वह अपने हृदय के भावों से ही मरता है। जब तक परिणामों में विकार उत्पन्न न हो, तलवार कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। चाहे कोई कितना ही बड़ा दुश्मन हो, पर यदि अपने भाव अच्छे हैं, तो वह कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। हे भव्य! तुझसे कोई बैर रखे तो रखने दे, तू अपने हृदय के परिणाम मत बिगाड़। तू अपने परिणाम को बैरी मत बना। फिर तेरी कोई हानि न होगी।

इसके आगे गौतम स्वामी ने तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार संज्ञाओं के विषय में प्रश्न किया है। ये सब भाव गुरु हैं, लघु

हैं, गुरुलघु हैं या अगुरुलघु हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया– यह सब अगुरुलघु हैं। तत्पश्चात् शरीर के सम्बन्ध में किये हुए प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया– कार्मण शरीर के अतिरिक्त चार शरीर गुरुलघु हैं और कार्मण अगुरुलघु हैं।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने द्रव्य, प्रदेश और पर्याय के विषय में प्रश्न किया। उसके उत्तर में भगवान् ने कहा– इन सबको पुद्गलास्तिकाय की भांति समझना चाहिए।

गौतम स्वामी ने भूत, भविष्य और वर्तमान काल के सम्बन्ध में भी प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर दिया– इन्हें अगुरुलघु नामक चौथे पद में समझना चाहिए।

इन समस्त प्रश्नोत्तरों को संक्षेप में कहा जा सकता है कि अमूर्तिक पदार्थ तथा सूक्ष्म चौस्पर्शी पुद्गल गुरुलघु नहीं हैं– अगुरुलघु हैं और इसके सिवाय शेष समस्त पदार्थ गुरुलघु हैं। अर्थात् अमूर्त और सूक्ष्म चौस्पर्शी पुद्गलों में चौथा भंग पाया जाता है और शेष में तीसरा। पहला और दूसरा भंग शून्य है, अर्थात् ये दोनों भंग किसी भी पदार्थ में नहीं पाये जाते।

यह सब कथन द्रव्यों के सम्बन्ध में है। प्रदेशों और पर्यायों के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि जिस द्रव्य में भंग पहले बतलाया गया है, उसके प्रदेशों में और पर्यायों में भी वही भंग पाया जाता है।

निर्ग्रन्थ

मूल पाठ

प्रश्न – सेणूणं भंते! लाघवियं, अप्पिछा, अमुच्वा, अगेही, अप्पडिबद्धया समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं?

उत्तर – हंता गोयमा! लाघवियं जाव पसत्थं।

प्रश्न – से णूणं भंते! अकोहत्तं, अमाणत्तं, अमायत्तं, अलोभत्तं समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं?

उत्तर – हंता, गोयमा! अकोहत्तं, अमाणत्तं, जाव पसत्थं।

प्रश्न – से णूणं भंते! कंखपदोसे णं रवीणे समणे णिग्गंथे अंतकरे भवति? अंतिमसरीरिए वा? बहु मोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता, अह पच्छा संबुडे कालं करेइ, ततो पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, जाव–अंतं करेइ?

उत्तर – हंता, गोयमा! कंखपदोसे रवीणे जाव अंतं करेइ।

संस्कृत छाया

प्रश्न – तद् नूनं भगवन्! लाघविकम्, अल्पेच्छा, अमूर्छा, अगृद्धिः, अप्रतिबद्धता श्रमणानां, निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम्?

उत्तर – हन्त, गौतम! लाघविकं यावत् प्रशस्तम्।

प्रश्न – तद् नूनं भगवन्! अक्रोधत्वम्, अमानत्वम्, अमायत्वम्, अलोभत्वम्, श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम्?

उत्तर – हन्त, गौतम! अक्रोधत्वम्, अमानत्वं यावत् प्रशस्तम्।

प्रश्न – तद् नूनं भगवन्! काङ्क्षाप्रदोषे क्षीणे श्रमणो निर्ग्रन्थः अन्तकरो भवति? अन्तिमशरीरिको वा? बहुमोहश्चापि पूर्व विहृत्य, अथ पश्चात् संस्कृतः कालं करोति, ततः पश्चात् सिद्ध्यति, बुध्यते, मुच्यते, यावद् अन्तं करोति?

उत्तर – हन्त, गौतम! काङ्क्षाप्रदोषे क्षीणे यावद् अन्तं करोति।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! लाघव, अल्प–इच्छा, अमूर्छा, अनासक्ति और अप्रतिबद्धता क्या श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त है?

उत्तर – गौतम! हाँ लाघव यावत् अप्रतिबद्धता प्रशस्त है।

प्रश्न – भगवन्! क्रोधरहितता, मानरहितता, मायारहितता, निर्लोभता, ये सब श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं?

उत्तर – गौतम! हाँ, क्रोधरहितता मानरहितता यावत् यह सब श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं।

प्रश्न – भगवन्! कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तकर और अन्तिम शरीर वाला होता है? अथवा पहले की अवस्था में बहुत मोह वाला होकर विहार करे और फिर संवर वाला होकर काल करे तो सिद्ध हो, बुद्ध हो, मुक्त हो यावत् सब दुःखों का अन्त करे?

उत्तर – गौतम! हां, कांक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दुःखों का नाश करता है।

व्याख्यान

पहले विभिन्न वस्तुओं के विषय में लघुता और गुरुता आदि का विचार किया गया है। यहां आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। शास्त्र के सब विचार आत्मोन्नति के लिए हैं। यों तो आत्मोन्नति का ठेका किसी ने नहीं ले रखा है, जो चाहे अपने आत्मा के कल्याण के लिए उद्यम कर सकता है, लेकिन श्रमण निर्ग्रन्थ तो आत्मोन्नति के लिए ही गृह–संसार छोड़कर, कमर कसकर तैयार हुए हैं। अतएव श्रमण निर्ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य आत्मोन्नति ही है। आत्मोन्नति के सम्बन्ध में उन्हें खास तौर पर विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। उन्हें विचारते रहना चाहिए कि मैं क्यों मुनि हुआ हूं? उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मैं मान–सम्मान या सांसारिक वासनाओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से मुनि नहीं हुआ हूं। मुनि होने का ध्येय समस्त वासनाओं को जीत लेना है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर में यहां इसी विषय के प्रश्नोत्तर साधारण नहीं हो सकते। बड़े आदमी की बात बड़ी ही होती है। अतएव हमें इन प्रश्नोत्तरों की महत्ता को समझना चाहिए। बाल जीवों के लिए तो इनमें बहुत विशेषता है।

गौतम स्वामी ने श्रमण निर्ग्रन्थ को लक्ष्य करके यह प्रश्न किये हैं। अतएव पहले यह देख लेना उचित होगा कि श्रमण निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं?

और 'श्रमण', 'निर्ग्रन्थ' –इन दो शब्दों का साथ–साथ प्रयोग करने का प्रयोजन क्या है ?

व्यवहार में प्रायः दो नाम साथ देखे जाते है– व्यक्ति का नाम और साथ में गोत्र का नाम। एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, अतएव विशेष पहिचान के लिए नाम के साथ गोत्र का प्रयोग किया जाता है। इसीलिए दस्तावेज आदि में भी दो नामों का व्यवहार किया जाता है। इसी विशेष पहिचान के लिए यहां शब्द का संकोच न करके दो नाम दिये गये हैं– श्रमण और निर्ग्रन्थ। इन दो शब्दों के प्रयोग से साधारण लोग यथार्थता को समझ सकते हैं और पण्डित लोग अधिक रहस्य निकाल सकते हैं।

साधारणतया 'श्रमण' का अर्थ साधु है। 'श्रमण' शब्द श्रम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है– (तप में) श्रम करना। लेकिन केवल धात्वर्थ से साधु का बोध नहीं होता, क्योंकि तप में गृहस्थ भी श्रम करते हैं। अतएव साधु का ही बोध कराने के लिए 'श्रमण' शब्द के साथ 'निर्ग्रन्थ' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। गृहस्थ तप में श्रम भले ही करे, मगर उसने ग्रन्थ नहीं छोड़ा है। किसी भी वस्तु पर ममता होने को ग्रन्थ कहते हैं। गृहस्थ इस ग्रंथ से नहीं छूटा है और साधु उसे छोड़ चुके हैं। अतएव श्रमण निर्ग्रन्थ का अर्थ साधु समझना चाहिए।

साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नहीं रखते। संयम की साधना के लिए उपयोगी और अनिवार्य जो उपकरण रखते भी हैं, उन पर उनकी ममता नहीं होती। ममता न होने के कारण वे परिग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। इसीलिए उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं।

निर्ग्रन्थ हो जाने पर भी तप में श्रम किये बिना काम नहीं चल सकता। निर्ग्रन्थ होने के साथ ही तप में भी श्रम करना चाहिए। जो ग्रन्थ का त्याग करें और तप में श्रम भी करें, वे ही श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। श्रमण निर्ग्रन्थ के विषय में प्रश्न करके गौतम स्वामी यह प्रकट करते हैं कि कोई व्यक्ति व्यवहार में श्रमण निर्ग्रन्थ हो गया है, फिर भी निश्चय में आत्मा का कल्याण करने के लिए क्या–क्या करना चाहिए।

गौतम स्वामी पूछते है– भगवान्! श्रमण निर्ग्रन्थ ने जिस उद्देश्य से साधुता अंगीकार की है और घर–द्वार छोड़ा है, वह उद्देश्य इन पांच बातों से पूर्ण हो जाता है? वे पांच बातें ये हैं– लाघव, अल्पेच्छा, अमूर्छा, अगृद्धि और अप्रतिबद्धता। क्या इन पांच बातों में साधुता की सफलता है?

भगवान् ने उत्तर दिया– हां गौतम! इन पांच बातों में साधुता की सफलता है।

ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि ये पांच बातें साधारण'–सी हैं। एक बच्चा भी समझ सकता है कि ये पांच बातें अच्छी हैं। फिर किस प्रयोजन से गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछकर इन्हें सिद्ध किया है ? जिस भली बात को सब समझ सकते हैं, उसे भली ही कहा जायगा और भगवान् एवं गौतम स्वामी की बात ऐसी न होगी, जिसे संसार के लोग न जानते हों या न समझ सकते हों। उन महापुरुषों की बात इतनी सरल है कि उसे जग जानता है। लेकिन जिस बात को जगत् जानता हुआ भी भूल रहा है, वही बात महापुरुष बतलाते हैं। उसी को बतलाने के लिए ही यह प्रश्नोत्तर है।

जिसने भगवान के नाम पर संयम लिया है, उसे भगवान समझाते हैं कि तुमने मेरे नाम पर संयम तो लिया है, मगर यह समझ लेना कि मेरे संयम का आधार क्या है? क्या करने पर मेरे नाम पर लिया हुआ संयम सार्थक होगा।

सभी लोग परमात्मा को राजी करना चाहते हैं। कोई भेंट चढ़ाकर, कोई पकवान अथवा वस्त्र द्वारा उसे रिझाना चाहते हैं। कोई किसी और उपाय से प्रसन्न करने की इच्छा करते हैं। मगर जैन शास्त्रों का कथन यह है कि भगवान् इस प्रकार राजी नहीं हो सकते। भगवान पूर्वोक्त पांच बातों से प्रसन्न होते हैं। इन पांच का अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है :–

(1) लाघव – बोझा हट जाना या द्रव्य और भाव से हलका हो जाना लाघवियं अथवा लाघव या लघुता है। यहां लघुता का अर्थ द्रव्यलघुता ही है। भावलघुता का वर्णन आगे किया जायगा। द्रव्यलघुता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उपधि (उपकरण) का भार इतना अधिक न हो जाय कि उसके लिए मजदूर करना पड़े या गाड़ी रखनी पड़े। किन्तु शास्त्र में धर्मोपकरणों की जो मर्यादा बताई है, उसी में रहकर उपधि रखना चाहिए। अगर उससे भी कम उपधि रक्खी जाय तो अधिक प्रशस्त लाघव है।

(2) अल्पेच्छा– उपधि कम रखी, मगर इच्छा न मिटी, खाने–पीने या पहनने की तृष्णा बनी रही तो वह लघुता निरर्थक–सी हो जाती है। यह बात श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए उचित नहीं है। अतएव भगवान् कहते हैं– यह खाऊं यह, लाऊं इत्यादि अभिलाषा नहीं रखनी चाहिये। साधु होकर भी जिसने अभिलाषा न जीती, जिसमें भोजन आदि की वासना बनी रही, उसका साधुपन

कायम नहीं रह सकता। इसलिए अल्प उपकरण रखने के साथ ही अभिलाषा को भी जीतना चाहिए।

(3) अमूर्च्छा– आहार आदि अल्प और साधु की रीति के अनुसार ही लिया, फिर भी ममता को जीतना कठिन है। साधु को ममता पर विजय प्राप्त करना ही चाहिए। इसलिए तीसरी बात अमूर्छा बतलाई गई है। उपाधि कम है, फिर भी अगर यह भावना बनी रही कि 'यह मेरी है और मैं इसका हूं' अथवा 'हाय! कोई मेरा उपकरण ले न जाय' तो साधुपन दूषित होता है। अतएव उपकरणों की संरक्षा के लिए हाय–हाय नहीं रखनी चाहिए, किन्तु यह विचारना चाहिए कि शरीर भी चला जाय तो क्या परवाह है! शरीर मैं नहीं हूं, मेरा नहीं है। यह मुझसे सर्वथा निराला है।

(4) अगृद्धि– भोजनादि अल्प लिया, इच्छा भी अधिक की नहीं की, और उसके संरक्षण का ध्यान भी नहीं हैं, लेकिन उसके प्रति आसक्ति हुई तो साधुता दूषित हो जाती है। अगृद्धि अर्थात् अनासक्ति होने पर ही प्रशस्त मुनिपन है।

(5) अप्रतिबद्धता– यह अप्रतिबद्धता उक्त चारों से बड़ी है। इष्ट मित्रों से, सगे–सम्बन्धियों से विशेष संसर्ग न रखना, स्नेह और राग के बन्धन को काट डालना अप्रतिबद्धता है। साधु को पवन की भांति अप्रतिबद्ध रहना चाहिए।

टीकाकार ने इन पांच बातों का दूसरी तरह से विवेचन किया है। वे कहते हैं कि लाघव का अर्थ यदि अल्पउपधि किया जाय तो पशु तो कोई उपधि नहीं रखता। वह बिलकुल नग्न रहता है। इसी प्रकार भिखारी के पास भी अल्प उपधि होती है। वह भी फटे और थोड़े–से कपड़े रखता है। पात्रों में एक ठीकरा ही रखता है। तो क्या पशु और भिखारी को लघुता धारण करने वाला मानना चाहिए? यह लघुता कार्यसाधक नहीं है। कार्यसाधक लघुता वही है जिसके साथ इच्छा भी अल्प हो। अतएव साधु होकर भी जिसने इच्छा नहीं जीती, उसकी लघुता किसी काम की नहीं।

गर्मी के मौसम में जंगल में हरियाली नहीं दीख पड़ती, किन्तु वर्षा होने पर वह हरा–भरा हो जाता है। वह हरियाली कहीं बाहर से नहीं आती। वह जंगल की भूमि में ही रही हुई थी। गर्मी के कारण अब तक दबी हुई थी जो वर्षा का निमित्त पाकर उग आई। इसी प्रकार प्रकट में अधिक उपधि नहीं है, पर हृदय की वासना नहीं मिटी, सिर्फ न मिलने के कारण अल्प है, मिले तो अधिक हो जाय, यह सच्ची लघुता नहीं है। सच्ची लघुता वही है, जिसके साथ अल्प इच्छा हो।

अल्प–इच्छा की पहिचान अमूर्च्छा से होती है। इच्छा और मूर्च्छा में क्या अन्तर है? इच्छा अप्राप्त वस्तु के सम्बन्ध में होती है और मूर्च्छा प्राप्त वस्तु के विषय में। मूर्च्छा का अर्थ बेभान होना है। अप्राप्त वस्तु की प्रवल इच्छा से बेभान हो जाना भी मूर्च्छा ही है। अगर किसी में अल्प इच्छा के साथ अमूर्च्छा न हुई तो उसकी अल्प इच्छा काम की नहीं है। अल्प इच्छा के साथ अमूर्च्छा हो तभी अल्प इच्छा प्रशस्त है। कदाचित् किसी को किसी वस्तु की इच्छा हुई, मगर मूर्च्छा न हुई तो वह उसके लिए पागल नहीं होगा। किसी ने नशा कम किया है, पर इच्छा बनी रही और इच्छा के साथ मूर्च्छा भी रही तो कम नशा भी बेभान कर देगा। अतएव अल्प उपधि के साथ अल्पेच्छा और अमूर्च्छा का होना आवश्यक है। तभी वह प्रशस्त है।

चौथी बात अगृद्धि है। कभी–कभी किसी वस्तु पर मूर्च्छा तो होती है, पर मूर्च्छा रखने वाला बाहर की मर्यादा रखता है। लेकिन गृद्धि होने पर बाहरी मर्यादा का भी लोप हो जाता है। अतएव गृद्धि रखना अत्यन्त हानिकारक है। अगृद्धि तभी रह सकती है, जब मुनि अप्रतिबद्ध हो, अर्थात् उसके हृदय में किसी प्रकार का प्रतिबंध (स्नेह सम्बन्ध) न हो।

ये पांच बातें श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए तो लाभदायक हैं ही, गृहस्थ के लिए भी प्रशस्त हैं। यह बात किसी बड़े उदाहरण से समझाई जा सकती है। यहां एक प्रसिद्ध उदाहरण ही दिया जाता है। सूर्पनखा ने रावण के सामने सीता का वर्णन किया। उस समय रावण के चित्त में किस–किस प्रकार की भावनाएं उत्पन्न हुईं? सर्वप्रथम रावण की लघुता का नाश हुआ। उसे अपनी समस्त स्त्रियां सीता के सामने तुच्छ जान पड़ने लगीं। वह सोचने लगा, सीता के सामने मेरी स्त्रियां कुछ चीज ही नहीं हैं। जो–कुछ है, सीता ही है। इस प्रकार लाघव का नाश होने के साथ उसमें इच्छा उत्पन्न हुई कि देखना चाहिए, सीता कैसी स्त्री है! रावण में लाघव था, अल्पेच्छा होती तो वह ऐसा विचार ही न करता। पर उसमें अलाघव उत्पन्न होने के साथ ही इच्छा भी उत्पन्न हुई। इच्छा होने पर भी अगर मूर्च्छा न होती तो वह इतने से बस करता। उसे अपने कार्य की अनुचितता का विचार हो आता। वह सोचता– सीता परस्त्री है, उसे देखने के लिए जाना उचित है या नहीं? मगर इच्छा के साथ मूर्च्छा भी उसमें उत्पन्न हो गई। वह शुभ–अशुभ परिणाम को भूलकर सीता को देखने गया। वह मूर्च्छा भी अगर आसक्ति न होती तो रह जाती, पर उसमें आसक्ति भी उत्पन्न हुई। अतएव वह दीपक पर पतंग की तरह गिर पड़ा। वह सीता पर आसक्त हो गया। यदि इस आसक्ति के साथ ही उसमें

प्रतिबंध न होता तो भी वह प्रकट हानि से बच जाता। मगर प्रतिबंध उत्पन्न होने के कारण उसका सर्वनाश हो गया।

अब सीता के सम्बन्ध में पांच बातों का विचार कीजिए। रावण में लाघव आदि पांच बातें नहीं थीं, मगर सीता में थीं या नहीं? यद्यपि सीता स्त्री थी और रावण पुरुष था, मगर शास्त्र इस तरह का भेद नहीं रखता। जो–कोई सद्गुणी है, शास्त्र की दृष्टि से वही बड़ा है।

जनक की पुत्री और राम की पत्नी होने पर भी सीता में लाघव था। उसे वन में झोंपड़ी में रहना और भूमि पर सोना पड़ता है। यह लाघव है। आप कहेंगे– ऐसी अनेक स्त्रियां हैं, जो जंगल में रहकर जमीन पर सोती हैं। फिर सीता के कार्य में ही क्या विशेषता है? मगर सीता में लाघव के साथ ही इच्छा न होने की विशेषता थी। यह बात नहीं थी कि इच्छा न होने पर भी विवश होकर राम के साथ वन में जाना पड़ा हो। इस प्रकार सीता की इच्छा अल्प थी और अल्पेच्छा के साथ उसमें मूर्च्छा भी नहीं थी। राजमहलों में सब प्रकार का सुख था, फिर भी राम के साथ वन में जाने के समय उसने अपने कर्तव्य का विस्मरण नहीं किया। इस प्रकार मूर्च्छा न होने के साथ ही उसमें गृद्धि भी नहीं थी। अगर वह अपने राजकीय सुखों का विचार करती तो उसमें गृद्धि कही जाती। लेकिन इस गृद्धि के होने पर सीता, सीता ही न रह जाती। फिर तो वह सामान्य स्त्रियों की कोटि में होती। अगृद्धि के साथ उसमें अप्रतिबंधता भी थी। रावण उसे लंका में ले गया। बंधन में डाल दिया। लेकिन वह बन्धन में नहीं रही। उसने रावण पर और सोने की लंका पर थूक दिया, अर्थात् उन्हें धिक्कार दिया।

श्रमण निर्ग्रन्थ को विचारना चाहिए कि सीता ने भी इन पांच बातों को धारण किया था तो हमें भी किस प्रकार धारण करना चाहिए। साधुपन लेने पर इनका धारण करना ही उचित है। इनके बिना साधुत्व सार्थक नहीं है।

कहां चक्रवर्ती भरत और कहां एक साधारण सुनार! किन्तु भगवान् ने भरत को अल्पपरिग्रही कहा और सुनार को महापरिग्रही। इस विलक्षणता का क्या कारण है? उनकी अपनी–अपनी विशेषता के कारण ही भगवान् ने ऐसा कहा है। भगवान् ने आनन्द एवं कामदेव आदि श्रावकों को भी अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही कहा है। कहावत है :

समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।

धाय, बालक को खिलाती–पिलाती और उसके साथ खेल करती है, तथापि वह मानती है उसे दूसरे का ही। इसी प्रकार श्रावक सांसारिक काम करता अवश्य है, लेकिन मानता है कि संसार अलग है और मैं अलग हूं। यह लाघव है। इस तरह का लाघव धारण करके इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि और प्रतिबद्धता को हटाना ही प्रशस्त है।

आप तपस्या करते हैं, मगर इच्छा, मूर्च्छा आदि को हटाना कठिन समझते हैं। उपवास करने पर भी अगर इच्छा बनी रही तो यह वैसी ही बात होगी कि गर्मी के कारण जंगल में हरियाली दिखाई नहीं देती, पर वर्षा होने पर फिर नजर आने लगती है। अतएव पुद्गल को अनित्य समझ कर ममता उतारो। जब तक अन्तःकरण से ममता–मूर्च्छा न मिटेगी, तब तक चित्त का क्लेश और कदाग्रह नहीं मिटेगा और जब तक क्लेश–कदाग्रह नहीं मिटेगा, तब तक उदारता नहीं आएगी और जब तक उदारता न हो, तब तक तप करने से ही क्या होता है! इसीलिए शास्त्र में सर्वप्रथम दान का उपदेश दिया गया है और उसके पश्चात् शील, तप और भावना का विधान किया गया है। जिसे वैभव मिला है, उसे समझना चाहिए कि धर्म मेरा भाई है। उसकी सेवा करना, सहायता करना मेरा कर्तव्य है। राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से एक ही बार धर्म का उपदेश सुना था। धर्मोपदेश सुनकर वह रमणीक हो गया था। तब केशी श्रमण ने उससे कहा था– देख राजा, तू रमणीक से अरमणीक मत बनना।

राजा प्रदेशी ने कहा– अनुदारता से अरमणीकता आती है। मैं अब अनुदार नहीं रहूंगा। मैं अपनी राज्य–सम्पदा के चार भाग करूंगा। एक भाग अन्तःपुर में दूंगा। एक भाग खजाने में दूंगा। एक भाग सेना आदि पर लगाऊंगा और एक भाग से दीन–दुखियों को दान दूंगा।

आपको भी पुण्य के फल से वैभव मिला है। मगर आप अपने वैभव का कुछ भाग दान में भी लगाते हैं या केवल उपवास करके बचत ही कर लेते हैं? भर्तृहरि ने धन की तीन गतियां बताई हैं– दान, भोग और नाश। जो धन दान में और भोग में नहीं लगता, उसकी तीसरी गति (नाश) अवश्य होती है। इसके अतिरिक्त आप जो द्रव्य भोग में लगाते हैं, वह भी नष्ट तो होता ही है। भोजन करने में, वस्त्र खरीदने में और दूसरे कामों में धन का नाश तो होता ही है। भोग के साथ नाश लगा हुआ ही है। धन का नाश अगर नहीं होता तो सिर्फ दान करने से ही।

दान कहां करना चाहिए, यह विवेक न होने से भी हानि हो रही है। जहां दान करना चाहिए, वहां तो लोग दान नहीं करते और अनावश्यक जगह में उंडेल देते हैं। कई लोग दान न देने की नीयत से कम आमदनी होने का बहाना किया करते हैं, मगर अपने आमोद–प्रमोद या मजा–मौज में कुछ भी कमी नहीं करते हैं। सिर्फ धर्म के कामों के लिए आय की ओर नजर दौड़ाते हैं। उन्हें यह समझ नहीं कि धर्म की कमी से ही यह कष्ट हो रहा है। अब फिर धर्म के काम में अनुदारता करने से हमारा कष्ट कैसे मिट सकता है ! धर्म को न सींचकर दूसरी जगह धन लगाना उसी तरह हानिप्रद है, जिस तरह सूखते हुए आम को न सींचना और बबूल को सींचना। यह नहीं जानते कि फल तो आम से ही मिल सकता है। बबूल को सींचने से तो कांटे ही मिलेंगे। गाय के बदले गधा पालने वाले को दूध कैसे मिल सकता है!

लोग अपने व्यवहार के काम तो देखते हैं, मगर धर्म के काम नहीं देखते। उन्हें यह विचार नहीं कि धर्म की शिक्षा किस प्रकार बढ़े और धर्म का पालन करने वालों की सहायता किस प्रकार हो? अनेक धर्मप्रिय लोग ऐसे शीलवान् होते हैं कि घर में चाहे भूखे मर जाएंगे, मगर किसी के आगे हाथ नहीं पसारेंगे। दुःखी विधवा आदि स्त्रियों की अवस्था खास तौर पर विचारणीय है। उनकी उचित सहायता करना अपनी ही सहायता करना है। अपनी शक्ति केन्द्रित करके अच्छे–बुरे की पहचान करना और अच्छे काम में धन का सदुपयोग करना, यह विवेक का काम है।

कई लोग, जैसे तेरहपंथी कहते हैं कि भूखे को भोजन देना भौंथरी (भोंटी) छुरी को तेज करना है। उनकी युक्ति यह है कि भूखे को भोजन देना धर्म होता है तो साधु किसी भूखे को अपने पास का आहार खाने के लिए क्यों नहीं देते? ऐसा कहने वाले लोग यह नहीं जानते कि साधु को भोजन क्यों मिलता है? मान लीजिए, किसी ने गाय के निमित्त खर्च करने के अभिप्राय से आपको दस रुपये दिये। आप जा रहे हैं। रास्ते में एक दुखिया मिल गया। क्या आपको वह रुपया उस दुखिया को देने का अधिकार है? वह रुपया आप दूसरे सीगे में खर्च नहीं कर सकते, उसी प्रकार साधु को जो भोजन मिला है, वह साधु ने अगर दूसरे को दे दिया तो यह इसी तरह का विश्वासघात होगा, जैसा विश्वासघात गाय के लिए मिले हुए धन को दूसरे काम में लगाने से होता है। साधु अपने लिए उतना ही आहार लाते हैं, जितने से उसका निर्वाह हो सके। वे उससे ज्यादा आहार लाते ही नहीं हैं। साधु को जिसने आहार दिया है, साधु के निमित्त ही दिया है, किसी और को देने

के लिए नहीं। फिर भी साधु दूसरे काम में उसका व्यय करता है तो वह विश्वासघात का पाप करने वाला ठहरता है।

इसी भगवती सूत्र में कहा है– किसी मनुष्य ने एक साधु को दो लड्डू या दस कम्बल देकर कहा कि एक आप ले लेना और शेष अमुक साधु को दे देना। साधु लेकर आया। किन्तु दाता ने जिसे देने को कहा था, वह साधु वहां से चला गया या मर गया। ऐसी अवस्था में उस साधु को वह चीजें स्वयं अपने काम में लाने या दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। उसका कर्तव्य यह होगा कि वह एकान्त स्थल में जाकर वह चीजें परठ दे, जहां कोई देखता न हो।

जब शास्त्र में साधु के लिए ऐसी मर्यादा बतलाई गई है, तब साधु का उदाहरण देकर भोजन देने से गृहस्थ को पाप बताना नितान्त अनुचित है। साधु भूखे को आहार नहीं देते, इसलिए देना पाप ठहराया जाय तो एक बात और विचारणीय है। दीक्षा देना तो पाप है नहीं, तब अगर कोई आदमी यह कहे कि साधुजी, थोड़ी देर के लिए अपने सिर पर पगड़ी रख लें तो मैं दीक्षा लेने के लिए तैयार हूं। क्या साधु सिर पर पगड़ी रख लेंगे? अगर पगड़ी नहीं रखी तो क्या दीक्षा लेना–देना पाप हो गया? यह तो अपनी–अपनी मर्यादा है। साधु अपनी मर्यादा का पालन करने के लिए अगर किसी को नहीं देते, उसी कारण दुखी को देना पाप नहीं हो सकता।

सिद्धान्त में कहा है– अगर कोई आदमी अन्न–पानी के अभाव में बिलबिलाहट करता हुआ मरता है तो उसका मरण बालमरण है। संथारे का अर्थ किसी को भूखे मारना नहीं है। अगर किसी ने संथारा किया है, लेकिन अब भूखा नहीं रह सकता और रोटी मांगता है, उसे रोटी न देने पर उसकी दया उठ जाती है। जो अन्न के लिए बिलबिलाता हुआ मरता है, वह अनन्त संसार बढ़ाता है।

तेरहपंथियों का यह भी कहना है कि जिसे भोजन दिया, वह खाकर पाप करेगा तो उस पाप का निमित्त देने वाला हुआ। मगर यह बात विचारणीय है कि देने वाले ने किस भावना से भोजन दिया है। पाप की भावना से या दया की भावना से? किसी जवान लड़की का हाथ वैद्य नाड़ी देखने के लिए पकड़ता है और गुंडा बुरी नीयत से पकड़ता है। क्या दोनों का हाथ पकड़ना बराबर है? एक भला आदमी डूबती हुई स्त्री को बचाने के लिए पकड़ता है और दूसरा कोई लुच्चा बुरे काम के लिए पकड़ता है। क्या

दोनों का काम एक सरीखा है? दोनों की भावना समान है? इसी प्रकार दया करके रोटी देने वाले की भावना क्या पाप कराने की है? नहीं, तो फिर पाप कैसे हो सकता है? पाप का झूठा भय दिखलाकर दया का शत्रु बनना ठीक नहीं है।

तात्पर्य यह है कि लाघवता आदि प्राप्त करने के लिए दया, दान, उदारता आदि सद्गुणों को प्राप्त करना चाहिए।

उक्त पांच बातों के सम्बन्ध में प्रश्न करक गौतम स्वामी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इनके विषय में कोई कुछ भी कहे, किसी का कितना ही मतभेद हो, लेकिन ये पांच बातें भगवान महावीर के केवलज्ञान की कसौटी पर कसी हुई हैं और भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि ये अच्छी हैं। अतएव उन्हें अच्छी ही समझो। उनके विषय में किसी प्रकार का संदेह मत करो।

आत्मा का संसर्ग यानी प्रतिबंध कैसे दूर हो, इसके लिए गौतम स्वामी क्रोध, मान, माया और लोभ के विषय में प्रश्न करते है। क्रोध, मान, माया और लोभ का तथा अलाघव, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि एवं प्रतिबन्ध का अविनाभावी सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का न होना अविनाभावी सम्बन्ध कहलाता है। क्रोध आदि के अभाव में अलाघव, इच्छा, मूर्च्छा, आदि का होना सम्भव नहीं है और इन पांच के बिना क्रोध आदि नहीं हो सकते। जैसे आत्मा और ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रहता उसी प्रकार क्रोध आदि और अलाघव आदि का अविनाभाव सम्बन्ध है।

क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं। कषाय तब तक नहीं छूटते, जब तक इच्छा, मूर्च्छा आदि हैं। इच्छा, मूर्च्छा आदि के न रहने पर कषाय भी नहीं रहते और कषाय के अभाव में इच्छा आदि का सद्भाव नहीं रह सकता। इस तरह दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! अक्रोध, निरभिमानता, अमाया यानी सरलता और अलोभ अर्थात् संतोष, ये चारों बातें श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए प्रशस्त हैं?

भगवान् उत्तर देते है– गौतम! हां, प्रशस्त हैं।

गौतम स्वामी जरा–से इशारे से ही समझने वाले थे। वे भगवान् के इस उत्तर से समझ गये। लेकिन बालजीवों को समझाने के लिए स्पष्ट करना आवश्यक है। अतएव यहां कुछ स्पष्ट करके समझाना उचित होगा। क्रोध,

मान, माया और लोभ, ये मोह की प्रकृतियां हैं। इन प्रकृतियों से लाघवता आदि का कैसा सम्बन्ध है, यह बताने के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ को दो भागों में विभक्त कर दिया है। क्रोध और मान द्वेष में हैं और माया तथा लोभ, राग के अन्तर्गत हैं। यों राग–द्वेष को पहचानना कठिन है, लेकिन उन पांच बातों से राग–द्वेष की पहचान भी हो जाती है।

कई लोग अपने स्वार्थ की बातें राग–द्वेष से अलग मानते हैं और जहां दूसरे के लाभ की बात हुई वहां राग–द्वेष बतला देते हैं। जैसे, तेरहपंथी लोगों का कहना है कि बिल्ली से चूहे को छुड़ाया तो राग–द्वेष हो गया, अर्थात् चूहे पर राग आ गया और बिल्ली पर द्वेष हो गया, और राग–द्वेष बुरा है। जहां राग–द्वेष है वहां क्रोध, मान, माया और लोभ– चारों हैं। तुम्हें सद्‌गुरु नहीं मिले, इससे दया के नाम पर राग–द्वेष में पड़ रहे हो। मगर राग–द्वेष को त्यागे बिना कल्याण नहीं। शास्त्र में इनका निषेध किया गया है।

यह तेरहपंथियों का कथन है। उनसे यह पूछना चाहिए कि–तुम्हारा श्रावक तुम्हारे दर्शन को आ रहा है। मार्ग में कोई दूसरे साधु उसे मिल गये। श्रावक ने उन्हें वन्दना नहीं की और वह तुम्हारे ही पास आया। यह राग–द्वेप है या नहीं?

इस प्रश्न के उत्तर में तेरहपंथी कहते हैं– 'ऐसा करने वाला श्रावक तो विवेकवान् है। वह कुगुरु–सुगुरु को पहचानता है। इसी कारण उसने कुगुरु को वन्दन नहीं किया।' पर क्या यह नहीं मानते कि अभी उस श्रावक से राग नहीं छूटा है? उसके मन में हमारे प्रति प्रेम है, तभी वह दर्शन–वन्दन करने आता है? ऐसी दशा में जब अपने दर्शन के समय राग–द्वेष को बुरा नहीं मानते, तब दया के समय ही राग–द्वेप का नाम लेकर दया का दुश्मन बनने की क्या आवश्यकता है?

मतलब यह है कि जहां लाघव, अल्पेच्छा, अल्प मूर्च्छा आदि होंगे, वहां क्रोध, मान आदि का भी विजय होगा। जहां महाइच्छा और महामूर्च्छा आदि होंगे वहां क्रोध, मान आदि भी बहुत होंगे।

श्रावक, साधु के दर्शन के लिए जाता है, सो अल्प उपधि, अल्प इच्छा, अल्प मूर्च्छा आदि से प्रेरित होकर आता है या महाइच्छा, महामूर्च्छा आदि से? अगर वह सट्टे का आंक पूछने या रोजगार की बात पूछने आता, तब तो दूसरी बात थी, मगर बात ऐसी नहीं होती। संतों के पास जाकर श्रावक की भावना उलटी बदल जाती है।

अब यह भी देखना चाहिए कि चूहे को बचाने वाला आदमी महाइच्छा और महामूर्च्छा आदि से प्रेरित बचाता है या अल्पइच्छा और अल्प–मूर्च्छा से प्रेरित होकर बचाता है?

मैंने गुजराती भाषा की एक पुस्तक में चूहे पर एक कविता पढ़ी थी। उस कविता का भाव यह था कि चूहे सारी रात खड़–खड़ करते हैं। दीपक की बत्ती खींच ले जाते हैं। कपड़े काट डालते हैं और बरतन तोड़–फोड़ देते हैं। चूहों का यह दुःख बिल्ली मिलने पर दूर हो सकता है। डाक्टर लोग भी चूहे को प्लेग फैलाने वाला बतलाते हैं। उनका कहना है, जहां चूहे होते हैं वहीं प्लेग उत्पन्न होता है। यद्यपि बेचारे चूहे स्वयं मर कर प्लेग की सूचना देते हैं, लेकिन डाक्टर कहते हैं कि वे पैदा करते हैं।

कहने का आशय सिर्फ इतना है कि लोग चूहे से तकलीफ होना मानते हैं। चूहे से किसे क्या लाभ है, जिससे उस पर किसी का राग हो? चूहे को बचाने वाला किस स्वार्थ से प्रेरित होकर चूहा बचाता है? जिसे हानिकारक माना जाता है, उसे बचाने का काम दया के बिना नहीं हो सकता। चूहे से कुछ लाभ तो है ही नहीं, उलटे बचकर वह हानि ही करेगा। फिर उसके बचाने में राग कैसे हुआ? अपने दर्शन करने में तो राग नहीं बतलाते, मगर दया में राग बतलाते हैं। यह कैसे ठीक कहा जा सकता है?

चूहे पर राग बताने के साथ वे बिल्ली पर द्वेष होना भी कहते हैं। उनका यह भी कहना है कि अगर आपके सामने किसी ने थाल परोसा हो और बीच में झपट कर कोई उठा ले जाय, तो आपको कितना दुःख होगा? इसी प्रकार बिल्ली के मुख से उसका आहार छीन लेने से उसे दुःख नहीं होता होगा? यह द्वेष है या नहीं?

यह कथन भी निराधार है। अगर बिल्ली पर चूहा छुड़ाने वाले का द्वेष होता तो, जब वह जलेबी लेकर जा रही हो तब उसके मुख से वह जलेबी क्यों नहीं छुड़ा लेता? अगर इसे द्वेष कहते हो तो किसी साधु पर कुत्ता झपटा और आपने बीच में पड़कर दुत्कार दिया तो क्या यह कुत्ते पर द्वेष होना कहा जायगा? इसके उत्तर में कहते हैं– 'नहीं, यह तो साधु का उपसर्ग टालना हुआ।' तो जैसे कुत्ते को दुत्कारने पर भी कुत्ते के प्रति द्वेष नहीं हुआ, उसी प्रकार चूहे को छुड़ा देने पर भी बिल्ली पर द्वेष नहीं हुआ। अगर बिल्ली या

कुत्ता उपदेश सुन–समझ सकता होता तो उसे दुत्कारने की आवश्यकता न रहती। मगर उसमें इतनी समझ नहीं है, इसी कारण उसे दुत्कार कर छुड़ाना पड़ता है। मगर यह द्वेष नहीं है, करुणा है।

इसके अतिरिक्त जिस समय, जिस पर द्वेष होता है, उसी समय उस पर राग नहीं हो सकता। यह एक ऐसी बात है, जिसे कोई समझदार आदमी अस्वीकार नहीं कर सकता। जिस समय बिल्ली चूहे पर झपटी और कोई दयालु चूहे को बचाने दौड़ा। बिल्ली भागी कि उसी समय उस पर कुत्ता दौड़ा। अब वह दयालु पुरुष बिल्ली को भी चूहे की ही भांति बचाने का प्रयत्न करता है। अगर बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह उसे बचाने क्यों दौड़ता? जब वह दौड़ता है तो बिल्ली पर द्वेष कहां रहा? अतएव चूहे पर राग और बिल्ली पर द्वेष आने की बात मिथ्या है। बचाने वाला राग–द्वेष से प्रेरित होकर नहीं, वरन् करुणा से प्रेरित होकर चूहे को बचाता है। इसलिए उसे राग–द्वेष में गिनकर पाप बतलाना सर्वथा अनुचित है।

जो भव्य पुरुष आत्मकल्याण का अभिलाषी है, उसे राग–द्वेष का ठीक–ठीक स्वरूप समझकर उनका त्याग करना चाहिए। भगवान् ने क्रोध, मान, आदि का और उक्त पांच बातों का सम्बन्ध बतलाकर कहा है कि जहां ये हैं, वहां वे भी हैं और जहां ये नहीं हैं, वहां वे भी नहीं हैं। अगर आप भगवान् का यह कथन समझ गये हों तो स्वार्थबुद्धि का त्याग करो। स्वार्थबुद्धि से ही राग–द्वेष होता है।

आप सोचते होंगे, अगर स्वार्थबुद्धि छूटती तो साधु ही हो जाते। लेकिन आप अगर स्वार्थबुद्धि नहीं छोड़ सकते तो मैं आपसे क्या कहूं? क्या मैं यह कहूं कि आप स्वार्थबुद्धि रखो? आप मुझसे यह कहलाना पसन्द करेंगे? यह बात दूसरी है कि आप अपनी दुर्बलता के कारण स्वार्थ का सर्वथा त्याग न कर सकें, लेकिन उस ओर अग्रसर तो होओ। जितना छूट सके, उतना छोड़ो और जो न छूट सके उसे छोड़ने की भावना रखो। आप निश्चित श्रद्धा रखिये कि राग–द्वेष सर्वथा त्यागने को हैं और उनका मूल स्वार्थ मुझे अवश्य त्यागना है। ऐसी भावना होगी तो कभी–न–कभी स्वार्थ बिल्कुल छूट जायगा। अच्छा काम जितना बने, उतना ही करो। उसे टालो मत। अच्छे काम में विलम्ब मत करो। दूसरे का अहित करने से ही स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है, किन्तु परमार्थ करते हुए भी स्वार्थ साधा जा सकता है। भर्तृहरि ने कहा है –

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुधममृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नंति ये।
ये तु घ्नेनन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।।

इस संसार में चार तरह के मनुष्य हैं– सत्पुरुष, सामान्य पुरुष, राक्षस पुरुष और चौथे वे पुरुष, जिनका नाम स्वयं भर्तृहरि भी नहीं जानते। सत्पुरुष वे हैं जो दूसरे के हित के लिए अपना स्वार्थ छोड़ देते हैं। जो सम्पूर्ण रूप से स्वार्थ छोड़ता है वह पूर्ण सत्पुरुष कहलाता है और जो आंशिक स्वार्थ छोड़ता है वह आंशिक सत्पुरुष कहलाता है। उदाहरण के लिए; मेघरथ राजा एक कबूतर के लिए अपना मांस काटने को तैयार हो गया था। वह कबूतर राजा का क्या लगता था कि राजा उसकी रक्षा के निमित्त तन काट कर देने को भी तैयार हो गया? लेकिन सत्पुरुष यह नहीं सोचते कि यह मेरा कोई लगता है या नहीं लगता। उनकी प्रकृति ही दूसरों की भलाई करने की होती है। दूसरों के कल्याण के लिए वे धन ही नहीं, अपना तन भी देने को तैयार हो जाते हैं, और वह भी प्रसन्नता से। धर्मरुचि अनगार को स्मरण करो, जो चींटियों की दया के लिए कडुवा तूंबा पी गये।

राज्य और धन देने वाले राजा तो अनेक हुए होंगे, पर तन देने का उदाहरण या तो यह है या महाभारत में राजा शिवि का। महाभारत का उदाहरण हो या जैन शास्त्र का हो। ऐसा उदाहरण मिलेगा आर्यावर्त्त में ही। मुहम्मद साहब के विषय में भी कहा जाता है कि वे एक फाख्ता के लिए अपने गाल का मांस काट कर देने को तैयार हो गये थे। मतलब यह है कि जो दूसरे के हित के लिए अपना स्वार्थ छोड़ देता है, वह सत्पुरुष कहलाता है।

दूसरा सामान्य पुरुष वह है जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित न करे। जो अपना स्वार्थ तो न छोड़ सके, पर दूसरों की हानि भी न करे। वह सामान्य पुरुष कहलाता है। उदाहरण के लिए– अगर आप मील के बने वस्त्र छोड़ दें तो क्या आपके स्वार्थ की कोई हानि होगी? हानि कुछ भी न होगी, इज्जत भले ही बढ़ जाए, साथ ही दूसरों का भला होगा। अपना स्वार्थ न छोड़ते हुए भी ऐसा करने से परार्थ इस तरह होगा कि आपके जो पैसे मील के वस्त्र में खर्च होते हैं, वे गरीबों को मिलने लगेंगे। इस तरह आपका स्वार्थ भी नहीं छूटता और परार्थ भी होता है। आपको तो सिर्फ सादगी धारण करनी पड़ती है। यानी कुछ नजाकत छोड़नी होती है। इस प्रकार जिन पुरुषों ने

मील के वस्त्र, रात्रि–भोजन आदि का त्याग किया है, उन्होंने स्वार्थ के साथ परमार्थ का आराधन किया है।

भर्तृहरि कहते हैं– तीसरी श्रेणी के पुरुष वे हैं जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित कर डालते हैं। ऐसे लोग राक्षस हैं।

आजकल राक्षसी प्रजा बढ़ी हुई है। गोघातक, पशुघातक आदि लोग राक्षसी स्वभाव के ही हैं।

भर्तृहरि का कथन है कि इन तीन श्रेणियों के अतिरिक्त एक और श्रेणी है जो अपने स्वार्थ या मतलब के बिना ही दूसरे के स्वार्थ का नाश कर डालती है। इस श्रेणी के लोगों का क्या नाम होना चाहिए, यह मैं भी नहीं जानता। जो मनुष्य अनर्थदंड का पाप करता है, उसे क्या नाम दिया जाय, नहीं कह सकता। यह बड़ी ही अधर्म वृत्ति है कि अपना कुछ स्वार्थ न होते हुए भी दूसरे का अहित कर डालते हैं। यह तो राक्षसपन से भी अधिक नीचता है।

यह सब कषाय का परिणाम है। क्रोध आदि कषाय आत्मा को लाघव आदि पांच सद्गुणों से दूर रखते हैं। इस प्रकार आत्मा के परमात्मा–स्वरूप होने में कषाय विघ्न डालता है। कषाय होने से ही आत्मा में उक्त पांच बातें नहीं आती। इसीलिए गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है– प्रभो! श्रमण निर्ग्रन्थ को लाघविकता आदि पांच बातें प्रशस्त हैं तो क्या अक्रोध अमान, अमाया और अलोभ भी श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए प्रशस्त हैं?

भगवान ने उत्तर दिया– हां गौतम! ये भी प्रशस्त हैं। इन चार कषायों को दूर करने से अलाघव, अतिइच्छा आदि दोष दूर हो जाते हैं। अतः इन्हें भी प्रशस्त ही समझना चाहिए।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न में गहरा रहस्य है। उस रहस्य का विचार करने में बड़े–बड़े पंडित भी चक्कर में पड़ जाते हैं। लेकिन भगवान् ने सबका चक्कर मिटा कर ऐसा उत्तर दिया है कि बालजीव भी समझ सकते हैं, और पंडित भी समझ सकते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ का भगवान ने अलाघव आदि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध बतलाया। लेकिन अब ऐसी ही दूसरी बात भी बताते हैं। क्रोध, मान आदि किससे उत्पन्न होते हैं? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कहा जायगा कि अलाघव आदि से उत्पन्न होते हैं। मगर विशेष जिज्ञासु को इतने से संतोष नहीं होगा। वह यह भी जानना चाहेगा कि अलाघव आदि कैसे उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि

ये सब एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। अलाघव आदि पांच बातों से क्रोध आदि की उत्पति होती है और क्रोध आदि से इन पांच की उत्पत्ति होती है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ नष्ट हो जाते हैं, तब मोह नष्ट हो जाता है और मोह नष्ट हो जाने पर अलाघव आदि नष्ट हो जाते हैं। सारी गड़बड़ी मोह के कारण है। मोह का क्षय हो तो आत्मा की उन्नति के सब बाधक कारण दूर हो जाते हैं। मोह में भी कांक्षा–प्रदोष बड़ा है। इसलिए गौतम स्वामी उसी के सम्बन्ध में प्रश्न करते है।

गौतम स्वामी ने पूछा – भंते! क्या कांक्षाप्रदोष मोह नष्ट होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ सब दुःखों का नाश करके मोक्ष जाने योग्य हो जाता है? अथवा जिनका शरीर अन्तिम है, उसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं, वे चरम शरीरी कांक्षाप्रदोष मोह में पड़ गये हों और उसी मोह में विहार कर रहे हों तथा इसमें पड़ जाने से उन्होंने अनेक पाप किये हों, तो भी क्या अन्त में कांक्षाप्रदोष मोह नष्ट करके मोक्ष जा सकते हैं? कांक्षाप्रदोष मोह के कारण कैसे पाप किये हों, मगर अन्त में इसे नष्ट करके उसी भव में मोक्ष जाना सम्भव है? चरमशरीरी न हो तो बात दूसरी है, किन्तु चरमशरीरी कांक्षाप्रदोष नष्ट करके क्या मोक्ष जा सकता है?

भगवान ने उत्तर दिया– हां गौतम, जा सकता है।

कांक्षाप्रदोष किसे कहते हैं, यह जान लेना चाहिए। दर्शनान्तर के आग्रह को कांक्षाप्रदोष कहते हैं। वस्तु अनेकांतरूप है, फिर भी उसे एकान्तरूप बताकर हठ करना दर्शनान्तर का आग्रह कहलाता है।

जैन धर्म नय और प्रमाण से वस्तु में विविध धर्मो (गुणों) का अस्तित्व स्वीकार करता है। एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टियों से अनेक स्वरूप वाली दिख पड़ती है। वे सभी स्वरूप उसमें विद्यमान भी हैं। मगर लोग अपने दुराग्रह के कारण एक स्वरूप को – एक धर्म को – पकड़ बैठते हैं और दूसरे धर्मों का निषेध करने लगते हैं। इसी कारण अनेकान्त की जगह एकान्त आ जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सात अंधों का हाथी सम्बन्धी मतभेद पहले बतलाया जा चुका है। उससे यह बात स्पष्ट है कि सभी एकान्तवादी किसी अपेक्षा से सच्चे हो करके भी दूसरों को झूठ कहने के कारण आप झूठे बन जाते हैं। दुर्भाग्य से अनेकान्तवाद को मानने वाले जैनों में भी मतभेद उत्पन्न हो गया है। प्रमाण और नय से वस्तु को देखा जाय तो किसी प्रकार का झगड़ा नहीं हो सकता। पूरे हाथी के स्वरूप को देखना प्रमाण है। और उसके एक–एक अंग का विचार करना नय है। हाथी के एक–एक अंग को एकत्र

करने से सम्पूर्ण हाथी हो जाता है। इसी प्रकार सब नयों का समूह प्रमाण कहलाता है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और लीजिए। किसी ने तालाब में से एक अंजलि जल लेकर कहा– यह चुल्लू का पानी तालाब है या अतालाब है? अगर चुल्लू के पानी को तालाब न कहा जायगा तो दूसरी, तीसरी चुल्लू का पानी भी तालाब नहीं कहलायगा। अन्ततः लाखों करोड़ों चुल्लू में भी तालाब नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार तालाब कहीं नहीं रह जायगा? इसके विपरीत अगर एक चुल्लू को ही तालाब मान लिया जाय तो बाकी बचे जल को क्या कहा जायगा ? इसलिए जैन सिद्धान्त की मान्यता यह है कि एकान्त दृष्टि से किसी वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती। आचार्य विद्यानन्दी कहते हैं :

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।।
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्र बहुता वा स्यात्तच्चेत्क्वास्तु समुद्रवित्।।

अर्थात् नय के द्वारा वस्तु का जो एक अंश ग्रहण किया है, वह अंश न तो पूर्ण वस्तु है, न एकदम अवस्तु है। जैसे समुद्र के अंश को न असमुद्र कहा जा सकता है, न समुद्र ही कह सकते हैं। अगर समुद्र का अंश ही समुद्र कहलाने लगे तो शेष अंश असमुद्र हो जाएंगे। अगर उन्हें भी समुद्र मान लिया जाय तो एक–एक अंश को समुद्र मानने से एक ही समुद्र बहुत–से समुद्र कहलाने लगेंगे। ऐसी अवस्था में समुद्र का व्यवहार ही गड़बड़ में पड़ जायगा।

अतएव यह आवश्यक है कि प्रमाण और नय से वस्तु का विचार किया जाय। प्रमाण वस्तु को पूर्ण रूप से विषय करता और नय उसके अंशों पर नजर दौड़ाता है। लोग वस्तु के एक–एक अंश को पकड़ बैठते हैं और दूसरे अंशों का निषेध करने लगते हैं। तब भिन्न–भिन्न दर्शनों के अनुयायी सात अंधों की तरह आपस में लड़ते–झगड़ते हैं। स्याद्वाद दर्शन की भांति कोई समन्वय करने वाला सूझता पुरुष ही उनका झगड़ा मिटा सकता है।

जहां कांक्षाप्रदोष नामक दोष विद्यमान है, वहां अत्यन्त दुराग्रह होता है। उस दुराग्रह के कारण सत्य वस्तुत्व समझने की रुचि नहीं होती। कदाचित् सत्य दिखाई देता है भी, तो दुराग्रह के कारण वह स्वीकार नहीं करने देता।

कांक्षाप्रदोष का दूसरा अर्थ है– किसी वस्तु पर आसक्त हो जाना किसी मोहक वस्तु पर ऐसा आसक्त होना कि प्राण चाहे चले जाएं, सिर कट जाय, तो भी उस वस्तु से दूर न होना, जैसे रावण का सीता पर मोह हुआ था। रावण ने लंका नष्ट कराई, लेकिन सीता पर से मोह नहीं हटाया। इसी प्रकार किसी वस्तु पर अत्यन्त मोह होना कांक्षाप्रदोष है।

कांक्षाप्रदोष का दूसरा नाम कांक्षाप्रद्वेष भी है। जिस–किसी बात को पकड़ रखा है, उसके विरुद्ध बात पर द्वेष होना कांक्षा प्रद्वेष है। पकड़ी बात के विरुद्ध ऐसा द्वेष होना कि उसके विरुद्ध सच्ची बात कहने वाले की जान भी लेने पर उतारू हो जाना। जैसे रावण को मन्दोदरी और विभीषण ने सच्ची बात समझाई कि परस्त्री को लाना अपने कुल के योग्य काम नहीं है। दोनों का यह कथन था तो सत्य, मगर रावण उन्हें काटने दौड़ता था और विभीषण पर तो उसने लात से प्रहार भी किया था –

भरी सभा में रावण बैठा चरण–प्रहार चलाया।

विभीषण का कोई दोष नहीं था, पर जबर्दस्ती में दोष का विचार कौन करता है ? इसी प्रकार स्वयं असत्य के प्रति दुराग्रहशील होना और उसके विरुद्ध सत्य प्रकट करने वाले पर नाराज होना, असत्य का त्याग न करना और असत्य के विरुद्ध कोई बात भी न सुनना, यह सब कांक्षाप्रद्वेष का काम है।

संक्षेप और सरल भाषा में कांक्षाप्रद्वेष का अर्थ अत्यधिक मात्रा में राग–द्वेष बढ़ाना है। तात्पर्य यह है कि चरमशरीरी वर्तमान भव से ही मुक्ति प्राप्त करेगा, लेकिन कभी–कभी वह भी पहले मोह में आकर मिथ्यात्व धारण कर लेता है। किन्तु अन्त में मोह को त्यागकर, (क्षीण करके) मोक्ष प्राप्त करता है। जैसे भगुपुरोहित और अर्जुनमाली आदि चरमशरीरी होने पर भी मोह में पड़कर मिथ्यात्वी बन गये थे और अन्त में मोह का सर्वथा नाश करके मोक्ष गये।

कांक्षाप्रदोष घोर दोष है। विपरीत बात की इच्छा जागना भी कांक्षाप्रदोष है। जब अत्यन्त मोह जागता है तब विपरीत बात की इच्छा जागती है। ऐसी अवस्था का परिणाम क्या होता है, यह बात सन्निपात के रोग से जानी जा सकती है। वात, पित्त और कफ में से कोई एक बिगड़ा हो तो वह हाथ में आ जाता है, पर तीनों के बिगड़ जाने पर, त्रिदोष हो जाने पर तीनों का हाथ आना कठिन होता है। इसी अवस्था को सन्निपात कहते हैं। सन्निपात होने पर अच्छी वस्तु भी रोगी को जहर हो जाती है। दूध और

मिश्री, अमृत मानी जाती है, मगर सन्निपात के रोगी को वही अमृत, विष बन जाता है। इसका कारण यही है कि उसकी प्रकृति उलटी हो गई है। व्यवहार में देखो तो मालूम होगा कि दृष्टि जब उलटी हो जाती है तब अच्छी वस्तु भी बुरी लगती है। इसमें वस्तु का दोष नहीं है, दृष्टि का ही दोष है। 'यथा दृष्टि तथा सृष्टि', अर्थात् जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही संसार नजर आने लगता है। दृष्टि में विकार आने पर अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी लगने लगती है। काला मुंह करके गधे पर बैठना और ऊपर से झाडू का चंवर ढुरवाना किसे अच्छा लगेगा? मगर होली खेलने वालों को यह भी अच्छा लगता है। वस्तु अच्छी नहीं है, मगर दृष्टि की विकृति से बुरी वस्तु अच्छी लगती है।

इस प्रकार होली खेलने वाले से कोई परमात्मा का भजन करने के लिए कहे तो वह उत्तर देगा– 'जाओ, तुम्हीं भक्त बने रहो !' उसे परमात्मा का भजन अच्छा नहीं लगेगा। परमात्मा का भजन अच्छी बात है, मगर प्रकृति की विकृति के कारण वह भी उसे बुरी लगती है। इसी तरह कांक्षाप्रदोष से दर्शनान्तर उत्पन्न हो जाता है– मनुष्य की बुद्धि में विपरीतता आ जाती है। वह कुछ का कुछ समझने लगता है।

अन्यमतियों सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

मूल पाठ

प्रश्न – अण्णउत्थिया णं भंते! एवं आइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परुवेंति एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति। तं जहा – इहभवियाउगं च, परभवियाउगं च, जं समयं इहभवियाउं पकरेति तं समयं परभवियाउं पकरेति, जं समयं परभवियाउगं पकरेति, तं समयं इहभवियाउगं पकरेति; इहभवियाउगस्स पकरणयाए परभवियाउगं पकरेति, परभवियाउयस्स पकरणयाए इहभवियाउं पकरेति; एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति। तं जहा – इहभवियाउगं च परभवियाउगं च। से कहमेयं भंते! एवं?

उत्तर – गोयमा! जं णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति, जाव परभवियाउगं च। जे ते एवं आहंसु मिच्छा ते एवं आहंसु। अहं पुण गोयमा एवं आइक्खामि, जाव–परुवेमि–एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउगं पकरेइ, तं जहा–इहभवियाउगं वा, परभवियाउगं वा; जं समय इहभवियाउगं पकरेति, णो तं समयं परभवियाउगं पकरेति, जं समयं पर भवियाउग पकरेति, णो तं समयं इहभवियाउगं पकरेति, इहभवियाउगस्स करणताए णो परभवियाउगं पकरेति, परभवियाउगस्स पकरणताए णो इहभवियाउगं पकरेति, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगे आउगं पकरेति। त जहा–इह–भवियाउगं वा परभवियाउगं वा।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरति।

संस्कृत छाया

प्रश्न – अन्यतीर्थिका भगवन्! एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति, एवं खलु एको जीवः एकेन समयेन द्वे आयुषी

प्रकरोति, तद्यथा – इहभवायुः परभवायुश्च। यं समयम् इहभवायुः प्रकरोति, तं समयं परभवायुः प्रकरोति, यं समयं परभवायुः प्रकरोति तं समयं इहभवायुः प्रकरोति। इहभवायुष्कस्य प्रकरणतया परभवायुष्कं प्रकरोति, परभवायुकस्य प्रकरणतया इहभवायुष्कं प्रकरोति। एवं खलु एको जीवः एकेन समयेन द्वे आयुषी प्रकरोति। तद्यथा – इहभवायुश्च, परभवायुश्च। तत् कथमेवं भगवन्! एतत्?

उत्तर – गौतम! यत् ते अन्यतीर्थिका एवमाख्यन्ति, यावत् परभवायुष्कं च। ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः। अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि, यावत् प्ररूपयामि, एवं खलु एको जीवः एकेन समयेन एकमायुष्कं प्रकरोति, तद्यथा– इहभवायुष्कं वा, परभवायुष्कं वा। यं समयम् इहभवायुष्कं भवायुष्कं प्रकरोति, नो तं समयं परभवायुष्कं प्रकरोति, यं समयं परभवायुष्कं प्रकरोति, नो तं समयं इहभवायुष्कं प्रकरोति। इहभवायुष्कस्य प्रकरणतया नो परभवायुष्क प्रकरोति, परभवायुष्कस्य प्रकरणतया नो इहभवायुष्कं प्रकरोति। एवं खलु जीवः एकेन समयेन एकमायुष्कं प्रकरोति। तद्यथा – इहभवायुष्कं वा, परभवायुष्कं वा।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति भगवान् गौतमो यावत् विहरति।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार (विशेष रूप से) बोलते हैं, इस प्रकार जनाते हैं और इस प्रकार प्ररूपण करते हैं कि एक जीव, एक समय में दो आयुष्य करता है। वह इस प्रकार इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है उस समय परभव का आयुष्य करता है और जिस समय परभव का आयुष्य करता है उस समय इस भव का आयुष्य करता है। इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य करता है। और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य करता है। इस प्रकार एक जीव, एक समय में दो आयुष्य करता है– इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। भगवन्! यह क्या इसी प्रकार है?

उत्तर – गौतम ! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं यावत् इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। उन्होंने ऐसा जो कहा है वह मिथ्या कहा है। गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूं, यावत् प्ररूपण करता हूं कि एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है और वह इस भव का आयुष्य करता है अथवा परभव का आयुष्य करता है। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है उस समय परभव का आयुष्य नहीं करता और जिस समय परभव

का आयुष्य करता है उस समय इस भव का आयुष्य नहीं करता। तथा इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य नहीं करता और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य नहीं करता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है-- इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है! हे भगवन्! यह इसी प्रकार है! ऐसा कहकर भगवान् गौतम यावत् विचरते हैं।

व्याख्यान

कांक्षाप्रदोष वाले को किसी वस्तु में विपरीतता मालूम होती है, यह बात बताने के लिए वैसे तो शास्त्र भरे हैं, पर यहां गौतम स्वामी एक विषय में प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं-- हे भगवन्! अन्ययूथिक (संघ वाले) मिथ्यात्व के प्रभाव से उलटी बात बताते हैं। वे विपरीत प्ररूपणा करते हैं। वे उलटी बात सामान्य रूप से भी कहते हैं और व्याकरण, न्याय आदि से भेदाभेद, व्युत्पत्ति आदि बताकर विशेष रूप से भी यही उलटी बात कहते हैं। वह यह कि एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है। इस भव का आयुष्य भी करता है और परभव का आयुष्य भी करता है। जिस समय वह इस भव का आयुष्य बांधता है, उसी समय परभव का भी आयुष्य बांधता है और जिस समय परभव का आयुष्य बांधता है उसी समय इस भव का भी आयुष्य बांधता है। परलोक का आयुष्य बांधता--बांधता इस लोक का और इस लोक का आयुष्य बांधता--बांधता परलोक का आयुष्य बांधता है भगवन्! अन्ययूथिकों का यह कथन क्या ठीक हो सकता है?

भगवान् ने उत्तर दिया-- हे गौतम! एक समय में दो आयु बांधने की बात गलत है। एक समय में, एक जीव दोनों भव का आयुष्य बांधे, यह सम्भव नहीं।

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न अन्य मतावलम्बियों के लिए किया है, किसी विवक्षित संघ से भिन्न संघ वालों को अन्ययूथिक कहते हैं। जो जिसे अपना मानता है वह उसके लिए स्व है और जो जिसे अपना नहीं मानता वह उसके लिए पर है। यही बात स्वयूथिक और परयूथिक के विषय में है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के मिलने से संघ बनता है। ऐसा संघ एक स्व का होता है और दूसरा पर का होता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं को जब एक शब्द से कहना होता है, तब 'यूथ' शब्द का व्यवहार होता है।

जिस यूथ में ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना हो, उसे स्वयूथ कहते हैं और स्वयूथ से भिन्न यूथ परयूथ कहलाता है।

कहा जा सकता है कि वीतराग के मार्ग में स्व–पर का झगड़ा कैसा? और जहां अपने–पराये का भेद है, वहां वीतरागता कैसी?

इसके उत्तर में ज्ञानी कहते हैं– जिसकी धारणा और विचारणा सत्य है वह संघ अलग है और जिसकी धारणा एवं विचारणा गलत है वह संघ अलग है। अगर सत्य–असत्य का यह भेद न रहे तो फिर श्रोता और उपदेशक का भेद भी नहीं रहना चाहिए। फिर कौन किसे उपदेश देगा? और कौन किसकी बात सुनेगा? ऐसा अभेद मानने से साधु–असाधु का भी भेद न रह जायगा। मगर सत्य और झूठ एक नहीं हो सकते। सत्य और झूठ एक हो जायेगा तो दुनिया के सारे व्यवहार नष्ट हो जाएंगे। जैसे चोर और साहूकार एक नहीं हो सकते, उसी प्रकार सत्य का अनुसरण करने वाला यूथ और झूठ का आचरण करने वाला यूथ एक नहीं हो सकता। सत्य और असत्य के कारण यूथ में भेद करना ही होगा।

यह बात एक उदाहरण द्वारा समझा देना उपयोगी होगा। कल्पना कीजिए, आपने सोचा– मैं अपनी दुकान में सब चीजें रखूं, जिससे सब ग्राहक मेरे ही यहां आवें। ऐसा विचारने वाले को अपनी दुकान पर सब चीजें रखनी पड़ेंगी। घी बिकने आया और आपने खरीद कर रख लिया। इतने में ही तेल बिकने आया। आपने तेल भी खरीद लिया। आपने सोचा– दोनों चीजें पैसे से आई हैं और दोनों बेचने के लिए हैं। ऐसा सोच कर आपने दोनों को मिला दिया। इतने में ही सूंघनी बिकने आई और आपने वह भी खरीद ली और घी–तेल के सम्मिश्रण में वह भी मिला दी। आपने सोचा– सब चीजें पैसे से आई हैं। सब बिकने के लिए हैं। मैं इनमें भेदभाव क्यों करूं? आपने तीनों में भेद नहीं किया और तीनों एकमेक कर दीं। अब आपके यहां घी का ग्राहक आया। उसने घी मांगा। आप तेल और सूंघनी के मिश्रण वाला घी उसे देने लगे। क्या ग्राहक ऐसा घी लेगा? तेल का ग्राहक उसे खरीदेगा? सूंघनी का ग्राहक आपके सम्मिश्रण को खरीदेगा? बल्कि यह माना जायगा कि तीनों चीजें किसी काम की नहीं रहीं। ऐसा अभेददर्शी दुकानदार हंसी का पात्र बनेगा। लोग उसे पागल कहेंगे। बाजार में उसकी साख नहीं रहेगी। उसकी दुकान पर ग्राहक नहीं फटकेगा।

इस व्यापारी के विरुद्ध किसी दूसरे व्यापारी ने अपनी दुकान पर घी, तेल आदि सब चीजें रक्खी तो सही, पर रक्खीं अलग–अलग। जिस चीज का

ग्राहक आया उसे वही चीज दी। इस व्यापारी के पास ग्राहक भी आवेंगे, वह धन भी कमाएगा और हंसी का पात्र भी नहीं बनेगा।

इसी प्रकार जो लोग साधु–असाधु में भेद न समझकर सोचते हैं कि–

बाना देख नफा ले भाई, जिसके अवगुन उसके माई।

हमें तो वेष से प्रेम है। कोई कैसा भी हो, हमें वेष की पूजा करनी है। ऐसा सोचकर जो गुण–अवगुण की पहचान नहीं करते, वे घी–तेल आदि मिला देने वाले व्यापारी की तरह काम करते हैं। जिसे जिस वेष से प्रेम हुआ, वह उसी वेष को मानने लगा। इससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

अब आप कहेंगे– हमें क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि आपको सोचना चाहिए कि मैं गुण का ग्राहक हूं। मैं कोरे वेष को नहीं मानूंगा। वेष के साथ गुण भी देखूंगा और गुणों को ही मानूंगा।

गुण देखे बिना केवल भेष को मानना अज्ञान है। बहुत–से लोग साधु कहलाते हुए भी असाधु के काम करते हैं। उनके लिए शास्त्र में कहा है –

पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूड कहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, असहग्घए हेई हुजाणएसु।।
कुसीललिंग इह धारइत्ता इसिज्झिय जीविय बूहइत्ता।
असंजए संजय–लप्पमाणे बिणिघावमागच्छइ से चिरं पि।।

मुनि का लिंग धारण करके कुशील का काम करने वाला ऋषीश्वरों की ध्वजा लेकर आजीविका करता है। ऐसा आदमी चिरकाल तक संसार में भ्रमण करेगा। जैसे पोली मुट्ठी के भीतर कुछ भी नहीं होता, वैसे ही वह साधु वेष है, जिसके साथ साधु के गुण नहीं हैं। इसीलिए कहा है–

भेष देख भूलो मती अलखजो आचार।

गुण देखकर पूजा करो। हां, अपना समभाव भी न छोड़ना और सोचना कि दुकान है तो उसमें घी, तेल आदि सभी वस्तुएं रहेंगी अपने–अपने ठिकाने। इसी तरह संसार में धर्मात्मा भी होंगे और पापात्मा भी रहेंगे। मगर जैसे घी–तेल आदि सब वस्तुएं एक नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार साधु–असाधु एक नहीं हो सकते। प्रत्येक वस्तु का आदर उसके गुण के अनुसार होना चाहिए। संसार में असाधु और पापी रहेंगे तो जरूर, मगर सावधान रहने वाला मनुष्य उनके धोखे में नहीं आयगा।

भगवान् नहीं चाहते थे कि स्वयूथ और परयूथ रहे। वे सबको सत्य का अनुयायी बनाना चाहते थे। लेकिन जब दुनिया एक न हो, असत्य न छोड़े, तब जो वास्तविक भिन्नता है, उसे प्रकाशित करना ही पड़ेगा। संसार में केवल झूठ या केवल सत्य ही होता तो कचहरी में मुकदमा चलने का कोई कारण ही नहीं था। मगर सत्य भी है और झूठ भी है, तब मुकदमा चलता है। सत्य और झूठ दोनों हैं, मगर न्यायाधीश का काम सत्य का अनुसंधान करके न्याय देना है। इसी प्रकार भगवान कहते हैं– चाहे कोई मेरे यूथ का नाम रख ले, मेरे यूथ का वेष पहन ले, परन्तु जिसकी श्रद्धा और प्ररूपणा सत्य है वही स्वयूथ है।

गौतम स्वामी ने, एक जीव एक समय में दो आयु बांधता है, इस अन्य यूथिकों की बात के विषय में प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया एक जीव एक समय में दो आयु नहीं बांधता। दो आयु एक समय में बांधने की बात मिथ्या है। इस पर गौतम स्वामी ने प्रश्न किया– प्रभो, फिर सत्य क्या है? भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! एक जीव एक समय में, एक ही आयु बांधता है। जिस समय इस भव का आयुष्य बांधता है, उस समय परभव का आयुष्य नहीं बांधता और जिस समय परभव का आयुष्य बांधता है, उस समय इस भव का आयुष्य नहीं बांधता। इस भव का आयुष्य बांधता–बांधता उस भव का आयुष्य नहीं बांधता और उस भव का आयुष्य बांधता–बांधता इस भव का आयुष्य नहीं बांधता। एक समय में एक जीव एक ही आयुष्य बांधता है, चाहे इस भव का बांधे, चाहे परभव का बांधे।

भगवान् का उत्तर सुनकर गौतम स्वामी ने कहा– प्रभो! आपका वचन तथ्य है। यह कहकर गौतम स्वामी तप और संयम में विचरने लगे।

यह मूल सूत्र की बात हुई। इसका रहस्य तो गम्भीर है, पर थोड़े में यह है कि एक समय में एक ही काम हो सकता है, दो काम नहीं हो सकते। जब ज्ञान का उपयोग होगा तब दर्शन का उपयोग नहीं होगा और जब दर्शन का उपयोग होगा तब ज्ञान का उपयोग नहीं होगा। अन्यतीर्थी एक समय में दो काम होना कहते हैं, इसीलिए भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है। यह बात वैसे तो जरा–सी मालूम होती है, पर आगे जाकर विशाल मतभेद उत्पन्न करती है।

कदाचित् कोई कहे कि हम एक साथ दो काम करते हैं, तो ज्ञानी उसे बतलाते हैं कि तुम्हारी दृष्टि दूसरी है और ज्ञान की दृष्टि दूसरी है। ज्ञान की दृष्टि से एक जीव के एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। कोई आदमी

नदी में जा रहा है। नदी का पानी ठंडा है और ऊपर से सूर्य तप रहा है। नदी में जाने वाला आदमी शायद यह सोचे कि मैं गर्मी–सर्दी, दोनों एक साथ अनुभव करता हूं; मगर उसका यह विचार मिथ्या है। दोनों का एक समय में अनुभव नहीं होता। जब सर्दी की ओर उपयोग जाएगा तब सर्दी का अनुभव होगा और जब गर्मी की ओर उपयोग लगेगा तो गर्मी का अनुभव होगा। जब नदी के पानी की तरफ उपयोग होगा तब गर्मी का उपयोग नहीं हो सकता। मतलब यह है कि एक समय में एक ही उपयोग होगा, दो नहीं हो सकते।

एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।

कोई एक साथ अनेक काम करने का दिखावा करते हैं, परन्तु ऐसा करने से एक भी काम ठीक तरह नहीं होता। व्याख्यान सुनते समय माला फेरने वाले या तो माला ही फेर सकते हैं या व्याख्यान ही सुन सकते हैं। जो व्याख्यान सुनते हैं वे उस समय माला नहीं फेर सकते और जो माला फेरते हैं वे उसी समय व्याख्यान नहीं सुन सकते। कई लोग सामायिक लेकर बैठते हैं, पर उसमें भी अनेक काम लेकर बैठते हैं। कौन जाने वे सामायिक करते हैं या अनेक काम करते हैं! यह बात समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए।

एक सेठ की पुत्रवधू ज्ञानी और बुद्धिमती थी। एक दिन उसका श्वसुर सामायिक लेकर बैठा था। इतने में एक आदमी बाहर से आया। उसने पूछा– सेठजी कहां गये हैं? मुझे उनसे बहुत आवश्यक काम है। उत्तर में सेठजी की बहू ने कहा– इस समय वे मोचियों के बाजार में जूते खरीदने गये हैं। वह आदमी मोचियों के बाजार में सेठजी को खोजने गया। उसने सारा बाजार खोजा, सेठजी कहीं दिखाई न दिये। वह लौट कर सेठजी के घर आया। कहने लगा– वहां तो सेठजी मिले नहीं और मुझे जरूरी काम है। तब बहू ने कहा– वे मोची–बाजार से लौट आये हैं, मगर सोंठ, मिर्च, पीपल आदि लेने के लिए पंसारी की दुकान पर गये हैं। वह आदमी भागा हुआ वहां गया। सेठजी वहां भी न मिले। बेचारा फिर लौटकर आया। सेठजी इधर घड़ी देख रहे थे कि कब सामायिक का समय पूरा हो और इसे समाप्त करूं। समय पूरा होने पर उसने सामायिक समाप्त की। इतने में ही वह आदमी घूम–फिर कर आ पहुंचा।

आते ही उस आदमी ने कहा– सेठजी, आज आपको खोजते–खोजते हैरान हो गया। आप कहां चले गये थे?

सेठजी बोले– मैं कहीं भी गया था! तुम्हें जो काम हो, कहो। अब तो मैं यहीं हूं। किस प्रयोजन से मुझे खोजते फिरे?

उसने अपना प्रयोजन बतलाया। सेठजी को जो–कुछ कहना था, कहा। वह आदमी वापस चला गया।

उस आदमी के लौट जाने पर सेठजी बहू पर बहुत क्रुद्ध हुए। बोले– मैं तुम्हें बड़े घर की बेटी समझता था। तुम कैसी हो, यह आज मालूम हुआ। तुमने झूठ बोल कर उस बेचारे को वृथा ही परेशान किया।

बहू शांत रही। उसने धीरे–से कहा– मैं और भी कभी झूठ बोली हूं? अगर पहले कभी झूठ नहीं बोली तो आज ही झूठ बोलने की उमंग कहां से आई? मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आप बात की खोज करते हैं और झूठ आपको प्रिय नहीं। अतएव आपने जो–कुछ कहा, वह आपके ही योग्य है। लेकिन आप यह विचार कीजिए कि मैं आज ही क्यों झूठ बोली?

सेठजी ने कहा– और कभी तो तुम झूठ नहीं बोली, मगर आज तो तुमने सफेद झूठ बोला। तुम जानती थी, मैं सामायिक में बैठा हूं। फिर भी तुमने उसे बताया कि मैं मोची और पंसारी की दुकान पर गया हूं। यह झूठ नहीं तो क्या है?

बहू ने कहा– आप इसे झूठ समझते हैं, मगर मैंने अपनी समझ में झूठ नहीं कहा। मैं पूछती हूं कि मेरा श्वसुर कौन है? यह आंखों से दिखाई देने वाला साढ़े तीन हाथ का पुतला अथवा इस पुतले के भीतर विराजमान अन्तर्यामी? अगर पुतला ही श्वसुर होता तो आदमी के मरने पर भी पुतला तो पड़ा ही रहता है। फिर क्यों कहा जाता है, कि ससुरजी दगा देकर चले गये? गया है अन्तर्यामी ही; पुतलाजी ही ससुरजी होते तो दुनिया को ऐसा कहने की क्या आवश्यकता थी? पुतला मौजूदा रहने पर भी अन्तर्यामी के अभाव में मनुष्य रोते हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि पुतला श्वसुरजी नहीं, किंतु इसमें का अन्तर्यामी है। आपका यह पुतला सामायिक में बैठा था, मगर अन्तर्यामी पहले तो मोची–बाजार में जूते खरीदने गया था, फिर पंसारी की दुकान पर चला गया था। क्या यह सत्य नहीं है? अगर यह सच न हो तो आप कह सकते हैं– तू झूठ बोली।

सेठजी को सत्य प्रिय था। उसने कहा– तुम्हारा यह कहना तो सत्य है। मेरा मन वहां गया था।

सेठजी को सत्य प्रिय था, इससे उन्होंने बात मंजूर कर ली। पर आज तो साधु कहलाने वाले भी हलाहल झूठ बोलते है। झूठ और फूट से ही कलियुग आया है। अगर झूठ और फूट निकल जाय तो आज भी सतयुग है।

सेठ ने स्वीकार किया कि मेरा मन वहां गया था। बहू ने कहा– मैं साढ़े तीन हाथ के इस पुतले को नहीं मानती। मैं अन्तर्यामी को मानने वाली हूं। इसी कारण मैंने पहली बार मोची–बाजार में और दूसरी बार पंसारी की दुकान पर जाना कहा था। सेठजी बोले– बस, अब ठीक है। मैं समझ गया। मोची के बाजार से लौटता हुआ मैं पंसारी की दुकान पर गया था। आज मुझे शिक्षा मिली। अब मैं अन्तःकरण को साफ करके ही सामायिक करूंगा। बहू ने कहा– वह दिन बड़ा ही धन्य होगा।

सेठ सुधर गया। कदाचित् आपका मन न रुके, तब भी सेठ की तरह सत्य बात को स्वीकार करो। एक समय में दो काम करना चाहोगे तो नहीं होंगे। कहावत है–

दो दो काम न होवे कन्ता, दो दो सुई न सीवे कंथा।
दो काम न होय सयाना, माल भी खाना मुक्ति भी जाना।

इसीलिए शास्त्र कहता है– एक समय में दो काम नहीं हो सकते। एक समय में एक जीव एक ही भव का आयुष्य बांध सकता है, दोनों का आयुष्य नहीं बांध सकता। लोग एक समय में अनेक काम करके सभी काम बिगाड़ते हैं। कहावत है–

माला मन से लड़ पड़ी, कहा फिरावे मोय,
जो घट सोधे मांहिलो राम मिलाऊं तोय।
माला पोई काठ की मांय पिरोया सूत,
माला बेचारी क्या करे फेरनहार कपूत।
माला का चाला करे हिरदे जपे न राम,
रामचरण सांची कहे ठगबाजी के काम।

इस तरह की ठगबाजी से काम चलने का नहीं। धर्म कार्य में एक तान – तन्मय होकर परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाने में ही बेड़ा पार है।

मिथ्यात्व के प्रभाव से प्रभावित लोग कहते हैं कि एक समय में दो काम होते हैं, लेकिन भगवान ने कहा– यह मिथ्या है। एक समय में एक ही काम हो सकता है, दो या अधिक नहीं। इस प्रकार अन्ययूथिकों के विषय में विचार करने के पश्चात् आगे स्वयूथिकों के संबंध में विचार करते हैं।

समय के प्रभाव से जैनों में भी अनेक बातें फैल रही हैं। उनके विषय में भी विचार करना है। विषय अन्तः कारण वाला हठ करता है, सत्य बात स्वीकार नहीं करता। किन्तु समताभाव वाला सत्य को समझते ही अपना लेता है। ज्ञानी का यही लक्षण है।

पार्श्ववर्ती–स्थविरों के प्रश्नोत्तर

मूल पाठः–

ते णं काले णं, ते णं समए णं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते एवं वयासी – थेरा सामइयं, न याणंति; थेरा सामाइयस्स अट्ठं न याणंति; थेरा पच्चक्खाणं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति; थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विवेकं ण याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं ण याणंति।

तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारे एवं वदासीजाणामो णं अज्जो सामाइयं, जांणामो णं अज्जो! सामाइयस्स अट्ठं जाव जाव जाणामो णं अज्जो! विउस्सग्गस्स अट्ठं।

संस्कृत–छायाः–

तस्मिन् काले तस्मिन् समये पार्श्वापत्यीयः कालास्यवेषी पुत्रो नाम अनगारो येनैव स्थविरा भगवन्तः, तेनैव उपागच्छति, उपागम्य स्थविरान् भगवतः एवमवादीत् – स्थविराः! सामायिकं न जानन्ति, स्थविराः सामायिकस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः प्रत्याख्यानं न जानन्ति, स्थविराः प्रत्याख्यानस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः संयमं न जानन्ति, स्थविराः संयमस्य अर्थं न जानन्तिः स्थविराः, संवरं न जानन्ति, स्थविराः संवरस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः विवेकं न जानन्ति, स्थविराः विवेकस्य अर्थ न जानन्ति; स्थविराः व्युत्सर्गं न जानन्ति, स्थविराः व्युत्सर्गस्य अर्थं न जानन्ति।

ततस्ते स्थविरा भगवन्तः कालास्यवेषिक पुत्र अनगार – एवमवादिषुः– जानीमः आर्य! सामायिकम् जानीमः आर्य! सामायिकस्यं अर्थम् यावत् जानीमः आर्य! व्युत्सर्गस्य अर्थम्।

शब्दार्थ

उस काल और उस समय पार्श्वनाथ के वंश के कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार जिस तरफ स्थविर भगवान् थे, उस तरफ गये। जाकर उन स्थविर भगवंतों से कहने लगे– हे स्थविरों! आप सामायिक को नहीं जानते, सामायिक के अर्थ को नहीं जानते। आप प्रत्याख्यान को नहीं जानते, प्रत्याख्यान के अर्थ को नहीं जानते। आप संयम को नहीं जानते, संयम के अर्थ को नहीं जानते। संवर को नहीं जानते, संवर के अर्थ को नहीं जानते। आप विवेक को नहीं जानते, विवेक के अर्थ को नहीं जानते। आप व्युत्सर्ग को नहीं जानते, व्युत्सर्ग के अर्थ को नहीं जानते।

तब स्थविर भगवंतों ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा– हे आर्य! हम सामायिक को जानते हैं, सामायिक के अर्थ को जानते हैं, यावत् हे आर्य! हम व्युत्सर्ग को जानते हैं और व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हैं।

व्याख्यान–

उस काल और उस समय में, जब भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष प्राप्त कर चुके थे और उसके 250 वर्ष बाद भगवान् महावीर का शासन चल गया था, भगवान् पार्श्वनाथ के चेलों की परम्परा के एक मुनि, जिनका नाम कालास्यवेषिपुत्र था, विचर रहे थे। उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षा धारण की थी। उसी समय भगवान् महावीर के शासन के स्थविर भी विचर रहे थे।

यहां स्थविर का अभिप्राय सूत्र–स्थविर समझना चाहिए। जो सूत्र के अर्थ का विशेषज्ञ हो और जनसाधारण को सूत्र का अर्थ समझा दे, उसे सूत्रस्थविर कहते हैं। जिसके मन में सूत्र का अर्थ अच्छी तरह जम गया हो, जो सूत्र के अर्थ को निश्चल रूप से धारण किये हुए हो, ऐसे विशिष्ट श्रुतवेत्ता को श्रुतस्थविर की पदवी प्राप्त होती है।

शास्त्र में स्थविर का बहुत माहात्म्य बतलाया है। स्थविर को शासन की उन्नति एवं रक्षा का ध्यान रहता है। यद्यपि स्थविर वह काम नहीं कर सकता जो तीर्थंकर, गणधर और आचार्य एवं उपाध्याय की आज्ञा से बाहर हो, तथापि वह आज्ञा में रहता हुआ शासन की उन्नति करता है। आजकल स्थविर को नेता या अंग्रेजी में 'लीडर' कहते हैं। नेता का काम राजा और प्रजा के बीच की अशांति मिटाकर शांति स्थापित करना है।

ठाणांगसूत्र के दसवें ठाणे (स्थान) में स्थविर का वर्णन है। उसमें ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, राष्ट्रस्थविर आदि का कर्तव्य बतलाते हुए कहा है

कि जो पुरुष ग्राम को स्थिर – व्यवस्थित करे, वह ग्रामस्थविर है, जो नगर को स्थिर करे वह नगरस्थविर है, और जो राष्ट्र में शांति स्थापना करे वह राष्ट्रस्थविर है।

ये सब लौकिक स्थविर हैं। सूत्रस्थविर लोकोत्तर स्थविर है। जो शासन के काम को व्यवस्थित करे, शासन की प्रभावना करे, महिमा बढ़ावे और शासन की मर्यादा से बाहर जाते हुए आचार्य–उपाध्याय को भी शासन की मर्यादा में स्थिर कर दे, वह सूत्रस्थविर है। यहां स्थविर का आशय उस स्थविर से नहीं, जिसके बाल पक गये हों, किंतु जो सूत्र और अर्थ का विशिष्ट जानकार हो और जिस पर संघ का विश्वास हो, वह सूत्रस्थविर है। शास्त्र में सूत्रस्थविर का बहुत सम्मान बताया है। स्थविर को 'स्थविर भगवान्' कहा है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने भगवान् महावीर के शासन के स्थविर को देखकर विचार किया– भी कोई तत्त्व जानते हैं या नहीं? अगर जानते हैं तो अलग क्यों विचरते हैं? अगर ये हमसे ज्यादा जानते हों तो हम उनमें मिल जावें और यदि हम उनसे ज्यादा जानते हों, तो वे हम में मिल जावें। अलग–अलग विचरना ठीक नहीं है।

संयमी का संयमी के साथ मिलना सरल है, किन्तु संयमी और असंयमी का मिलना कठिन है। संयमी सत्य–मार्ग की खोज करके संयम को अपनाएगा। असंयमी सदा से अशांति ही फैलाते आये हैं।

कालास्यवेपिपुत्र अनगार, स्थविर भगवान् के पास गये। उन्होंने स्थविर भगवान् से जो बात कही, वह ऊपर से तो विवेकपूर्ण नहीं जान पड़ेगी, लेकिन सरल आदमी हृदय के भावों को छिपाता नहीं है। वह जो बात भीतर होती है वही मुख से कह देता है। आज यह पद्धति हो गई है कि हृदय में कुछ और है, जबान पर कुछ और है।

कालास्यवेपिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् के पास जाकर कहा– 'स्थविर! तुम सामायिक नहीं जानते हो और सामायिक का अर्थ भी नहीं जानते हो। स्थविर! तुम न प्रत्याख्यान जानते हो, न प्रत्याख्यान का अर्थ जानते हो। स्थविर! तुम न संयम जानते हो, न संयम का अर्थ जानते हो। स्थविर! तुम न संवर जानते हो, न संवर का अर्थ जानते हो, स्थविर! तुम न विवेक जानते हो, न विवेक का अर्थ जानते हो। स्थविर! तुम न व्युत्सर्ग जानते हो, न व्युत्सर्ग का अर्थ जानते हो।'

जो इन छः बातों को और उनके अर्थ को नहीं जानता, वह साधु ही क्या! यदि इन छह बातों को संग्रह करके इन पर विचार किया जाय तो प्रकारान्तर से यही माना जाएगा कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् से कहा कि तुम साधु नहीं हो। इस प्रकार की कठोर बात सुनते ही साधारण मुनि का माथा ठनक सकता है। वह कहेगा– क्या हम साधु नहीं हैं? तुमने यह बात कही तो कही कैसे?

फिर कालास्यवेषिपुत्र मुनि क्या उच्छृंखल थे कि आव देखा न ताव और आते ही इस प्रकार की बात कह दी? नहीं, वे उच्छृंखल नहीं थे। वे भी चरमशरीरी और पुण्यशाली महात्मा थे। फिर उनके मुख से ये शब्द कैसे निकले?

मगर हम लोग शब्द तौलते हैं और शास्त्र भाव तौलते हैं। कालास्यवेषिपुत्र मुनि अपने अन्तःकरण के भाव छिपाना नहीं चाहते थे और स्पष्ट बात कहने वाले थे। उनके हृदय में जो बात थी, उन्होंने साफ–साफ कह दी। उन्होंने छल–कपट नहीं किया।

आप कहेंगे, छल–कपट नहीं किया सो तो, ठीक है मगर इस तरह पूछना सभ्यता से बाहर की बात तो है। शास्त्र आपके इस संदेहं का निवारण करते हैं। वे कहते हैं– सामायिक सूक्ष्म वस्तु है जो दिखती नहीं है। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने सोचा– वह सूक्ष्म वस्तु इन्हें दीखती है या नहीं? और ये सूक्ष्म वस्तु का अर्थ जानते हैं या नहीं? मुनि समझते थे, मैं तो सामायिक और उसका अर्थ जानता हूं, यह नहीं जानते। उन्होंने निश्चयपूर्वक स्थविर भगवान् से कहा– तुम यह छह बातें और इनका अर्थ नहीं जानते।

मुनि की इस बात से जान पड़ता है– ऐसा अनुमान होता है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने यह सोचा होगा कि अगर ये स्थविर सामायिक आदि जानते होते तो हमारे साथ क्यों नहीं मिल जाते? सामायिक आदि जानने वालों में यह फूट कैसे हो सकती है? इसके अतिरिक्त अगर ये सामायिक जानते हैं तो जो बात हमारे मन में आई, वह इनके मन में क्यों नहीं आई? इन्होंने हम से ही क्यों नहीं पूछा कि तुम सामायिक और उसका अर्थ जानते हो या नहीं? इन सब कारणों से मैं समझता हूं कि यह सामायिक नहीं जानते। मेरा अनुभव है कि ऐसा सोचकर ही कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् के समक्ष ये बातें कही हैं।

सामायिक तो आप भी करते होंगे, परन्तु सामायिक और सामायिक का अर्थ जानते हैं या नहीं? सामायिक किसे कहते है, यह प्रश्न आगे आने

वाला है। परन्तु सामायिक करने वालों में द्वन्द्व देखकर एक तीसरा आदमी यह कह सकता है कि तुम सामायिक नहीं जानते। अगर सामायिक को जानते होते तो ऐसा द्वन्द्व क्यों मचाते?

अब रही सभ्यता की बात, सो सभ्यता और मीठी बात करने वाले सभ्य ही होते हैं और सही मगर कड़ी बात कहने वाले असभ्य ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। (सम्भव है स्थविर भगवान् के ज्ञान का पता लगाने के लिए मुनि ने यह बात कही हो और चारित्र की उच्चता अर्थात् कषाय की मंदता है या नहीं, यह जांचने के लिए कहने का यह ढंग अख्तियार किया हो! उन्होंने शायद यह सोचा हो कि इस प्रकार कहने से स्थविर भगवान् अगर उत्तेजित हो जाएंगे तो समझा जायगा कि इन में चरित्र की उच्चता नहीं है। अगर शांत रहेंगे तो उच्च चारित्रवान् होने का प्रमाण मिल जायगा। इस प्रकार परीक्षा लेने के और भी उदाहरण कहीं–कहीं मिलते हैं।

–सम्पादक)

कालास्यवेपिपुत्र मुनि ने किस अभिप्राय से यह बात कही, सो निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। मगर पूर्वोक्त कारणों से ही उन्होंने ऐसा कहा होगा। इससे यह शिक्षा अवश्य मिलती है कि सामायिक जानने वालों को मिलकर रहना चाहिए।

मुनि की इस प्रकार की रूखी बात सुनकर स्थविर भगवान् के मन में जरा–सा भी खेद न हुआ। वे तनिक भी क्षुब्ध नहीं हुए। उन्होंने प्रीतिपूर्ण उत्तर दिया– हे आर्य! हम सामायिक भी जानते हैं और सामायिक का अर्थ भी जानते हैं। इसी प्रकार व्युत्सर्ग तक की सब बातें और उनका अर्थ भी जानते हैं।

कालास्यवेपिपुत्र मुनि के प्रश्न का उत्तर स्थविर भगवान ने कितनी मीठी भाषा में दिया है! स्थविर ने उन्हें 'आर्य' कह कर संबोधन किया है। 'आर्य' किसे कहते हैं, यह जान लेना चाहिये।

आरात् सकल हेय धर्मेभ्यः – इति आर्यः।

जो सब बुरे काम छोड़ कर अच्छे काम करता है, वह आर्य कहलाता है।

मूलपाठ

प्रश्न– तते णं से कालासवेरियपुत्ते अणगारे ते थेरे भगवंते एवं वयासि – जइ णं अज्जो तुब्भे जाणह सामाइअं, जाणह सामाइअस्स

अट्ठं, जाव – जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं; के भे अज्जो! सामाइए, के भे अज्जो! सामाइअस्स अट्ठे? जाव – के भे विउस्सग्गस्स अठ्टे?

उत्तर– तए णं थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासि – आया णे अज्जो सामाइए, आया णे अज्जो सामाइअस्स अट्ठे, जाव–विउस्सग्गस्स अट्ठे।

प्रश्न– तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वदासी – जइ भे अज्जो! आया सामाइए,आया सामाइअस्स अट्ठे एवं जाव – आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोह–माण–माया–लोभे किं अट्ठं अज्जो! गरहह?

उत्तर– कालासवेसियपुत्त! संजमट्ठाए।

प्रश्न– से भंते! किं गरहा संजमे? अगरहा संजमे?

उत्तर– कालासवेसियपुत्त! गरहा संजमे,णो अगरहा संजसे। गरहा वि य णं सब्वं दोसं पविणेति, सव्वं वालियं परिणाए। एवं खु णे आया संजमे उवहिते भवति, खु णे आया संजमे उवचिए भवति, एवं खु णे आया संजमे उवट्ठिते भवति।

संस्कृत–छायाः–

प्रश्न –ततः सः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः तान् स्थविरान् भगवतः एवमवादीत् – यदि आर्य! यूयं जानीत सामायिकम्, जानीत सामायिकस्यार्थम्, यावत् जानीत व्युत्सर्गस्यार्थम्, किं भवतामार्य! सामायिकम्? किम् भवतामार्य! सामायिकस्यार्थः? यावत् किं भवतामार्य! व्युत्सर्गस्यार्थ?

उत्तर– ततस्त स्थविरा भगवन्तः कालास्यवेषिपुत्रमनगारमेवमवादिषुः – आत्मा अस्माकम् आर्य! सामायिकम्, आत्मा अस्माकमार्य ! सामायिकस्यार्थः, यावत् व्युत्सर्ग स्यार्थः।

प्रश्न– ततः स कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः स्थविरान् भगवतः एवमवादीत् – यदि भवताम् आर्य! आत्मा सामायिकम्, आत्मा सामायिकस्यार्थः, एवं यावत् आत्मा व्युत्सर्गस्य अर्थः, अपहृत्य क्रोध–मान–माया–लोभान् किमर्थमार्य! गर्हत?

उत्तर– कालास्यवेषिकपुत्र! संयमार्थ तया।

प्रश्न– तद् भगवन्! किं गर्हा संयमः, अगर्हा संयमः?

उत्तर– कालास्यवेषिकपुत्र! गर्हा संयमः, नो अगर्हा संयमः। गर्हाऽपि च सर्व दोषं प्रविनयति, सर्वा बालतां परिज्ञाय। एवं खलु अस्माकम् आत्मा

संयमे उपहितो भवति, एवं खलु अस्माकम् आत्मा संयमे उपचितो भवति, एवं खलु अस्माकम् आत्मा संयमे उपस्थितो भवति।

शब्दार्थ

प्रश्न— तब कालास्यवेषिकपुत्र नामक अनगार ने उन स्थविर भगवंतों से इस प्रकार कहा— हे आर्य! अगर तुम सामायिक को, सामायिक के अर्थ को यावत् — व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हो, तो हे आर्य! सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ क्या है? यावत् हे आर्य! व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है?

उत्तर— तब स्थविर भगवंतों ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा— आर्य! हमारा आत्मा सामायिक है, हमारा आत्मा सामायिक का अर्थ है, यावत् यही व्युत्सर्ग का भी अर्थ है।

प्रश्न— तब यह कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविरों भगवंतों से इस प्रकार कहा— हे आर्य! अगर आत्मा सामायिक है, आत्मा सामायिक का अर्थ है और इसी प्रकार यावत् आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो तुम क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके किसलिए क्रोध आदि की गर्हा — निंदा करते हो?

उत्तर— कालास्यवेषिपुत्र! संयम के लिए।

प्रश्न— भगवन्! तो क्या गर्हा संयम है, या अगर्हा संयम है?

उत्तर— कालास्यवेषिपुत्र! गर्हा संयम है, अगर्हा संयम नहीं है। गर्हा सब दोषों को दूर करती है— आत्मा सर्व मिथ्यात्व को जानकर गर्हा द्वारा सब दोषों का नाश करता है, इस प्रकार हमारा आत्मा संयम में स्थापित होता है, इस प्रकार हमारा आत्मा संयम में पुष्ट होता है, इस प्रकार हमारा आत्मा संयम में उपस्थित होता है।

व्याख्यान—

स्थविर भगवान् का उत्तर सुनकर कालास्यवेषिपुत्र मुनि सोचने लगे कि यह स्थविर मेरी कही सभी बातों को जानना स्वीकार करते हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने कहा— अगर आप मेरी कही उक्त छहों बातों और उनके अर्थ को जानते हैं तो बताइए सामायिक और सामायिक का अर्थ क्या हैं? इसी प्रकार प्रत्याख्यान आदि व्युत्सर्ग तक क्या हैं? और उनका अर्थ क्या है?

कालास्यवेषिपुत्र अनगार के प्रश्न के उत्तर में स्थविर बोले— हमारी समझ से आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार व्युत्सर्ग पर्यन्त सभी बातों का अर्थ आत्मा ही है। प्रत्याख्यान भी आत्मा है और प्रत्याख्यान का अर्थ भी आत्मा है। संयम भी आत्मा है और संयम का

अर्थ भी आत्मा ही है। संवर, विवेक और व्युत्सर्ग भी आत्मा हैं और उनका अर्थ भी आत्मा ही है।

स्थविर भगवान् का यह उत्तर सुनकर मुनि चकित रह गये कि मैंने छह बातों को और उनके अर्थ को लेकर बारह प्रश्न किये थे, मगर इन्होंने सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर से समाधान कर दिया!

स्थविर भगवान् ने नय की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण उत्तर दिया है। मगर उत्तर को समझने के लिए प्रश्न को समझ लेना आवश्यक है। प्रश्नों को समझ कर यह देखना चाहिए कि सबका उत्तर एक ही हो सकता है या नहीं?

सामायिक का विवेचन

सबसे पहले मुनि ने सामायिक के विषय में प्रश्न किया है। शत्रु–मित्र पर समभाव रखना सामायिक है। दोस्त और दुश्मन को सरीखा समझना ही सामायिक है। आप सोचते होंगे कि शत्रु और मित्र पर समान भाव कैसे संभव है? मगर ऐसा समझना मोह–दशा का परिणाम है। मोह के विकार से ही शत्रु और मित्र में अन्तर दिखाई पड़ता है। मोह के कटते ही यह अन्तर कट जाता है। अगर आप यह समझेंगे कि यह अंतर नहीं कट सकता, तो फिर आप सच्ची सामायिक भी नहीं कर सकेंगे। केवल साधु का वेष धारण करने से या कपड़े उतार कर बैठ जाने से ही सामायिक नहीं होती, किन्तु शत्रु–मित्र पर समान भाव रखने से ही सामायिक होती है। गीता में भी कहा है–

साधुष्वपिच पापिषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

अर्थात् साधु तथा पापी इनमें समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है।

आप कहेंगे, क्या कभी यह सम्भव है कि दोस्त और दुश्मन एक–से प्रतीत होने लगें? मगर ऐसा न होता– ऐसा होना असम्भव होता– तो यह उपदेश ही क्यों दिया जाता? संसार में दोस्त ही दोस्त होते या दुश्मन ही दुश्मन होते तो भी समभाव के उपदेश की आवश्यकता न होती। मगर दुनिया में दोनों हैं। इसी से इस उपदेश की सार्थकता है। इस उपदेश का पालन करने से ही वास्तविक सामायिक हो सकती है। दुनिया में लोहा और सोना, दोनों रहेंगे, मगर पारस का काम सोना और लोहे का भेद मिटाकर लोहे को सोना बनाना है। इसी प्रकार संसार में शत्रु भी रहेंगे और मित्र भी रहेंगे, परन्तु जैसे पारस लोहे और सोने का भेद मिटाकर लोहे को सोना बना देता है उसी तरह आप भी भेदभाव भूल जाएं – शत्रु–मित्र आपको एक–से दिखाई देने लगें, तब आप सच्ची सामायिक के धारक बन सकेंगे। कोई भी शत्रु न दिखाई दे, सब मित्र ही मित्र मालूम हों, तभी सामायिक है। पारस लोहे को लोहा ही

रहने दे तो उसकी क्या तारीफ! अगर सोने को लोहा बना दे तो और बुराई है! उसकी तारीफ तो लोहे को सोना बनाने में है। इसी प्रकार जो शत्रु–मित्र में भेद समझता है उसकी क्या तारीफ? अगर मित्र को शत्रु समझता है, और बुराई है। तारीफ तो तभी है कि मित्र को मित्र मानने के साथ शत्रु को भी मित्र माने।

संसार में मित्र उसे माना जाता है जो फायदा पहुंचाता हो और शत्रु वह समझा जाता है जो हानि पहुंचाता हो। लेकिन ज्ञानी कहते हैं, अगर सब जीव लाभ पहुंचाते हों तब तो सभी को मित्र मानोगे न? आप कहेंगे, सब प्राणी लाभ ही पहुंचाते हों, यह कैसे माना जा सकता है? मगर गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर सोमल ने धधकते हुए अंगार रख दिये। यह उसने मुनि का फायदा किया या हानि की? जब उस मुनि ने अंगार रखने को भी अपना फायदा माना तो आप किसके चेले हैं? कोई आदमी आपको कुछ भी हानि पहुंचाए, मगर सोमल की तरह सिर पर आग रखने के समान कार्य तो नहीं करेगा। फिर भी आप उसे अपनी हानि करने वाला कहते हैं और सिर पर अंगार रखने वाले को अपना मित्र समझने वाले गजसुकुमार के अनुयायी बनना चाहते हो! अगर आप हानिकर्ता को भी अपना लाभकर्ता समझेंगे तो फिर आपका शत्रु कोई भी नहीं रह जाएगा।

क्षमा धर्म और क्रोध पाप माना जाता है। पर क्षमा किसे कहते हैं और कहां होती है, यह समझ लेना चाहिए। कहावत है–

जी जी कर बतलावतां, काना क्रोध न आय।
आड़ा टेढ़ा बोलता, खबर खम्या की थाय।।

जब कोई जी, जी, कर रहा हो तब क्षमा का पता नहीं लग सकता। क्षमा का पता चलता है तब, जब कोई आढ़ा–टेढ़ा बोले और उस आढ़ी–टेढ़ी बात को सहन कर लिया जाय। आप मुझे 'घणी खमा' करें तब मेरी क्षमाशीलता की परीक्षा नहीं हो सकती! किसी की कठोर बात सह लेने पर ही क्षमा की परीक्षा होती है।

हम साधु हैं। हमारे ऊपर सामायिक का बोझ ज्यादा है। लेकिन आप पर क्या कुछ भी बोझ नहीं है? आप अपनी बात सोचिए। आप मेरे पास क्यों आये हैं? हमारे पास धन–दौलत नहीं है, जो आप धन–दौलत के लिए आये हो। मगर हमारे पास जो थोड़ी–बहुत सम्पत्ति है, उसके सामने धन–दौलत तुच्छ है। हमारे पास सामायिक की शिक्षा है। अतएव उसी को ग्रहण करो। सोचो– हे आत्मन्! तुझे जो शत्रु दिखाई देते हैं, वह तेरा ही

विकार है, और कुछ भी नहीं है। आप प्रतिदिन सामायिक करते हैं, मगर समभाव के मौके पर आप चूक गये, आप को समभाव का ध्यान न रहा तो आपने सामायिक क्या की! शस्त्र शत्रु के लिए ही रखा जाता है। शत्रु के आने पर शस्त्र फेंक दिया तो यह कायरता होगी। यों तो आप क्षमा करते रहें, मगर जब सामने विरुद्ध बात आवे जब क्षमा को भूल कर क्रोध से जलने लगो तो यह शत्रु के आने पर हथियार फेंकने के समान ही है। विरोधी बात उपस्थित होने पर जो क्षमा धारण करता है और विरोधी को भलाई करने वाला मानता है, वही सच्चा क्षमाशील कहलाता है।

विपरीत बात कहना गाली समझा जाता है। कोई किसी को नीच, पापी आदि कहे तो जिसे कहा जायगा वह इसे गाली मानेगा। अगर दयालु या क्षमावान् कहें तो गाली नहीं समझी जायगी। इस प्रकार विपरीत बात ही गाली समझी जाती है। मगर ज्ञानियों का कथन है कि गाली के कारण किसी को शत्रु समझने की क्या आवश्यकता है? ज्ञानियों का विचार इस प्रकार होता है:– अगर कोई मेरे लिए नीच शब्द का प्रयोग करता है तो वह क्रोध को नीच कह रहा है। मुझे सचमुच क्रोध है तो मुझे क्रोध को हटा देना चाहिए। अगर मुझमें क्रोध नहीं है तो वह अपने–आप को ही गाली दे रहा है। इसमें मुझे बुरा मानने की क्या बात है? आपके सिर पर काली पगड़ी नहीं है, फिर भी कोई कहता है कि आपने काली पगड़ी बांधी है। अगर आप उसके कहने का बुरा मानते हैं तो समझना चाहिए कि आपको अपनी पगड़ी पर विश्वास ही नहीं है। आप स्वयं अपनी पगड़ी का अपमान कर रहे हैं। अगर आपके सिर पर काली पगड़ी है तो उस दशा में भी आपको बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है। जब आपने काली पगड़ी बांधने में कोई बुराई नहीं मानी तो फिर काली पगड़ी को काली पगड़ी कहना कौन–सी बुराई हो गई? अगर आपको दूसरे का कहना बुरा मालुम होता है तो काली पगड़ी उतार कर फैंक दीजिए और समझ लीजिए कि यह हमें उपदेश दे रहा है। इस प्रकार की धारणा करने पर दुश्मन भी दोस्त हो जायगा। तात्पर्य यह है कि समभाव को सामायिक कहते है।

अब सामायिक के अर्थ का प्रश्न है। यहां अर्थ से प्रयोजन का मतलब लेना चाहिए। अर्थात् सामायिक का क्या प्रयोजन है? उदाहरण के लिए किसी ने पूछा– रुपया क्या होता है? आप कहेंगे– चांदी का चपटा गोल सिक्का होता है। फिर उसने पूछा – रुपये का क्या प्रयोजन है? उससे क्या मतलब निकलता है? तब आप उत्तर देंगे– वह विनिमय (लेन–देन) के काम

आता है। उसके बदले में अन्य वस्तु खरीदी जाती है। यही प्रश्न सामायिक के विषय में पूछा गया है कि सामायिक का प्रयोजन क्या है?

सामायिक का प्रयोजन आते हुए कर्मों को रोकना है। सामायिक से समभाव होता है और समभाव होने पर पहले जो पापकर्म आते थे, वे रुक जाते हैं। यह सामायिक का प्रयोजन है।

प्रश्न हो सकता है कि सामायिक द्वारा पहले के कर्मों की निर्जरा किस प्रकार हो सकती है? समभाव अभी धारण किया है। वह पूर्वकर्मों के क्षय का कारण कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि पहले जो पाप–कर्म किया था उसका कारण विषमभाव था। जिस मन में विषमभाव आया था, उसी मन में समभाव आने से पाप का नाश हो सकता है। कुपथ्य से रोग होता है, पर पथ्य खाने से रोग तो नहीं ही होगा, साथ ही पहले का रोग भी घटेगा। इसी प्रकार सामायिक से नये पापों का आना रुक जाता है और पहले के पाप कट जाते हैं।

इस रीति से सामायिक करने से आत्मा को सब प्रकार का आनंद प्राप्त होगा। जिन लोगों के लिए धन ही सर्वस्व है, जो धन को ही सर्वश्रेष्ठ और सुख का एकमात्र साधन मानते हैं, वे कहेंगे– क्या सामायिक से दुनिया की गरज पूरी हो सकती है? क्या सामायिक करने से हमें धन मिल जायगा? इस प्रकार लोगों को धन की चाह लग रही है। अगर एक सामायिक के बदले एक रुपया दिया जाने लगे तो सामायिक करने वालों का शायद पार न रहे! लोग सामायिक का प्रत्यक्ष और भौतिक फल देखना चाहते हैं। वे प्रत्यक्ष फल के लिए ललचा जाते हैं। इसी कारण वे भविष्य के महान् लाभ से वंचित रह जाते हैं। मगर प्रत्यक्ष फल पर नजर रखकर परम्परा से होने वाले लाभ को न देखना कैसी बात है, यह एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

एक मूर्ख आदमी को जंगल में एक कीमती हीरा मिल गया। यह घटना एक जौहरी देख रहा था। उसने हीरा देखा और समझ लिया कि हीरा कीमती है हीरा इसे मिला है, मगर मैंने आज तक ऐसा हीरा कभी नहीं देखा था। आज देखने को मिला, मेरे लिए यही क्या कम खुशी की बात है? अगर मैं सज्जन हूं तो इसकी कुछ भलाई करूं, ऐसा सोच कर जौहरी ने उस मूर्ख से कहा– 'यह चीज बहुत बढ़िया है।' जिस चीज के लिए हम तरसते हैं, वैसी चीज तुझे मिली है।'

मूर्ख बोला—अच्छा, यह ऐसी चीज है? क्या काम आती है यह?

जौहरी— इससे अन्न, वस्त्र, मकान आदि सभी कुछ मिल सकता है। इस चीज के मिलने से दुनिया की सभी चीजें दौड़कर आ जाती हैं।

जौहरी ने जो—कुछ कहा था, ठीक ही था। पर जिसे हीरा मिला था, वह निरा मूर्ख था। उसने जौहरी से कहा— अगर यह ऐसी चीज है तो मैं इसे संभाल कर रखूंगा।

मूर्ख ने यह कहा अवश्य, मगर जौहरी को विश्वास नहीं हुआ। उसने सोचा— यह मूर्ख है। कहीं इस अनुपम रत्न का अपमान न कर डाले ! जौहरी यह सोचकर वहीं छिपकर बैठ गया।

मूर्ख थोड़ी देर बाद बोला— हीरा, मैंने भोजन किया है। मेरा मुंह खराब हो रहा है। थोड़ा बोरकुटी का चूर्ण तो दो।

क्या इस प्रकार मांगने से हीरा कुछ दे सकता था? पर न देने से प्रत्यक्ष परिणाम देखने वाला मूर्ख उस हीरे पर अश्रद्धा करता था। उसे जौहरी की कही हुई सब बातों पर अश्रद्धा होती थी। इस प्रकार उसने एक—दो बार चूर्ण मांगा, जब हीरे ने नहीं दिया तो उसने हीरा से कहा— तू चूर्ण नहीं देता तो न सही, मगर एक—दो काम तो कर दे। मैं तुझ से एक कहानी पूछता हूं, उसका जवाब दे। 'एक हाथ के देवरे में चार हाथ का देव' बोल यह सही है?

बेचारा हीरा क्या बोलता! हीरे भी कहीं बोलते हैं! तब उसने सोचा— मेरे लिए यह तो एक उपाधि हो गई। बनिये ने मुझे बहम में डाल दिया। अब तक मैं शांति में था, अब एक अशांति पैदा हो गई। ऐसी चीज रखने से क्या फायदा?

मूर्ख की कमर में गोफन बंधी थी। उसने हीरा गोफन में रखा और गोफन घुमाते—घुमाते कहने लगा— ऐसा जाना कि फिर कभी मेरी नजर में न आना। जौहरी बैठा—बैठा सब हाल देख रहा था। वह गया और हीरा उठा लाया। उसने बाजार में उसे बेच दिया और मालामाल हो गया। सामायिक भी ऐसी ही अमूल्य वस्तु है। कहा भी है:—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिए।

चक्रवर्ती ने छह खण्ड की महान् ऋद्धि त्याग कर सामायिक तथा सर्वविरति को ग्रहण किया। जिसके लिए चक्रवर्ती अपने विशाल राज्य का हंसते—हंसते परित्याग कर देता है, उस सामायिक का माहात्म्य कहां तक कहा जाय! सामायिक द्वारा शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, लेकिन होती है

उसके अपने तरीके से। वह मूर्ख जैसे हीरे से बोरकुटी चूर्ण चाहता था, वैसे कुछ भी नहीं मिलता। और जब अनन्त शाश्वत सुख मिलेगा तब क्या मिलना शेष रह जाएगा? सामायिक के द्वारा बोरकुटी का चूर्ण चाहना तो ऐसा ही है जैसे कोई हीरे को चखकर उसमें मिश्री की मिठास खोजने लगे। अतएव जिसने सामायिक करके उससे कोई तुच्छ चीज चाही, उसने सामायिक और सामायिक का अर्थ नहीं समझा। सामायिक से जो लोकोत्तर लाभ होता है, उसके आगे संसार के सभी लाभ तुच्छ हैं। सामायिक होने पर सामायिक लाभ तो इसी प्रकार आ जाते हैं, जैसे गेहूं के साथ भूसा आप ही आ जाता है।

जब सामायिक इतनी अमूल्य वस्तु है तो उसके बदले कोई तुच्छ चीज चाहना कैसे ठीक कहा जा सकता है? अगर कोई आपकी सामायिक खरीदना चाहे तो आप कितने में बेचेंगे? कहते हैं– एक बार राजा श्रेणिक ने पूनिया श्रावक की सामायिक खरीदनी चाही थी। श्रेणिक ने सोचा– मुझे पूनिया श्रावक की सामायिक खरीदनी है, अतः उसे अपने पास न बुलाकर मैं स्वयं उसके पास जाऊं। यह सोचकर राजा श्रावक के पास गया। पूनिया उस समय सामायिक में बैठा था। राजा के जाने पर भी वह उसी तरह बैठा रहा। राजा ने सोचा– इसे कोई गरज नहीं है। गरज मुझे है। इसी कारण यह बैठा है, उठता भी नहीं है। राजा ने कहा– श्रावकजी! मुझे एक चीज की जरूरत है, इसीलिए आपके पास आया हूं।

पूनिया ने उत्तर दिया– आप मगध के स्वामी हैं। इसी कारण मेरे भी स्वामी हैं। मेरे घर ऐसी क्या चीज है, जिसकी जरूरत आपको हुई?

राजा – आप जो करके बैठे हैं, उसकी मुझे आवश्यकता है।

पूनिया – क्या सामायिक की?

राजा – जी हां।

पूनिया – आपसे यह बात किसने कही?

राजा – स्वयं प्रभु महावीर स्वामी ने।

पूनिया – ठीक है। यह सामायिक मेरी नहीं है। मैं भगवान् से ही यह लाया हूं। अतएव भगवान् की सेवा में चलकर पूछ लें कि सामायिक की क्या कीमत है?

राजा – जैसी आपकी इच्छा।

राजा श्रेणिक पूनिया श्रावक के पास से उठकर भगवान् के पास गया। भगवान् से बोला– प्रभो! पूनिया श्रावक सामायिक देने को तैयार है

और मैं लेना चाहता हूं। आप बीच में पड़कर सौदा तय कर दीजिए। आप सामायिक की जो कीमत बताएंगे, मैं दे दूंगा।

भगवान् ने पूछा– तुम्हारे पास कितनी सम्पदा है?

राजा– अगर मैं अपना खजाना खोल दूं तो सोने चांदी की बावन पहाड़ियां खड़ी हो जाएंगी।

भगवान् – तुम्हारी यह धन–सम्पत्ति तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। मूल्य तो अलग ही रहा! सामायिक इतनी मूल्यवान् वस्तु है !

जब आप सामायिक कर रहे हों, उस समय कोई लाख रुपये देने लगे तो क्या आप उन्हें ले लेंगे? साधु और साध्वी सदा सामायिक में रहते हैं। उन्हें कोई कीमती गहने देने लगे तो क्या वे उन्हें ग्रहण करेंगे? वे रोटी की भिक्षा मांगते हैं, पर बिना मांगे रत्न मिलने पर भी उसे नहीं लेंगे। वास्तव में सामायिक इतनी कीमती है कि बहुमूल्य रत्न भी इसके आगे तुच्छ हैं। आप दो घड़ी सामायिक करके सोचते होंगे कि सामायिक पूरी हो गई और हम स्वतन्त्र हैं। लेकिन जो रत्न आपके पल्ले बंध चुका है, क्या आप उसे ढीला छोड़ देंगे? आप उस रत्न को संभाल कर तिजोरी में रखेंगे या नहीं? फिर अमूल्य सामायिक क्या उससे कम है? आपका अहोभाग्य है कि आप अमूल्य सामायिक पा सके हैं। उसे सुरक्षित रखना और मन शान्त रखना। आप सामायिक करके सर्वविरत की भांति नहीं रह सकते, तो भी देशविरत (श्रावक) की भांति रहना। घड़ी में एक बार चाबी दी जाती है और वह देर तक चलती रहती है। जो घड़ी चाबी देना बन्द करते ही बन्द हो जाती है, वह बिगड़ी हुई मानी जाती है। दो घड़ी की सामायिक आपके दिल को चाबी लगाने के समान है। सामायिक के संस्कार जीवन–व्यवहार में सब जगह पाये जाने चाहिएं। आपको सोचना चाहिए– मैंने सामायिक पाई है तो घर के धंधे में पड़कर उसे निष्फल न होने दूं, अर्थात् झूठ बोलकर, मायाचार करके या शत्रु–मित्र की खोटी कल्पना करके सामायिक से च्युत न होऊं। ऐसा न हो कि सामायिक से उठते ही दुकान पर बैठे तो सामायिक को भूल गये और यह याद रहा –

आओ मेरी हाट में, देऊं तेरी टाट में।

सामायिक इस प्रकार करो कि जीवन सफल हो जाय और सामायिक का प्रयोजन पूरा हो जाय। सामायिक में मन शान्त रखो और सामायिक से

खुले होने पर भी सामायिक के अर्थ के विरुद्ध काम न करो। यही सामायिक का अर्थ है।

यहां यह शंका उठाई जा सकती है कि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, इसी प्रकार प्रत्याख्यान, यावत् व्युत्सर्ग भी आत्मा ही है और आत्मा ही उनका अर्थ है, तो सामायिक आदि भेद करने की क्या आवश्यकता थी? यह बात वास्तव में समझने योग्य भी है। पहले कहा जा चुका है कि प्राणीमात्र पर समभाव होना सामायिक है। शत्रु–मित्र के भेद का जो भास हो रहा है, उसका मिटना और शत्रु–मित्र का मित्र रूप में दिखाई देना ही सामायिक है। इतना ही नहीं, किन्तु संसार के सब पदार्थों पर समभाव आ जाना – संसार के पदार्थों के विषय में जो विषमता प्रतीत हो रही है और जो द्वन्द्व मच रहा है, उसका मिट जाना – सामायिक है।

आप कह सकते हैं, संसार में विरोधी पदार्थ रहेंगे ही। धर्म भी रहेगा और पाप भी रहेगा। अच्छाई–बुराई, शत्रु–मित्र आदि सभी रहेंगे। यहां तक कि संसारी और सिद्ध, दोनों रहेंगे। फिर सबको समान मानना कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिए कहा है –

जीवादिक नव तत्त्व हिये धर हेय ज्ञेय समझीजे।
तीजो उपादेय ओलख ने समकित निर्मल कीजे रे।

आप जिसे पाप कहते हैं, ज्ञानी उसे ही पुण्य में परिणत कर लेते हैं। वे उस पाप को भी पुण्यमय देखते हैं। यों तो पुण्य, पुण्य ही है और पाप, पाप ही। लेकिन जिसे आप पुण्य मानते हैं, ज्ञानी उसे पाप समझते हैं और जिसे आप पाप समझते हैं, ज्ञानी उसमें पुण्य निकालते हैं। मान लीजिए, आपको एक पैसा या एक हीरा मिल गया। आप उसे पुण्य का फल समझेंगे। लेकिन वह पैसा या हीरा आप ज्ञानी को देने लगें तो वे उसे पाप का फल समझ कर कहेंगे – यह जंजाल कहां से आ गया! आप गृहस्थ हैं, फिर भी वही चीज, जिसे आप पुण्य का फल समझते हैं, कभी पापरूप मानी जाती है या नहीं? आप सामायिक में बैठे हैं। उस समय कोई आदमी आपको हीरा देने लगे तो आप लेंगे? उस समय आप यही कहेंगे – यह हीरा तुच्छ है। आप ऐसा कहेंगे तब, जब सच्ची सामायिक होगी। सच्ची सामायिक न हुई तो लोभ में पड़ जाओगे। सोचोगे – हीरा तो ले ही लेना चाहिए। सामायिक खण्डित होता है तो प्रायश्चित्त कर लेंगे या दूसरी कर लेंगे! मतलब यह है कि जिस वस्तु को एक समय आप पुण्यरूप मानते हैं, उसी को दूसरे समय

पापरूप मानने लगते हैं। इसी तरह ज्ञानी पाप में से पुण्य निकालते हैं और जिसे आप पाप समझते हैं, उसमें से पुण्य निकालते हैं।

एक साधु में तप–तेज बहुत है। साधु तो सदैव सामायिक में रहते हैं। यदि साधु को कोई गाली दे तो साधु क्रोध करेगा? नहीं। साधु यह सोचेगा कि मैं सामायिक में हूं। मुझे समभाव रखना ही उचित है। यह मेरा शत्रु नहीं, मित्र है। इस प्रकार समभाव धारण करने से पाप भी पुण्य में परिणत हो जाता है।

मतलब यह है कि सामायिक जब तक आत्मरूप न बन जाय, तब तक वह कहने–भर को है। वह सच्ची सामायिक नहीं है। शत्रु–मित्र के भेद में तो सारा ही संसार भूल रहा है। मगर जो इससे अपने–आप को बचाता है, वह सच्ची सामायिक करता है।

समभाव आने से सामायिक तो आई, पर सामायिक से लाभ क्या हुआ? अगर सामायिक से कुछ लाभ न हुआ तो व्यापार व्यर्थ ठहरता है। सामायिक से क्या लाभ होता है, यह बतलाने के लिए ज्ञानी कहते हैं कि शत्रु–मित्र पर विषमभाव होने से आत्मा पापकर्म के द्वारा नीचे गिर रहा था। सामायिक से वह पाप रूक जाता है और आत्मा का नीचे गिरना रूक जाता है।

यह सामायिक का अर्थ हुआ। अब यह देखना चाहिए कि असल में पाप क्या है? गरीब या धनवान् होना पाप नहीं है, यह तो पाप पुण्य का फल है। शत्रु पर द्वेष आना और मित्र पर राग होना पाप है। राग–द्वेष ही असल में पाप हैं। सामायिक से शत्रु–मित्र का भेद मिट जाने पर यह पाप रुक जाता है। राग–द्वेष एवं विषमभाव सम्बन्धी पाप आत्मा में आता है। उसका रुक जाना ही सामायिक है। इस पाप को रोकने वाली सामायिक प्राप्त करने के लिए बड़े–बड़े राजा–महाराजाओं ने छह खंड की ऋद्धि नाक के मैल की तरह त्याग दी। गजसुकुमार को कृष्णजी ने राज्य–ऋद्धि का स्वामी बना दिया था। मगर उन्होंने उसे त्याग कर सर्वविरति सामायिक ली और सामायिक का अर्थ भी पूरा किया। सिर पर आग रख देने पर भी वे समभाव में लीन रहे और आग रखने वाले को उन्होंने मित्र समझा। इससे न केवल वर्तमान का ही पाप रुका, वरन् पूर्व के न जाने कितने वर्षो के पापों का भी क्षय हो गया। वे उसी प्रकार मोक्ष में पधार गये।

सर्वविरति सामायिक की बात अलग रखिए। लेकिन नौवें व्रत में कही हुई देशविरति सामायिक में बैठे हुए श्रावक का किसी ने शरीर नष्ट कर

दिया, तब भी उसने समभाव नहीं त्यागा। चन्द्रलेखा, राजा की रानी, ने शरीर नष्ट होने के समय धीरे-धीरे समभाव की गति बढ़ाई तो उसने अपने पापों का विनाश कर डाला।

सामायिक की पूर्ण आराधना करने पर केवलज्ञान हो जाता है। अगर पूर्ण आराधना न हो तो भी केवलज्ञान का मार्ग तो यही है। इसलिए इसका अभ्यास तो करना ही चाहिए। सामायिक का अभ्यास करने वालों में आज भी कोई ऐसा निकल आएगा कि सामायिक में हीरा लेने से इनकार कर देगा और कहेगा कि सामायिक के मुकाबिले में यह तुच्छ है। यह सामायिक का ही प्रताप है। लेकिन सामायिक के अभाव में लोग एक पैसे या प्रभावना की चीज पर भी टूट पड़ते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि से स्थविर भगवान् ने कहा— हमारे मत से आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। आत्मा ही सामायिक और सामायिक का अर्थ किस प्रकार है, यह बात टीकाकार ने स्पष्ट की है। उनका कथन है— जीव को ही सामायिक होती है, अजीव को नहीं होती। जीव वृक्ष भी है, मगर वह सामायिक नहीं कर सकता। वही जीव सामायिक कर सकता है जिसे विशेष ज्ञान हुआ हो। ज्ञान का अर्थ सिर्फ पोथी पढ़ लेना नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप का भान हो जाना ही सच्चा ज्ञान है। जिसे ज्ञान है, वही सामायिक कर सकता है। इस प्रकार सामायिक जीव का गुण है।

अगर सामायिक जीव अर्थात् आत्मा का गुण है तो उसे आत्मा क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न नहीं हैं, किन्तु कथंचित् अभिन्न हैं। जिस अपेक्षा से दोनों में अभेद है, उसी अपेक्षा से स्थविर भगवान् ने सामायिक को आत्मा कहा है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सामायिक गुण और आत्मा गुणी में अभेद है, जैसे हीरा और उसकी कांति अभिन्न है। हीरा और कान्ति में से हीरा गुणी और कान्ति उसका गुण है, तथापि वे दोनों अभिन्न हैं। अभिन्न होने के कारण 'कान्तिमान् हीरा' ऐसा व्यवहार होता है। मिश्री गुणी है और उसका मिठास गुण है, लेकिन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा दोनों अभिन्न हैं। इसी प्रकार जीव और उसके ज्ञानादि गुण भी कथंचित् अभिन्न हैं। अगर गुणों को गुणी से सर्वथा भिन्न माना जाय तो गुणी नहीं रह जाता। अगर ज्ञान आदि गुणों को गुणी – जीव से भिन्न माना जाय तो गुण रहेंगे किसमें? गुणी में ही गुण रह सकते हैं। अतएव स्थविर

भगवान् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्तर देते हैं कि सामायिक आत्मा ही है और सामायिक का अर्थ भी आत्मा ही है।

सामायिक का और उसके अर्थ का उत्तर सुनकर कालास्यवेषिपुत्र मुनि दंग रह गये। फिर उन्होंने प्रत्याख्यान और उसका अर्थ पूछा है। प्रत्याख्यान सामायिक से भिन्न तो है नहीं, फिर दोनों के विषय में अलग–अलग प्रश्नोत्तर क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि सामायिक में प्रत्याख्यान हो जाता है, फिर भी संसार के जीवों को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए इनमें भेद किया है। साधारणतया षट्द्रव्य कहने से सारा ही संसार आ जाता है, फिर भी लोगों को समझाने के लिए सब तत्त्व अलग–अलग बता कर भेद किया है। इसी प्रकार सामायिक और प्रत्याख्यान में भी भेद किया है। प्रत्याख्यान का अर्थ क्या है, यह आगे बतलाया जायगा।

आप सामायिक करते होंगे, मगर सामायिक का अर्थ समझकर करना चाहिए। केवल प्रत्याख्यान करके बैठने से ही सामायिक नहीं होती, किन्तु बिना प्रत्याख्यान किये व्यवहार में भी होती है। समभाव की मर्यादा करने पर तो जितनी देर सामायिक में बैठा जाय, उतनी ही देर की जवाबदारी रहती है– जितनी देर की मर्यादा की जाती है, उतनी ही देर पापकर्म नहीं किया जाता, लेकिन सामायिक में न बैठने पर भी जो सामायिक होती है, उसमें समभाव रहने के कारण, वह अपने को भी आनन्द देने वाली होती है और दूसरे को भी आनन्द देने वाली होती है। अतएव ऐसा न समझो कि जब सामायिक में बैठे हैं तभी तक सामायिक है, फिर सामायिक नहीं है। किन्तु संसार–व्यवहार में रहते हुए भी भाव–सामायिक हो सकती है। यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है।

सामायिक को समझने वाला एक परिवार था। ऐसे परिवार के बालकों में सहज ही धर्म के संस्कार पड़ जाते हैं। उस परिवार में जन्मी हुई एक कन्या का विवाह हुआ। उस लड़की की रग–रग में धर्म की भावना भरी थी। वह समझती थी कि मुझे विवाह आदि सांसारिक कृत्य तो करने ही पड़ते हैं, लेकिन यह संसार सदा साथ देने वाला नहीं है। साथ देने वाला तो एक मात्र धर्म ही है।

विवाह के बाद लड़की ससुराल गई। उसने देखा– मेरी ससुराल के सब लोग उदास हैं। उसने सोचा– और घरों में नयी बहू आने पर प्रसन्नता का पार नहीं रहता, लेकिन इस घर में मेरे आने पर उदासी छाई हुई है। इस उदासी का क्या कारण होगा? मैं अब इस घर की सदस्या हो गई हूं। मेरा

कर्तव्य है कि घर वालों के सुख–दुःख को जानूं और दुःख हो तो उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करूं। ऐसा विचार कर उसने अपने साथ की दासी से कहा– सासूजी से पूछो कि आज घर में किस बात का दुःख है? दासी गई और कारण पूछा।

सासू समझदार थी। उसने सोचा– हम तो दुःखी हैं ही, नई आई बहू को क्यों दुःखी करें? यह सोचकर उसने दासी से कहा– बहू से कह दो कि तुम्हारी ओर का कोई दुःख नहीं है। दुःख का कारण तो और ही है। तुम अभी यह जान कर चिन्ता में क्यों पड़ती हो? अगर तुम जान भी गई, तो भी कुछ प्रतिकार नहीं होगा। इसलिए हमारा दुःख हम ही को भोगने दो।

बहू स्वार्थी स्वभाव की नहीं थी। उसने यह नहीं सोचा कि अपनी ओर का दुःख नहीं है, बस, चलो छुट्टी पाई। अब हमें चिन्ता करने का क्या प्रयोजन है ? बहू ने दासी भेज कर फिर कहलाया– अगर कहने से कुछ नहीं होता तो इस तरह रोने से भी कुछ नहीं होता। रोने से दुःख मिटता नहीं है, प्रत्युत बढ़ता है। आखिर कहिए तो सही कि दुःख क्या है? कौन जाने कोई उपाय निकल आवे।

सासू ने समझा– यह बहू कुछ और तरह की मालूम होती है। आखिरकार धर्मात्मा के घर की बेटी है। वह स्वयं बहू के पास आई और बोली– और कुछ दुःख नहीं है। इस मोहल्ले में एक बुढ़िया रहती है। उसका स्वभाव बड़ा लड़ाईखोर है। वह चाहे जब, चाहे जिससे लड़ती थी। इसलिए यह ठहरा दिया है कि वह नित्य एक घर से लड़ लिया करे। संयोगवश आज अपने घर की बारी है। आज ही तुम आई और आज ही वह आकर न जाने क्या–क्या बकेगी! इसी विचार के कारण उदासी छाई हुई है।

सासू की बात सुनकर बहू ने कहा– इस जरा–सी बात के लिए इतनी भारी चिन्ता! आप सबने उसकी आदत बिगाड़ दी है, नहीं तो वे माजी क्यों लड़तीं? आप न लड़ने का उपाय करतीं तो वे लड़ना छोड़ देतीं। आज लड़ाई का सब काम मुझे सौंप दीजिए। मैं सब ठीक कर लूंगी। मैं इसका मंत्र जानती हूं।

सासू ने कहा– 'भले ही। मगर होशियार रहना। तुम नई आई हो और वह बड़ी लड़ने वाली है। उससे कोई जीत नहीं पाता।'

बहू बोली– 'चिन्ता न कीजिए।'

बहू घर के दरवाजे में बिछौना डालकर बैठ गई। उधर बुढ़िया ने सोचा– आज लड़ाई का बड़ा अच्छा मौका है। आज ही नई बहू आई है और

आज ही उस घर से लड़ने की बारी आई है। उसने यह भी सुना कि नई बहू ही उससे लड़ने को तैयार हुई है। यह सुनकर उसे और भी खुशी हुई। वह खान–पान से निवृत्त होकर, हाथ में लकड़ी ले वहां आ पहुंची। आते ही उसने कहा– तू कैसे गये–बीते घराने की है कि इस तरह दरवाजे में बैठकर मुझ बुढ़िया से लड़ने को तैयार हुई है?

बुढ़िया की इस बात पर सहज ही क्रोध आ सकता है। मगर बहू सामायिक को जानती थी! उसे क्रोध नहीं आया। उसने यह भी नहीं कहा कि लड़ने मैं आई हूं या तू आई है? पर उसने कुछ नहीं कहा। तब बुढ़िया कहने लगी– रांड, अब बोलती भी नहीं है! कैसी चुप्पी मार कर बैठ रही है! लेकिन बहू हंसती–हंसती सुनती ही रही। तब बुढ़िया चिल्लाई– यह बेशर्म हंस रही है। बड़ी निर्लज्ज है! फिर भी वह कुछ न बोली। जब बुढ़िया धीमी पड़ती तब वह खांस कर फिर हंस देती। बुढ़िया का पारा फिर गर्म हो उठता। शाम तक यही क्रम चलता रहा। जब शाम हो गई तो दासी ने कहा– जीमने का समय हो गया है। रात होती है। चलकर जीम लो। बहू ने कहा– यहीं भोजन ले आओ। यही जीम लेंगे।

दासी भोजन ले आई। बहू ने बुढ़िया को भोजन की ओर इशारा करके कहा– आओ, मांजी, भोजन कर लें। बहू का इतना कहना था कि बुढ़िया गर्ज उठी– मैं क्या भूखी मरती हूं! क्या मुझे कुत्ती समझा है?

बहू ने धीमे से कहा– मनुहार करना मेरा काम था सो मैंने कर लिया। जीमना, न जीमना आपकी मर्जी की बात है।

बहू भोजन करने लगी। बुढ़िया बोली– कैसी बेशर्म है यह चण्डी, कि मेरे सामने ही खा रही है! इस प्रकार वह बड़बड़ाती रही। बड़बड़ाते–बड़बड़ाते उसकी आंतें चढ गई। वह बेहोश होकर गिर पड़ी। बहू ने उसी समय दासी को बुलाया और बुढ़िया को भीतर ले लेने को कहा। दोनों ने मिलकर उसे उठा लिया। घर के भीतर ले गई। पानी छिड़का। बुढ़िया फिर होश में आ गई। तब बहू ने पूछा– सासूजी, अब आपकी तबीयत ठीक है न! आपका यह वृद्ध शरीर और इतना ज्यादा कष्ट उठाना पड़ा। अगर मैंने संभाला न होता तो न जाने क्या होता? अब आप क्रोध मत किया करो। आज मैंने जो उपाय किया है, वह मुहल्ले के सब लोग जान गये हैं। आप इसी तरह लड़ती रहीं तो वर्षभर के बदले छह महीने में ही मर जाओगी। मरने के बाद न जाने कौन–सी गति मिलेगी! इसलिए अपनी सेवा का सौभाग्य मुझे दो। एक सासू के बदले दो की सेवा करके मुझे दुगुनी प्रसन्नता होगी।

बुढ़िया की आंखें खुल गईं। उसने सोचा– यह बहू कुछ और ही तरह की है। उसने कहा– बहू! तू ठीक कहती है। भला, मैं अकेली कब तक लड़ सकती हूं! सामने लड़ने वाला हो तो जोश भी आता है और विश्राम भी मिल जाता है। इस तरह जोश चढ़ा–चढ़ा कर ही लोगों ने मुझे लड़ना सिखाया है।

बहू की मधुर बातें सुनकर बुढ़िया को शांति मिली। वह उसी के घर रहने लगी। बहू ने उनकी तन–मन से सेवा की। बुढ़िया ने बहू को अपने घर की स्वामिनी बना दी। सब जगह बहू की तारीफ होने लगी। झगड़े के समय लोग उसे मध्यस्थ बनाने लगे। मुहल्ले की अशान्ति मिटी और शांति का वातावरण फैल गया।

बहू सामायिक में नहीं बैठी थी। फिर भी उसने सामायिक का फल पाया या नहीं? इस प्रकार कहीं भी, किसी भी अवस्था में, समभाव रखने से सामायिक का फल अवश्य प्राप्त होता है।

सामायिक आत्मा के लिए है। पर होता यह है कि हंस का अंश कौआ खा जाता है। अर्थात् आत्मा के लिए की गई सामायिक को आत्मा में रहने वाले विकार बीच ही में हजम कर जाते हैं। वे उसे आत्मा तक नहीं पहुंचने देते। यह बताने के लिए और आत्मा के लिए की गई सामायिक को उन विकारों से बचाने के लिए ही यह प्रश्नोत्तर अपने सामने है।

विकार सामायिक को किस प्रकार खा जाते हैं? मान लीजिए, किसी ने सोचा– आज सामायिक की है तो दो पैसे मिल जावें या दुकान अच्छी चल जावे। बस, यही विकारों का सामायिक को खा जाना है। अतएव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि आत्मा के लिए की गई सामायिक को विकार न खाने पाएं। सामायिक आत्मोन्नति के लिए है। आत्मोन्नति के बिना सुख नहीं मिल सकता और आत्मोन्नति होने पर संसार के सब सुख तुच्छ हैं। अतएव सांसारिक तुच्छ वस्तुओं के लिए सामायिक रूपी रत्न को नहीं लुटाना चाहिए।

ग्रन्थ में पूनिया श्रावक के पास केवल बारह आने की पूंजी बतलाई है। वह इसी पूंजी से अपना काम चलाता था और रोजगार करता था। इसी से श्रेणिक राजा ने सोचा होगा कि ऐसे गरीब की सामायिक मोल लेने में क्या कठिनाई हो सकती है? लेकिन पूनिया श्रावक ने इस गरीबी की दशा में भी अपनी सामायिक नहीं दी और कहा– सामायिक के लिए राज्य–सम्पदा पर नहीं लुभा सकता। सामायिक के मुकाबिले राज्य–सम्पत्ति तुच्छ है। क्या कोई

पुरुष धन के लोभ में आकर अपनी आंखें देने को तैयार हो सकता है? नहीं। वह कहेगा आंखें ही न होंगी तो संसार के पदार्थ किस काम के? आंखें चमड़े की हैं और एक–न–एक दिन छोड़नी ही पड़ती हैं। फिर भी कोई देने को तैयार नहीं होता, तो सामायिक देने के लिए कौन विवेकवान् तैयार हो सकता है, जो आत्मा के लिए है और सदा आत्मा के साथ रहती है।

प्रत्याख्यान का विवेचन

सामायिक के पश्चात् प्रत्याख्यान की बात चलती है। प्रत्याख्यान का साधारण अर्थ परवस्तु का त्याग करना है। आन्तरिक और बाह्य पर–वस्तुओं का त्याग करना प्रत्याख्यान है। पाप के बाह्य और आभ्यन्तर कारणों का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। पाप का आभ्यन्तर कारण कषाय है और बाह्य कारण संसार के मोहक पदार्थ हैं। सामायिक में बैठने पर इन सबका त्याग हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रत्याख्यान को सामायिक से अलग कहने का क्या कारण है?

सामायिक और प्रत्याख्यान को अलग–अलग क्यों किया गया है, यह बात समझने योग्य है। इस सम्बन्ध में थोड़ा–सा जिक्र पहले किया जा चुका है। वैसे तो मनुष्य कहने से राजा–प्रजा, सबका बोध हो जाता है, लेकिन श्रेणी की दृष्टि से भेद करने पर राजा और प्रजा को अलग–अलग बताना पड़ता है। ग्रन्थों में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे हिरण्य का अर्थ सोना भी है और चांदी भी है। लेकिन जहां हिरण्य और सुवर्ण – दोनों पद साथ में प्रयुक्त होते है वहां हिरण्य का अर्थ सोना नहीं किया जाता, सिर्फ चांदी किया जाता है। इसी प्रकार अकेले सामायिक शब्द का प्रयोग करने पर उसमें प्रत्याख्यान का भी अन्तर्भाव हो जाता है। लेकिन भेद की आवश्यकता रह जाने पर ही भेद किया है। यहां प्रत्याख्यान का अर्थ नियम है। सामायिक के सिवाय जो नियम लिया जाता है उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। चारित्र रूप गुण दो प्रकार के हैं– मूलगुण और उत्तर गुण। सामायिक मूलगुण में है और प्रत्याख्यान उत्तरगुण में माना जाता है।

मूलगुण और उत्तरगुण किसे कहते हैं, यह भी जानने योग्य है। जिसे एक बार स्वीकार करके फिर छोड़ा न जा सके, वह मूलगुण है और जिसे इच्छानुसार स्वीकार किया जाय तथा छोड़ा जाय, वह उत्तरगुण है। उत्तरगुण न होने पर भी मूलगुण रह सकता है, पर मूलगुण के जाने पर उत्तरगुण नहीं रह सकता। उत्तरगुण, मूल गुण की प्रतिष्ठा बढाते है। वृक्ष में मूल भी होता है और पत्ते भी होते हैं। पत्ते गिरते–उगते रहते हैं परन्तु मूल

बना रहता है। मूल के बने रहने से फिर पत्ते आ जाते हैं। पत्ते कभी रहते हैं, कभी नहीं रहते। मगर मूल के अभाव में पत्ते नहीं ठहर सकते। इसी प्रकार मूलगुण बना रहे तो उत्तरगुण आते–जाते रहते हैं। मूलगुण के अभाव में उत्तरगुण पत्तों की तरह ठहर नहीं सकते।

वृक्ष के मूल का अस्तित्व है, इस वात की प्रतीति पत्तों से होती है। पत्ते आते–जाते रहने से मूल मालूम होता है। अगर पत्तों का आना–जाना वंद हो जाय तो मूल नष्ट हो गया माना जाता है। यही वात मूलगुण और उत्तरगुण के विषय में भी है।

मूलगुण समभाव है। समभाव सदा वना रहना चाहिए। इसके साथ उत्तरगुण पौरसी, दो पौरसी, उपवास आदि हैं। इस उत्तरगुण को भी बढ़ाते रहना चाहिए। उत्तरगुण को बढ़ाते रहने से मूलगुण की प्रतिष्ठा बढ़ती है। तात्पर्य यह है कि बेला, तेला आदि जो उत्तरगुण के नियम हैं, उन्हें प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान मूलगुण को बढ़ाने के लिए है। मूलगुण सामायिक है। इसकी रक्षा एवं वृद्धि के लिए प्रत्याख्यान–रूप नियम है। इस प्रकार प्रत्याख्यान का अर्थ यहां नियम समझना चाहिए।

मूल विद्यमान रहे तो पत्तों के गिरने और आने–दोनों में ही शोभा है। इसी प्रकार तप आदि कभी हों, कभी न हों तो कोई बुराई नहीं है, मगर मूलगुण बना रहना चाहिए। मूलगुण होगा तो उत्तरगुण भी हो जाएंगे और उत्तरगुण के होने से मूलगुण की वृद्धि होगी।

अब प्रत्याख्यान का अर्थ (प्रयोजन) क्या है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। लोग समझते हैं कि संकटी तेला करने से कष्ट मिट जाएगा, लेकिन स्थविर कहते हैं कि समभाव रहने पर भी उपाधि के जोर से जो आस्रव होता है, वह प्रत्याख्यान से रुक जाता है। यह प्रत्याख्यान का अर्थ यानी प्रयोजन है।

मान लीजिए, एक आदमी ने आम खाने का त्याग नहीं किया है। अतएव जहां से आम बिकने आते हैं, वहां का ध्यान लगाता है। वह सोचता है, इस साल आम की फसल अच्छी है। इसके बाद जो छोटी–छोटी केरी (अमिया) लगीं, तब उनके प्रति भी उसकी भावना ऐसी ही रही। धीरे–धीरे आम पक गये। पके आम खा कर कर वह कहता है– इस साल खूब आम खाये! बड़ा आनन्द रहा। इस प्रकार आम का त्याग न होने पर आम वृक्ष में मंजरी लगते ही भावना उस ओर दौड़ जाती है। यह आस्रव है।

दूसरे आदमी ने आम खाने का त्याग कर दिया। उसके लिए आम की फसल आना और न आना बराबर है। फसल आने पर उसे द्वेष नहीं और फसल न आने पर राग नहीं। जो आम का त्यागी नहीं, वह आम की फसल नष्ट हो जाने पर दुःख प्रकट करता है और फसल आने पर प्रसन्न होता है। लेकिन आम का त्यागी समभाव में स्थित रहता है। इस तरह त्याग करने वाले का आस्रव रुक जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर कोई आम खाने का त्याग न करे और सिर्फ राग-द्वेष का त्याग कर दे तो क्या आस्रव से मुक्त नहीं हो सकता? मगर रचनात्मक कार्य के बिना सब काम थोथे हैं। रचनात्मक कार्य से क्या लाभ होता है, इसे समझ लीजिए। सुनते हैं, भारत में छह करोड़ आदमी भूखे रहते हैं। आप प्रतिदिन माला जपते हैं, लेकिन आपके जाप से उन भूखों मरने वालों को क्या लाभ हो सकता है? क्या इससे उनकी भूख मिट जायगी? भगवान महावीर ने भूखों की भूख मिटाने के लिए रचनात्मक कार्य बतलाया है। उन्होंने कहा है– प्रत्येक मनुष्य को तीस दिन में छह दिन उपवास करना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हारा शरीर भी अच्छा रहेगा, शारीरिक हानि न होगी, बल्कि लाभ होगा और सब रोग एवं दुःख मिट जाएंगे। भगवान् के इस उपदेश के अनुसार भारत की 35 करोड़ जनता में से 30 करोड़ मनुष्य एक मास में छह उपवास करें तो क्या छह करोड़ के लिए भोजन नहीं बच जायगा? ऐसा करने से आपको भी लाभ होगा और भूखों मरने वालों की भूख भी मिट जायगी। लेकिन लोग इस सहज रचनात्मक कार्य को कठिन मानते हैं और सिर्फ भावना की और दौड़ते हैं।

आपको विचार करना चाहिए कि छह करोड़ भूखों मरने वालों की जवाबदारी आप पर भी कुछ है या नहीं? कहा जा सकता है कि उन्होंने पापकर्म उपार्जन किया था, इसलिए वे भूखे मरते हैं। हमने पुण्य की कमाई की थी, इस कारण आनन्द करते हैं। मगर आप यह क्यों नहीं सोचते कि आप पाप-पुण्य भोगने के लिए ही नहीं आये हैं, कुछ नवीन उपार्जन करना भी आपका कर्तव्य है। आपके घर में दस आदमी हों और आप उनके हिस्से का भोजन खा जावें या कुछ खाकर शेष को बिगाड़ डालें, तो आप पाप के भागी होंगे या नहीं? अगर उनके भूखे रहने से आपको पाप लगता है तो भारतवर्ष के निवासियों के विषय में भी यही विचार क्यों नहीं करते? क्या भारतवासी आपके कुटुम्बी नहीं हैं? क्षुद्र बुद्धि का त्याग कीजिए। विशाल बुद्धि धारण कीजिए। आपको अपना विशाल परिवार नजर आने लगेगा।

अगर आप रचनात्मक कार्य करें— खाने—पीने में संयम और सादगी से काम लें तो सहज ही भारत की भुखमरी भगाई जा सकती है। महीने में छह उववास करने से आप निरोग भी रहेंगे। उपवास से मानसिक विकार भी दूर होंगे और भूखों का पेट भी भर जायगा। मगर लोग उपवास को हौआ समझते हैं। कदाचित् एकादशी करते हैं तो उसे द्वादशी की दादी बना देते हैं। जो लोग उपवास का महत्त्व समझते हैं, वे उपवास करते ही हैं। उपवास करने से उत्तरगुण अर्थात् प्रत्याख्यान होता है। उत्तरप्रत्याख्यान होने से मूलप्रत्याख्यान में भी वृद्धि होती है।

अगर आप उपवास नहीं कर सकते, तो कम से कम इतना अवश्य कर सकते हैं कि जूठन छोड़कर अन्न न बिगाड़ें। अक्सर जीमनवार में कई लोग तीन—चार आदमियों के खाने लायक भोजन इसलिए परोसवा लेते हैं कि शायद फिर कोई परोसने वाला न आवे। ऐसे भोजन—शूर लोगों ने बड़ी खराबी की है। जो इतना भी नहीं कर सकते, वे और क्या करेंगे!

मतलब यह है कि प्रत्याख्यान का फल अनास्रव है। यह फल आत्मा के लिए ही है। इसीलिए स्थविर भगवान् ने कहा कि आत्मा ही प्रत्याख्यान है और आत्मा ही प्रत्याख्यान का अर्थ है।

अगर कोई प्रत्याख्यान करता है, मगर वह आत्मा के लिए नहीं होता तो उसका अर्थ दूसरा ही होता है। प्रत्याख्यान किया, परन्तु लालसा रही कि इस प्रत्याख्यान के बदले अमुक मिल जाए तो यह प्रत्याख्यान आत्मा के लिए नहीं हुआ। जैसे मंगल, रवि या शनि को एकासना इस अभिप्राय से किया कि वह ग्रह शांत हो जाए, तो यह प्रत्याख्यान आत्मा के लिए नहीं हुआ। जब आप आत्मा के लिए प्रत्याख्यान करेंगे तब—मंगल, रवि आदि ग्रह आप ही शांत हो जाएंगे। अतएव कामना से प्रेरित होकर कोई काम मत करो। अन्य ग्रन्थों में भी निष्काम कर्म का ही विधान किया गया है। बिना काम के प्रत्याख्यान करोगे तो किसी किस्म की कमी न रहेगी।

कामना से प्रेरित होकर प्रत्याख्यान आदि कर्म करने से अश्रद्धा उत्पन्न होती है। आपने देव को बुलाने के लिए तेला किया। अगर देव न आया तो तेला के प्रति अश्रद्धा हो जायगी। जो निष्काम होकर तेला करेगा, वह सोचेगा— देव चाहे आवे, चाहे न आवे, मैं तेला करता हूं, तेला करना मेरा काम है। मैं आत्मा के लिए तेला करता हूं।

लोग देव को बुलाने के लिए तेला करते हैं, पर देव मन का भाव जानते हैं। जब मन के भाव मलीन होंगे तो देव कैसे आ सकते हैं? मन का

भाव कामना करने से अच्छा नहीं रहता, निष्काम होने से अच्छा रहता है। कामना से मनोभाव में मलीनता आती है। फिर देव आवें कैसे? कामना करने और निष्काम रहकर कर्म करने में बड़ा अन्तर है। कोई यह सोचता है कि काम हो या न हो, मुझे पैसों से मतलब है। और कोई यह विचारता है कि पैसा मिले, या न मिले मुझे अपना कर्तव्य पूरा करना है। जिसने पैसे को लक्ष्य बना, लिया है, वह पैसों का ही हो रहता है। जो पैसों की परवाह न कर कार्य करता है वह मालिक का हो जाता है। मालिक ऐसे आदमी का ध्यान रखता ही है। वह उसके काम का बदला देता ही है। इस प्रकार किया हुआ सांसारिक काम भी वृथा नहीं जाता तो निष्काम भाव से किया हुआ धर्म का कार्य वृथा कैसे जा सकता है? निष्काम कर्म करने वाला अपने स्वामी को मोल ले लेता है। कहावत है–

पास में कौड़ी नहीं मैंने मुफ्त खुदा को मोल लिया।
ऐसा सौदा अनमोल किया और बदले में कुछ न दिया।।

कवि कहता है– मैंने खुदा को मोल लिया है, पर ममता–कामना त्याग करके, अर्थात् धन की एषणा, पुत्र की एषणा और लोक की एषणा का त्याग करके। मैं जब तन पर भी ममत्व न रखूंगा तो मुझमें और खुदा में क्या भेद रहेगा? आत्मा और परमात्मा में सिर्फ ममत्व का ही अन्तर है। ममत्व हट जाने पर आत्मा और परमात्मा का अन्तर दूर हो जाता है।

आप ममत्व का त्याग कीजिए। अगर ममत्व नहीं छूट सकता तो कम से कम सामायिक, उपवास आदि से किसी प्रकार की कामना मत कीजिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।47।।

अर्जुन! तुझे काम करने का अधिकार है। फल चाहने का अधिकार नहीं है। अगर तू फल चाहेगा तो पतित हो जायगा।

संसार में आज जो पोपलीला चल रही है, उसका कारण लोगों की कामना बढ़ जाना ही है। बहुत–से लोग साधुओं के पास भी कामना लेकर ही जाते है, बल्कि ऐसे साधु कहलाने वाले के पास लोगों की भीड़ लगी रहती है जो लोगों को धन–सम्पत्ति की बातें बतलाता है और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाता है। मैंने स्त्रियों को गाते सुना है–

जो आनन्द मंगल चावोरे तो मनाओ महावीर।

यह गाना प्रिय और अच्छा है, पर स्त्रियां इसका अर्थ शायद यह करती होंगी कि धन, पुत्र आदि चाहिए तो महावीर को मनाओ। लोग ऐसी चीजों से प्रेम करते हैं। मगर शास्त्र कहता है–

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

अर्थात् अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन सदैव धर्म में लगा रहता है, देवता और चक्रवर्त्ती आदि भी उसके चरणों में आकर झुकते हैं।

कामना–वासना ने लोगों से ऐसे नीच देव पुजवाये हैं, और ऐसे नीच गुरु करवाये हैं कि कहा नहीं जा सकता। कामना के कारण ही लोग झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा समझते और कहते हैं। कामना को जीतने से ही आनंद–मंगल होगा।

संयम का विवेचन

कालास्यवेषिकपुत्र अनगार का तीसरा प्रश्न यह है कि संयम और संयम का अर्थ क्या है? स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया– हमारे मत से आत्मा ही संयम है और आत्मा ही संयम का अर्थ है।

अनगार कालास्यवेषिपुत्र के प्रश्नों में भेद है, लेकिन स्थविर भगवान् के उत्तर में कोई भेद नहीं है। अतएव यह समझने की जरूरत है कि संयम और संयम का अर्थ क्या है? तथा सामायिक और प्रत्याख्यान से संयम में क्या भिन्नता है? अगर संयम, सामायिक और प्रत्याख्यान में कोई भिन्नता नहीं है तो संयम का दोनों से भिन्न कथन क्यों किया गया है? और जब सामायिक एवं प्रत्याख्यान भी आत्मा हैं और संयम भी आत्मा ही है तो इनमें भेद क्या रहा?

इस विषय को सूक्ष्मरूप में अधिकारी ही समझा सकता है। मैं पूर्वाचार्यो की सहायता से इसे समझाने की चेष्टा करूंगा।

टीकाकार कहते हैं कि सामायिक और प्रत्याख्यान से संयम कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, लेकिन इनका स्वरूप भिन्न–भिन्न समझना है। अतएव देखना चाहिए कि इनमें विशेषता क्या है? सामायिक में मूलगुण की विशेषता बताई है और प्रत्याख्यान में उत्तरगुण की। लेकिन संयम में क्या विशेपता है? संयम शब्द 'यम् उपरमे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– अशुद्ध अर्थात् पापरूप क्रिया से आत्मा को हटा लेना। पाप–क्रिया से आत्मा को निकालना संयम है।

प्रश्न होता है, सामायिक और प्रत्याख्यान का अर्थ भी यही है, तब संयम में विशेषता क्या हुई? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं– संयम संरक्षण करता है। पृथ्वीकाय आदि सब जीवों की रक्षा करना संयम है। सामायिक में निवृत्ति की प्रधानता है और संयम में प्रवृत्ति की प्रधानता है। उदाहरणार्थ, 'एक आदमी कहता है– मैं जीवों को नहीं मारूंगा।' ये दोनों बातें अलग–अलग हुई। न मारना अलग बात है और बचाना अलग बात है। न मारने वाला उदासीनता भी रख सकता है, मगर बचाने में जीव–रक्षा के काम में सहयोग देना पड़ता है। मान लीजिए, किसी स्त्री ने किसी भी लड़के को न मारने की प्रतिज्ञा ली। वह किसी बच्चे को नहीं मारती, यह भी ठीक है, लेकिन न मारने मात्र से उसे मातृपद नहीं मिल सकता। माता–पद की अधिकारिणी वह तभी हो सकती है जब वह बालक की रक्षा और पालन करे। 'माता' शब्द 'माङ् माने' धातु से बना है। उसका अर्थ रक्षा और पालन करना है। अतएव रक्षा और पालन करने पर ही वह माता कहला सकती है। इस प्रकार न मारने और रक्षा करने में बहुत अन्तर पड़ जाता है। कोई माता बालक को जन्म देकर अलग कर दे और पालन–पोषण न करे तो वह माता कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो सकती। बालक की माता वही कहलाएगी जो उसका पालन एवं रक्षण करेगी। बालक को जन्म देने वाली माता बालक को याद नहीं आएगी, पालन–पोषण करने वाली माता को ही वह स्मरण करेगा।

संयम शब्द का व्यवहार में भी प्रयोग किया जाता है। जैसे–'बालक को पालने में माता संयम से काम लेती है।' वास्तव में बालक का पालन–पोषण करने में माता को संयम रखना पड़ता है। माता संयम न रक्खे तो बालक का पालन नहीं हो सकता। आज बालकों का पालन पशुओं की तरह होता है। लेकिन बालक के असली पालन की विधि ज्ञातासूत्र में मेघकुमार के अधिकार में बतलाई है। बालक को जन्म दे देना मातृधर्म नहीं है– यह तो हिंसा है। लेकिन उत्पन्न करने के बाद पालन करना, रक्षण करना दया है। ज्ञातासूत्र में मेघकुमार के अधिकार में कहा है–

तए णं सा धारिणी देवा तस्स गब्भस्स अणुकपणट्ठाए।

उस गर्भ की रक्षा के लिए अनुकंपा से प्रेरित होकर धारिणी रानी ने क्या–क्या किया, यह बतलाते हुए गणधरों ने गर्भ और बालक के पालन करने की विधि पर अच्छा प्रकाश डाला है। संसार–विलास करने से पेट में गर्भ आया, लेकिन इसमें दया नहीं हुई। पेट में आये गर्भ की रक्षा करने में दया

है। धारिणी रानी के पेट में जो गर्भ आया था, उसकी रक्षा के लिए उसने क्या किया? यह बताने के लिए गणधर भगवान् कहते हैं–

नाइ तित्तं, नाइकडुयं, नाइकसायं, नाइअंबिलं, नाइमहुरं, जं तस्स गब्भस्स' हियं, मियं, पत्थयं देसे य काले य आहारं आहारेमाणी नाइचिंतं, नाइसोयं, नाइमोहं, नाइभयं, नाइपरित्तासं व वगयचिंता सोयमोह भयपरित्तासा उहभयमाणसुहे हिं भोयणच्छायणगंधमल्ला लंकारेहिं तं गब्भं सुहंसुदेणं परि वहइ। नायाधम्मकहा, 1 अ.

रानी ने अधिक तीखे, अधिक कड़ुवे, अधिक मीठे आदि हानिकारक पदार्थों के खाने का त्याग कर दिया– प्रत्याख्यान कर दिया।

शास्त्र में, गर्भवती के वर्णन में यह तो आया है कि गर्भवती ने इस प्रकार के भोजन का त्याग कर दिया, मगर उपवास करने का वर्णन कहीं नहीं आया। शास्त्र में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है कि गर्भवती ने उपवास किया। फिर भी कई स्त्रियां गर्भावस्था में उपवास करना चाहती हैं। अगर उन्हें उपवास करना है तो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य नहीं पाला तो फिर गर्भ की रक्षा के समय तप का नाम लेकर गर्भ की रक्षा न करना अनुचित है। वैद्यक शास्त्र में गर्भवती के लिए विधान किया गया है कि उसे न अधिक खाना चाहिए, न उपवास करना चाहिए। साथ ही यह भी कहा है कि गर्भवती पहले पहर में खाए नहीं और दूसरे पहर को खाये बिना लांघे नहीं। इस प्रकार गर्भवती स्त्री दया के लिए, गर्भ–रक्षा के निमित्त संयम से काम लेती है। उनका मन खट्टा, खारा खाने को ललचाता होगा, तब भी वे मन को रोकती हैं। जो चीज गर्भ को हानि पहुँचाती है उसे खा लेना गर्भ की हत्या करना है। न केवल खाने में ही, किंतु धारिणी रानी अधिक हर्ष, शोक, भय आदि भी गर्भ–रक्षा की दृष्टि से नहीं करती थी।

लोग कहते है–जैन शास्त्र में लीलोतरी (हरितकाय) के त्याग के सिवा और क्या धरा है! पर ऐसा कहने वालों ने जैन शास्त्र को समझा ही नहीं। जैन शास्त्र में चरितानुयोग द्वारा विधिवाद बताया गया है।

गर्भवती भय, शोक, चिंता आदि करती है तो गर्भ पर भी उसका असर पड़ता है। आपके सामने कोई आदमी रोता हो तो आप पर भी उसका असर पड़े बिना नहीं रहेगा। जब सामने रोने वाले का भी असर पड़ता है तो गर्भ का बालक तो माता के साथ एकमेक–सा होकर रहता है। जब माता की साढ़े तीन करोड़ रोमराजि में आग लगी होगी तो बालक अछूता बच जाएगा? उस पर भी आग का असर पड़ेगा ही। इसी से गर्भवती माता लोभ, मोह,

चिन्ता, शोक आदि नहीं करती। वह सोचती है– ऐसा करने से मेरा हृदय कुम्हलाएगा, जिससे बालक पर बुरा असर पड़ेगा। जब बेल कुम्हलाएगी तो उसका फल बिना कुम्हलाए कैसे रह सकता है? माता की चिंता से बालक को बहुत हानि पहुंचती है। कभी–कभी तो गर्भ मर भी जाता है। अगर नहीं मरता तो रोती शक्ल का पैदा होता है।

कदाचित् आप कहेंगे कि जिसने जैसे कर्म किये हैं, वह वैसा ही फल भोगेगा। बालक अपने कर्मों का फल भोगेगा; मगर आपने अपना कर्तव्य क्या पाला? अपना कर्तव्य न पालकर, कर्म देखने के लिए कोई मां अपने बालक पर शिला रखती है? प्रद्युम्नकुमार पर देव ने शिला रक्खी, फिर भी वह नहीं मरे। तो क्या कोई माता भी ऐसा कर सकती है ? यदि नहीं, तो निश्चय की बात व्यवहार में लाना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? रोने और शोक करने से गर्भवती पर बुरा असर पड़ता है। इसलिए गर्भवती को धारिणी के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए। अगर किसी गर्भवती का पिता या पति दुर्दैव से मर जाय तो गर्भवती अगर दयालु होगी तो गर्भ के लिए रोएगी नहीं। लेकिन लोगों ने ऐसी रूढ़ि डाल रक्खी है कि गर्भवती होने पर भी सम्बन्धी के मरने पर स्त्री को रोना ही चाहिए, सिर और छाती आदि पीटना ही चाहिए। लोगों को उसके वहां जाकर उसे रुलाना ही चाहिए। ऐसी प्रथा बनाने वालों या मानने वालों को यह विचार नहीं आता कि गर्भिणी के गर्भ की हत्या होगी या नहीं? गर्भ की हत्या हो तो भले ही हो, मगर लोग अपने बनाये रीति–रिवाज का पालन करेंगे ही। यह कितनी बुरी बात है! दुःख के आंसू तो किसी तरह नहीं रुकते, लेकिन रिवाज बनाकर रुलाना, रोने को रीति में दाखिल करना गर्भ की दया के सर्वथा प्रतिकूल – निर्दयतापूर्ण बात है।

कहां तो शास्त्र की यह बात कि गर्भवती गर्भ की दया के लिए मोह, शोक आदि न करे और कहां आजकल की यह प्रथा कि कोई न रोती हो तो उसे रुलाना और न रोने वाली की निन्दा करना। एक चिउंटी की दया करने वाले और रुपया मिलने पर भी उसे मारने के लिए तैयार न होने वाले पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या किस प्रकार सहन करते हैं, यह एक महान् आश्चर्य की बात है!

जो लोग ऐसी व्यावहारिक बात भी नहीं समझ सकते, व्यावहारिक संयम का अर्थ भी नही जान सकते, वे शास्त्र में कहे संयम का अर्थ कैसे समझ सकेंगे? लोग शास्त्र के संकुचित अर्थ में पड़े रहते हैं। उन्हें यह नहीं

मालूम कि शास्त्र की बात का सच्चा अर्थ क्या है? शास्त्र में किस बात की शिक्षा दी गई है। शास्त्र में प्रत्येक बात संक्षेप में कही है। यथा संयम का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि पृथ्वीकाय आदि जीवों की रक्षा करना संयम का अर्थ है। लेकिन शास्त्र का विशेष अर्थ तो तब ही समझ में आता है, जब कोई समझाने वाला मिल जाय।

लेकिन लोगों की प्रवृत्ति ऐसी हो रही है कि उलटे मार्ग को जल्दी पकड़ लेते हैं और सच्चे मार्ग पर प्रेरणा करने पर भी नहीं चलते। मृत्युभोज के लिए कोई जोश चढ़ा दे तो हजारों की गिनती न करेंगे, धर्मकार्य में खर्च करने को कहा जाय तो सारी कृपणता सिमट कर आ जाती है।

मतलब यह है कि माता, गर्भ से ही बालक की रक्षा करती है। जन्म देने के बाद भी उसे बालक की रक्षा करनी पड़ती है। वह उस समय भी भोजन आदि का विचार रखती है। आज भोजन की प्रथा बिगड़ रही है। बच्चे का, बूढ़े का और बालक की माता का भोजन एक–सा हो रहा है। किसे किस प्रकार के भोजन की आवश्यकता है, यह बात लोग जानते नहीं। इस व्यावहारिक संयम को न समझने के कारण आज संयम में गड़बड़ी हो रही है। पहले की स्त्रियां बालक की रक्षा के उपाय जानती थीं, स्वयं संयम रखती थीं और संयम रखने का उपदेश दिया करती थीं।

खानपान सम्बन्धी लालसा को रोकने से ही बालक की रक्षा होती है। बालक को जन्म देना और बात है तथा बालक की रक्षा करना और बात है। इसी प्रकार सामायिक ले ली, मुनि हो गये, यह और बात है तथा संयम पालन और बात है। सामायिक लेना और साधु हो जाना बालक को जन्म देने के समान है। किसी को न मारने से निवृत्ति हुई है? सच्चा साधुपन तो जीवों की रक्षा में है। जीव का संरक्षण प्रवृत्तिभाव है। संयम में इस भाव की प्रधानता है।

कहा जा सकता है कि साधु अगर संरक्षण करता है तो किसी को कुछ देता क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि साधु में सब जीवों के संरक्षण का पूरा भाव है। अतएव वे इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि एक जीव के संरक्षण में दूसरे की हत्या न हो। वे प्राणीमात्र का संरक्षण चाहते हैं, अतएव उनके संरक्षण का ढंग यह है कि किसी भी जीव को कष्ट न होने पाय। जिस संरक्षण से एक का संरक्षण हो और दूसरे का घात हो, वह साधु की मर्यादा से बाहर है।

आप गृहस्थ हैं। संरक्षण करना आपका भी कर्तव्य है। लेकिन कोई आदमी आपसे कहने लगे– मैं भूखा मर रहा हूं। मुझे बकरा मारकर खिलाओ। तो क्या आप ऐसा करेंगे? आप उसे यही उत्तर देंगे– 'मैं बकरा खाता होता तो तुझे खिलाता। जब मैं नहीं खाता तो तुझे कैसे खिलाऊं? मैं तेरी और बकरे की, दोनों की रक्षा चाहता हूं।' वही बात साधुओं के लिए है। साधु प्राणीमात्र का कल्याण और रक्षण चाहते हैं। उन्होंने हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है। और वे अपने लिए भी किसी को कष्ट नहीं देते तो दूसरे के लिए कैसे दे सकते हैं? लेकिन तेरापंथी लोग इस सीधी–सी बात को चक्कर में डालकर कहते हैं कि साधु किसी को रोटी नहीं देते, इसलिए दूसरे को रोटी देना पाप है। उन्हें इतनी भी समझ नहीं है कि साधु के धर्म और कर्तव्य से श्रावक का धर्म और कर्त्तव्य भिन्न है। साधु का धर्म सूक्ष्म है और श्रावक का धर्म स्थूल है। फिर श्रावक, साधु का उदाहरण क्यों लेता है? अगर तेरापंथियों के कथनानुसार ही दया का स्वरूप माना जाय तो सिद्धान्त–शास्त्र ही पलट जाता है। अगर कोई तेरापंथी श्रावक, साधु से कहे कि– मैं सब हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। आप मुझे कुछ हिंसा का त्याग करा दीजिए। तेरापंथी साधु इस श्रावक को किस हिंसा का त्याग करावेगा? बकरे आदि त्रस जीवों की हिंसा का या वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का?

'बकरे आदि की हिंसा का।'

जीव तो वनस्पति में ज्यादा हैं। फिर बकरा आदि त्रस जीवों की हिंसा का पहले त्याग क्यों कराते हैं? इसका कारण यह है कि बकरा आदि प्रत्यक्ष जीव हैं और वनस्पति आदि शास्त्र की भाषा से जीव हैं। शास्त्र में स्थूल, सूक्ष्म, अपराधी, निरपराधी की व्याख्या करके श्रावक को दया का स्वरूप बतलाया है, जिससे संसार–व्यवहार का निर्वाह भी हो जाय और जीवों की रक्षा भी हो जाय। ऐसा होते हुए भी आप अपने स्वार्थ के लिए तो सूक्ष्म हिंसा का त्याग न करें, किन्तु दूसरों की दया के लिए सूक्ष्म हिंसा का नाम लेकर दया न करें, यह कहां तक ठीक कहा जा सकता है? साधु की समानता करने चलते हो तो सचित् पानी पीना छोड़ो। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करो और साधु का पूरा धर्म धारण करो। खुद कच्चा पानी पीना छोड़ नहीं सकते, लेकिन दूसरे को पिलाने के समय कच्चे पानी को हिंसा का नाम लेकर न पिलाना, यह धर्म नहीं, धर्म का बहाना है।

साधु मन, वचन, काय से प्राणीमात्र का कल्याण करते हैं। वे किसी भी जीव की हिंसा नहीं चाहते। जीव–हिंसा से बचने के लिए शास्त्रों में अनेक

विधान किये गये हैं। पांच समिति और तीन गुप्ति का विधान इसी उद्देश्य से है। अनेषणीय आहार का त्याग भी जीव–रक्षा के लिए ही वतलाया है। इस प्रकार संयम का अर्थ रक्षा करना है। यह जीव–रक्षा आत्मा के लिए ही है। अतएव आत्मा ही संयम है और आत्मा ही संयम का अर्थ (प्रयोजन) है।

संयम का फल अनास्रव है। माता, वालक की रक्षा के लिए पहले मनचाहा आहार खाना छोड़ती है। इस प्रकार पहले वह निवृत्ति का आश्रय लेती है, फिर बालक की दया में प्रवृत्त होती है। इसी प्रकार साधु संसार के कामों से निवृत्त होकर जीवों की दया में प्रवृत्त होते हैं। जैसे वालक पर दया करने के कारण ही माता, माता कहलाती है, उसी तरह साधु जीव–रक्षा करने के कारण ही साधु कहलाता है।

संयम आत्मा से भिन्न नहीं है। इसलिए आत्मा ही संयम है। संयम जीव ही करता है, अजीव नहीं करता और जीव भी आत्मा के लिए ही संयम करता है। अतएव आत्मा ही संयम और संयम का अर्थ है। ऐसा मानने पर ही संयम, संयम कहलाता है। जो ऐसा नहीं मानता उसके संयम को संयम नहीं कहा जा सकता। वह ढोंग है। कई मनुष्य नौवें ग्रैवेयक तक की करणी कर डालते हैं मगर वह केवल ढोंग और मान–सम्मान आदि के लिए ही है। ऐसे लोगों की करणी (क्रिया) साधुपन में नहीं है। जो सिर्फ आत्मा के लिए ही संयम का पालन करता है, उसी का संयम ठीक है। यहां ऐसे ही संयम की बात चल रही है। अतः जो भी सुकृत करो, आत्मार्थी होकर करो। किसी भ्रमणा में पड़कर अपने सुकृत को किसी दूसरे काम में मत डाल दो।

संसार सम्बन्धी किसी वासना को पूरी करने के लिए और आत्मा के लिए काम करने में बहुत अन्तर है। यही बात जगत्–प्रसिद्ध है कि लालसा से काम करना एक बात है और लालसा को त्याग कर काम करना दूसरी बात है। अधिकांश लोग लालसा में पड़कर काम करते हैं, आत्मार्थी होकर काम नहीं करते। जिन कामों को लालसा के मारे सहज ही कर डालते हैं, आत्मार्थी होकर उन्हें करना कठिन समझते हैं। रोग होने पर रोटी खाना छूट जाता है। भोग–विलास भी छोड़ने पड़ते हैं और कमजोरी की हालत में दूसरों की गाली भी सहनी पड़ती है, लेकिन कमजोर की गाली सहना कठिन हो जाता है। शरीर निरोग हो और कोई जप–तप करने को कहे तो उस समय कितना कठिन मालूम होता है? उस समय यह खयाल ही नहीं होता कि तंदुरुस्त रहते हुए यह काम करें तो रोग ही क्यों हो? इसीलिए किसी ने कहा है –

दुःख में सुमरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करें, दुःख काहे को होय।।

स्मरण, भजन, मर्यादा या संयम – कुछ भी कहो, सुख के समय याद नहीं आता। दुःख के समय ही उसका स्मरण होता है। एक कवि कहता है–

तू ही तू ही याद आवे रे दरद में।
मात–पिता अरु भाई–भतीजा, काम पड्यां भग जावे रे; दरद में।।

इस भजन का अर्थ अच्छी तरफ भी लगाया जा सकता है और बुरी तरफ भी। लेकिन हमें अच्छाई पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। बुराई की ओर देखना स्वयं बुराई है। जब रोग घेर लेंगे और कष्ट आएगा तब तो संसार की बातें छोड़नी ही पड़ेंगी। तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ देते? जो बातें मरण को बिगाड़ती हैं और रोग लाती हैं, अगर आज ही उनका त्याग कर दिया जाय तो क्या हानि है? आज तो भाई–बंद आदि सभी याद आते हैं, छूटते नहीं हैं, पर समय आने पर कोई काम नहीं आता।

जा दिन चेतन से कर्म शत्रुता करे।
ता दिन किसी से कछु गरज न सरे।।
हिन्द की यह रीति है तिय संग तो जरे।
पर मगदूर नहीं उसके दर्द को भी हरे।।

जब कर्म आत्मा को घोर कष्ट पहुंचाते हैं, तब कौन सहायता करता है? भारतवर्ष में पहले पति के साथ स्त्री के जलने की रीति थी, वह अब बन्द हो गई है। स्त्री, पति के साथ जल भले ही जाती थी, मगर पति को कष्ट से छुड़ा नहीं सकती थी। उसमें वह ताकत नहीं कि पति को कष्ट से छुड़ा दे। इसीलिए कहते हैं– जिन कामों से आत्मा का कल्याण हो सकता है, उन कामों को मत भूलो। आप दो दिन के कामों में लग रहे हैं और सदा के कामों को भूल रहे हैं। इस भूल को मिटाओ तो आत्मा का कल्याण होगा।

संवर का विवेचन

संयम के पश्चात् संवर की बात आती है। कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने कहा था– हे स्थविर! आप संवर भी नहीं जानते और संवर का अर्थ भी नहीं जानते। मुनि ने स्थविर पर यह आक्षेप किया था। लेकिन स्थविर ने उनसे कहा– हे आर्य! हम संवर भी जानते है और संवर का अर्थ भी जानते है।

आज प्रायः सब लोग संवर करना कहते है और अपने–आप को संवर का जानकार मानते है। लेकिन मुनि, स्थविर से कहते है कि आप संवर

को नहीं जानते और संवर का अर्थ भी नहीं जानते। मुनि के इस कथन से प्रतीत होता है कि संवर बहुत गहन विषय है, जिसे जानने के सम्बन्ध में स्थविर भगवान् पर भी संदेह प्रकट किया गया है। अतएव देखना चाहिए कि संवर क्या है और कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने किस संवर को न जानना कहा है? तथा उस संवर में ऐसी क्या विशेषता है कि स्थविर भगवान्, मुनि से कहते हैं– हम संवर को भी जानते हैं और संवर का अर्थ भी जानते हैं।

टीकाकार ने कहा है– इन्द्रियों और नोइन्द्रिय (मन) से निवृत्त होना संवर है। इन्द्रिय कान, आंख, नाक आदि पांच हैं। इन पांच को ग्रंथकार ज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं। यहां नोइन्द्रिय का अर्थ निषेधरूप नहीं है। नाक, कान आदि इन्द्रियों के काम न करने पर भी जो काम करता रहता है उसे नोइन्द्रिय कहते हैं। इसे मन भी कहते हैं। इन्द्रियां जो काम करती हैं, उसमें मन भी साथ देता है। मन की प्रेरणा होने पर ही इन्द्रियां काम करती हैं। आप से कोई कुछ कह रहा था, पर आपका मन अन्यत्र होने से आप सुनते नहीं थे। आप कह सकते हैं कि अगर मन ही इन्द्रियों से काम लेता है तो मन को भी इन्द्रिय क्यों नहीं कहते? मगर यह ठीक नहीं। किसी के मन तो हो, मगर कान ठीक न हों तो क्या वह सुन सकता है? इस विषय में अनेक दार्शनिकों ने अपने–अपने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। परन्तु जैन शास्त्रों का कथन है कि इन्द्रियों और नोइन्द्रिय, अर्थात् मन के होने से ही काम चलता है। इन्द्रियां अलग हैं और इनसे काम लेने वाला अलग है। इन्द्रियां और मन उसके औजार मात्र हैं। इन्द्रियों को और मन को जोड़ने वाला एक निराला ही पदार्थ है। मन, इन्द्रियों से स्वयं जुड़ता होता तो आंख के बदले नाक या कान की ओर भी जुड़ जाता। इसलिए मन को इन्द्रियों से लगाने वाला मन का नियन्ता और मन का स्वामी दूसरा ही है। आज का विज्ञान आंशिक रूप से मन तक पहुंच पाया है, लेकिन उससे आगे नहीं पहुंच पाया है। मगर अनेक वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि मन से आगे भी कुछ है। मन से आगे जो–कुछ है, उसका पता ज्ञानियों ने लगा लिया है। वे जानते हैं और कहते हैं कि मन से आगे आत्मा है। आत्मा ही मन का नियन्ता एवं स्वामी है।

मन का नियन्ता कोई न होता तो वह इन्द्रियों के साथ जुड़ता कैसे? इसके सिवा आप कहते हैं– मैंने अमुक बात सुनी तो सही, पर मेरा मन नहीं लगा। अब आप सोचिए– 'मेरा' कौन है? जिसका मन लगा नहीं, वह कौन है? वह मन से भिन्न ही कोई पदार्थ होना चाहिए। इसलिए आत्मा और मन भिन्न–भिन्न हैं।

इसी सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि मन ही आत्मा है या आत्मा अलग है? भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! आत्मा अलग है, मन अलग है। इस प्रकार भगवान् ने भी मन और आत्मा को अलग–अलग बतलाया है।

भगवान की कही हुई बात ही यहां इस प्रकार दोहराई गई है :

देखूं देखूं छोड़ने दीखूं दीखूं ठान।

जो कुछ करता है, आत्मा ही करता है। इन्द्रियां तो आत्मा के बनाये काम को करने वाली दासियां हैं। आप कहते हैं – चाकू ने कलम बनाया या हाथ ने कलम बनाया। पर चाकू या हाथ कलम बनाने वाला नहीं है। किन्तु हाथ और मन के स्वामी आत्मा ने कलम बनाया है। अतएव आप इन्द्रियों में और मन में ही न उलझे रहो, वरन् इनके स्वामी, आत्मा पर ध्यान दो।

सारांश यह है कि आत्मा, इन्द्रियों से और नोइन्द्रिय से निवृत्त होता है, उस निवृत्ति को ही संवर कहते हैं। इन्द्रियों से निवृत्त होने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें नष्ट–भ्रष्ट कर दिया जाय। ऐसा करना निवृत्ति नहीं है, वरन् उनकी हत्या करना है। इन्हें नष्ट कर देने को त्याग नहीं कहते, किन्तु यह जो बेकायदे लग रहे हैं, इन्हें बेकायदे लगने से रोकना त्याग है।

संवर अधिकतर व्यवहार में ही होता है। मान लीजिए, सास–बहू की लड़ाई हुई। अगर सासू या बहू संवर को समझी होगी तो सोचेगी– 'यदि मैं भी इसके समान ही बन गई तो फिर मेरा व्याख्यान सुनना व्यर्थ है।' ऐसा सोचकर अगर उसने दूसरी का कहना सह लिया तो यह संवर हुआ। साधु के पास घड़ी–दो घड़ी बैठकर संवर करना ठीक है, मगर सच्चा संवर व्यवहार में ही हो सकता है। संवर करने के लिए ही कहा है –

कबहुंक यह रहनी हौं रहि हौं।
परुस वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगी।
विगतमान सम शीतल मन पर गुण–अवगुण न गहौंगी।।

उपर्युक्त कविता तुलसीदासजी ने रची है। जैन महात्मा ने भी यही बात कही है। वे कहते हैं –

अपूर्व अवसर एहवो क्यारे आवशे।
ज्यारे थईशुं बाह्यभ्यन्तर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्धनो बन्धन तीक्ष्ण छेदने,
विचरशुं क्यारे म्हत पुरुष ने पन्थ जो।। अपूर्व।।

दोनों कविताओं के शब्द भिन्न–भिन्न हैं, पर अर्थ में भेद नहीं है। जैन महात्मा ने कहा है– ऐसा अवसर कब आएगा जब मुझसे इस प्रकार का संवर होगा। दूसरे कहते हैं– मैं कब वह स्थिति प्राप्त करूंगा कि दुःसह वचन सुनकर उनकी आग में न जलूं। आग शब्दों में नहीं है, समझ में है। मेरी समझ ही उन शब्दों को आग बनाकर मुझे जलाती हैं। मैं अपनी समझ को आग न बनाकर शीतल कब बनाऊंगा! कब यह सोचूंगा– हे दृष्टा! तू किस भ्रम में पड़ा है! अगर तू उन वचनों के फेर में पड़ गया तो अपने आपको भूल जाएगा। अगर कोई तुझे आग देता है तो उसे भी तू शीतल बना ले। आग तभी बढ़ती है, जब उसमें ईंधन डाला जाता है। अगर मैं उस वचन को अपनी समझ से आग न बनाऊं– उसमें ईंधन न डालूं, तो आग बढ़ेगी क्यों? प्रभो! ऐसा दिन कब आएगा?

आज अगर कोई किसी से बुरे शब्द कहना चाहे तो उसके साधन भी बहुत हैं। बुरे शब्द लिखकर घर–घर पहुंचाए जा सकते हैं। इस प्रकार छपे कागज आपके पास आवें तो उन्हें देखकर सोचना क्या इस कागज से अपने में आग लगने दूं? अगर आप संवर को जानते हैं तो आग को भी शीतल बना छोड़ो।

सारांश यह है कि बुरे काम से इन्द्रियों को बचाना संवर है। संसार में रहते हुए अनेक अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होते हैं। अनेक गालियां देने वाले या भला–बुरा कहने वाले मिलते हैं। जब आपके सामने बुरे शब्द आवें तो उन शब्दों को अमृत बनाकर पी जाओ। स्थविर भगवान् को कालास्य वेषिपुत्र मुनि के कठिन शब्द सुनने पड़े, लेकिन वे अमृत बनाकर पी गये। इसीलिए उन्होंने मधुरवाणी में कहा– आर्य! हम संवर जानते हैं और संवर का अर्थ भी जानते हैं। अगर हम संवर न जानते होते तो आपकी कही बात पर हमें क्रोध क्यों न आ जाता? मगर संवर के न जानने का आरोप लगाने पर भी हमें क्रोध नहीं आया। हमारी इस बात से ही आप जान सकते हैं कि हमें संवर का ज्ञान है।

स्थविर भगवान् की इस बात को आप भी सोचिए। संवर को जान लेने मात्र से कुछ भी न होगा। उसे आचरण में लाओगे तो कल्याण होगा।

अब यह देखना चाहिए कि सामायिक आदि से संवर में क्या अन्तर है? उसे अलग कहने का कारण क्या है? सामायिक, प्रत्याख्यान और संयम, ये तीनों संवर में ही हैं। फिर संवर को अलग क्यों कहा है? एक वस्तु में दूसरी वस्तुओं से कोई विशेषता होती है, तभी उसका अलग निर्देश किया जाता है। सामान्य और विशेष का भेद होने पर भी अलग–अलग कथन किया जाता

है। जैसे– भोजन कहने से खाने की सब चीजों का समावेश हो जाता है, फिर भी सब चीजों के नाम अलग–अलग गिनाये जाते हैं। जिनके नाम अलग–अलग हैं उनका वर्णन भी अलग–अलग होता है, भोजन की चीजों के नाम अलग–अलग होने पर भी उन सब को एक नाम 'भोजन' दिया जाता है। इसी तरह सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम और संवर का उद्देश्य तो एक ही है, लेकिन इनका नाम अलग–अलग होने से इनकी व्याख्या भी अलग–अलग की जाती है। किसी–न–किसी विशेषता के कारण ही इनके नाम अलग–अलग पड़े हैं।

संवर का मतलब समझाते हुए कहा गया है कि इन्द्रियों और नोइन्द्रिय से निवृत्त होना संवर है। लेकिन क्या संवर के लिए इन्द्रियों को नष्ट कर दिया जाय? मन को पागल बना दिया जाय? या जैसा कि कई लोग कहते है कि नशे में भजन अच्छा होता है, तो नशा किया जाय? ऐसा करना संवर नहीं, आस्रव है। इस प्रकार के पागलपन की अवस्था आत्मा ने अनेक बार भोगी है, फिर भी मुक्ति नहीं हुई। मुक्ति तो तभी सम्भव है जब इन्द्रियों का नाश तो न किया जाय– नाक, कान, आंख आदि को जैसा की तैसा रखी जाय, मगर उनसे होने वाले आस्रव को रोक दिया जाय। यही सच्चा संवर है। आंखें कोई अपराध नहीं करतीं। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में दे बतला देती हैं। कांच के सामने जैसी वस्तु होगी, वैसी ही कांच में प्रतिबिम्बित हो जायगी। यही बात आंखों के विषय में है। वस्तु को देखकर उसमें अच्छाई या बुराई, राग या द्वेष स्थापित करना मन का काम है। इसमें बेचारी आंखों का कोई कुसूर नहीं है। हमें यही सोचना चाहिए कि वस्तु जैसी है वैसी है। वह अपने स्वरूप में स्थित है। न उसमें अच्छाई है, न बुराई है। फिर उसे समभाव से क्यों न देखा जाय? उसे निमित्त बनाकर आत्मा में राग–द्वेष क्यों उत्पन्न किया जाय?

राजा का खजांची राजा के सब जेवर रखता और सम्हालता है। वह रत्न को रत्न, सोने को सोना और चांदी को चांदी ही समझता है। साथ ही यह भी समझता है कि ये चीजें मेरी नहीं हैं। वह यह नहीं सोचता कि इस समय कोई देखता नहीं है तो बेईमानी कर लूं। अगर वह बेईमानी करता है तो हरामखोर कहलाता है। मगर हरामखोरी से बचने के लिए न वह अपनी आंखें फोड़ता है, न जेवरों को नष्ट–भ्रष्ट करता है। अगर कोई ऐसा करने पर उतारू हो जाय तो वह भंडारी नहीं रह सकता। आंखों को जैसी की तैसी

रहने दे और जेवरों को जैसा का तैसा बनाये रखे, मगर बेईमानी न करे, वही भंडारी बना रह सकता है। संसार में सभी वस्तुएं रहेंगी और आंखें भी रहेंगी, मगर फिर भी संवर का पालन करना चाहिए। ऐसा किये बिना संवर हो ही नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु ईश्वरीय तत्त्व का बोध देने वाली है। ऐसा सोचकर आस्रव मत होने दो। अपने आत्मा की रक्षा करो।

यही बात उपनिषद् की दृष्टि से भी कही जा सकती है। स्याद्वाद की दृष्टि से किसी भी चीज को देखो, उसमें वास्तविकता का अंश मिलेगा ही। अनेकान्त दृष्टि के बिना सभी शास्त्र मिथ्या हैं और अनेकान्त दृष्टि से देखा जाय तो मिथ्या भी सत्य बन जाता है। ईशावास्योपनिषद् में कहा है–

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेनत्यक्तेन मुंजिथाः, मागृद्धः कम्यसिद्धनं, ईश्वास्योपनिषद्।।

यहां जो–कुछ कहा गया है, उसका आशय यही है कि पृथ्वी पर जो–कुछ भी देखने में आता है, उस पर ईश्वरीय रंग लगा दे। उसे ईश्वर से आच्छादित कर दे।

पृथ्वी के ऊपर की सब वस्तुओं को ईश्वर से आच्छादित कैसे करना, उन पर ईश्वरीय रंग कैसे चढ़ाना है? यह जानना जरूरी है। कोई महल लाल, पीला या हरा कहलाता है। यद्यपि महल में अनेक चीजें हैं, कई– एक उपादानों से उसका निर्माण हुआ है, लेकिन उसके ऊपर लाल रंग होने से वह लाल महल कहलाता है। यानि असल में महल का रंग लाल नहीं है, फिर भी लाल रंग ऊपर से चढ़ा देने के कारण ही वह लाल महल कहा जाता है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों पर ईश्वरीय रंग चढ़ा देना चाहिए।

ऐसा रंग बना ले दाग नहीं लागे तेरे मन को।

ऐसा रंग बना ले कि तेरे तन–मन को दाग न लगे। सारे संसार को ईश्वरीय रंग से आच्छादित कर दे। यानी संसार के पदार्थों को त्याग से भोग। यह सोच कि ये सब पदार्थ ईश्वरीय हैं। मैंने इन पर ईश्वरीय रंग लगा दिया है। अगर मैं इन पर ममता करता हूं तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर से मैं इन्हें छीनता हूं। इसलिए मैं संसार के पदार्थों को त्याग से भोगूंगा।

आप कहेंगे, क्या खाना–पीना छोड़ देना चाहिए? लेकिन निष्ठापूर्वक राजा की सेवा करने वाला क्या भूखा मरता है? एक आदमी राजा का काम करके तनख्वाह लेकर खाता है और दूसरा चोरी करता है। इन दो तरह से खाने वालों में कुछ अन्तर है या नहीं? चुराकर खाने में और मालिक का दिया

खाने में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार ममत्व करके भोगने में और त्याग के साथ भोगने में भी अन्तर है। त्याग के साथ भोगना सबका धर्म है। खाते तो साधु भी हैं, न खावें तो जिन्दा न रहें। परन्तु भगवान् ने कहा है– जो आज्ञा मैंने दी है, उससे बाहर होकर खाने वाला चोर है। ऐसा करने वाला मेरी आज्ञा से बाहर है।

आप भी भगवान् के श्रावक हैं। आप अपने व्रत की मर्यादा को ध्यान में रखकर उसी मर्यादा में खा सकते हैं। मर्यादा से बाहर नहीं भोग सकते। आपने विवाह किया है तो सब को आमन्त्रण देकर और उस समय आपने जगत् की स्त्रियों को माता–बहिन बनाया है। अब उन्हें अगर माता–बहिन नहीं मानते तो ईश्वरीय चोरी करते हो। आपने विवाह के समय जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप परस्त्री को त्यागे बिना स्वस्त्री का सेवन नहीं कर सकते। अगर सेवन करते हो तो यह त्याग से भोगना नहीं, वरन् भोग से भोगना है।

जो मनुष्य संसार के पदार्थों को ईश्वरीय रंग से रंग देगा, वह सोचेगा– मैं उस रंग में रहकर ही संसार के पदार्थों को त्याग से भोगूंगा, भोग से नहीं भोगूंगा।

आप यह तो मानते हैं कि परमात्मा सब जगह है, अर्थात् सब–कुछ देखता है। परन्तु बुरे काम करते समय यह बात आप भूल क्यों जाते हैं ? इस बात को मानते हुए भी इससे विरुद्ध काम क्यों करते हैं? इसी से कहा है–

परमेश्वर साखी घट को जाकी शरम न धारे तू।
प्रकट कहाय धर्म को धोरी अन्तर भर्यो विकारे तू।
रे चेतन पोते तू पापी परना छिंद चितारे तू।
निर्मल होय कर्म करदम से निजगुण अम्बु नितारे तू।।

आप चाहेंगे तो संसार के पदार्थों को ईश्वरीय रंग में रंगने में देरी न लगेगी। आप जानते हैं, ईश्वर घट–घट का स्वामी है। फिर सब पदार्थों को ईश्वरीय रंग में रंगने में क्या कमी रही? कमी यह है कि आप इस समय, यहां तो मानते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है– सब–कुछ देखता है– लेकिन इस मान्यता का उपयोग का समय उपस्थित होने पर भूल जाते हैं।

आप जिस काम को कह नहीं सकते, जिसे छिपाना पड़ता है और छिपाने के लिए झूठ बोलना पड़ता है, उसे करना ईश्वर को धोखा देना है। ऐसा काम क्यों करते हो, जिसे छिपाने की आवश्यकता पड़े? ज्ञानी पुरुष इस बात का सदैव ध्यान रखते हैं कि ईश्वर सब–कुछ देखता है। इस प्रकार का

विचार रखते हुए काम करना संवर है। इस प्रकार कार्य करने से इन्द्रियों और मन द्वारा होने वाला आस्रव रुक जाता है। आस्रव का रुकना ही संवर है।

सामायिक में मूलगुण की विशेषता है, प्रत्याख्यान में उत्तरगुण की विशेषता है, संयम में जीवरक्षा की विशेषता है और संवर में विषय–लालसा को जीतने की विशेषता है।

जैसे भोजन करने से भूख मिट जाती है, उसी प्रकार संवर से आस्रव मिट जाता है। भूख रोटी से भी मिटती है और माल से भी मिटती है। फल दोनों का एक है, मगर नाम अलग–अलग हैं। इसी प्रकार सामायिक, प्रत्याख्यान आदि नाम अलग–अलग हैं, किन्तु सबका फल आस्रव – निरोध ही है।

जिस भोजन से भूख मिट जाय, वही भोजन है। जिससे भूख न मिटे, उसे भोजन कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार जिससे आस्रव निरोध हो, वही संवर है। जिससे आस्रव का निरोध न हो, उसे संवर नहीं कह सकते।

कई लोग सांसारिक लाभ की लालसा से संवर करते हैं। आज मैंने संवर किया है, तो उसके प्रभाव से मेरा अमुक काम सिद्ध हो जाए– ऐसा सोचना संवर को नहीं समझना है। कहा है –

अय जोक किया बहुत परेशान,
हमने देखा अजब का लेखा।
जब आंख न थी देखा सब–कुछ।
जब आंख आई न देखते हैं कुछ।।

जोक कहता है– जब आंख नहीं थी तब और कुछ देखता था और अब, जबकि आंख है, कुछ नहीं दीखता। इसी प्रकार संवर को समझने के पहले संसार के पदार्थों को और रूप में देखा जाता है, पर संवर को समझ लेने के बाद वही पदार्थ और तरह से नजर आने लगते हैं। ऐसा हो तब समझना चाहिए– संवर को जान लिया हैं। संवर को समझने से पहले ज्ञान की आंख नहीं थी। स्त्री को देखकर उसे भोगने की और सोना देखकर उसे लेने की इच्छा होती थी। संवर को समझ लेने पर, ज्ञान की आंख खुल जाने पर यह इच्छा नहीं रही। इस परिवर्तन का कारण हृदय का पलट जाना है। आंख आदि इन्द्रियां वही हैं, पदार्थ भी वही हैं, मगर हृदय का परिवर्तन हो गया है। इसी कारण भावना बदल गई। बिल्ली जिन आंखों से अपने बच्चों

को देखती है, उन्हीं से चूहे को देखती है। लेकिन दोनों के देखने में कितना अन्तर है? इसी प्रकार दोनों को पकड़ने में भी आकाश–पाताल का अन्तर है।

ज्ञानियों का कथन है कि ज्ञान होने से पहले हममें भी यही बात थी। ज्ञान होने के बाद सब समान नजर आते हैं। किसी में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। बिल्ली संवर नहीं कर सकती, न हम उसे उपदेश दे सकते हैं। हम आपको उपदेश देते हैं और आप संवर कर सकते हैं। इसलिए आप बिल्ली मत बनो। आप संवर को समझो। आस्रव त्यागो। कम से कम परस्त्री का त्याग करो। अगर इतना भी न कर सके तो संवर को समझे ही क्या!

स्थविर भगवान् ने कालास्यवेषिपुत्र मुनि से कहा– आत्मा ही संवर है और आत्मा ही संवर का अर्थ भी है। उनके कथन पर शान्ति और एकाग्रता से विचार करो तो उसमें बहुत–कुछ महत्त्व दिखाई देगा। संक्षेप में मैं इतना ही कहता हूं कि संवर आत्मा ही करता है– चैतन्य–ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही संवर कर सकता है, इसलिए वह आत्मा से भिन्न नहीं है। संवर का फल भी आत्मा ही भोगता है, दूसरा कोई नहीं भोगता। इसलिए स्थविर भगवान् ने कहा है– आत्मा ही संवर है और आत्मा ही संवर का अर्थ है।

सारांश यह है कि आप जो–कुछ भी करें, आत्मा के लिए ही करें। आत्मा को छोड़कर किसी के लिए कुछ मत करो। जो काम बदले की भावना से किया जाता है, वह आत्मा के लिए नहीं, होता, जैसे पैसे लेने के लिए सामायिक करना। कोई पैसों के लिए नहीं सिर्फ मान–प्रतिष्ठा की चाह से सामायिक करें तो वह भी आत्मा के लिए नहीं है। कई अभव्य साधु की क्रियाएं भी करते हैं, लेकिन उनका उद्देश्य होता है मान–सम्मान आदि प्राप्त करना। इसलिए उनकी क्रिया लेखे में नहीं ली जाती। लालसा त्यागकर संवर करने की महत्ता दिखलाने के लिए ही कहा गया है– आत्मा ही संवर और संवर का अर्थ है। इस कथन में और भी कोई तत्त्व रहा होगा, जो ज्ञानी–गम्य है।

———

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्
(पंचमाङ्गम्)
छट्ठा भाग

प्रथम शतक **नवम उद्देशक**

विवेक का विवेचन

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने कहा— 'स्थविर! आप विवेक नहीं जानते और विवेक का अर्थ भी नहीं जानते।' यह बात यों तो कड़ी है, मगर स्थविर भगवान् सोचते हैं— अगर मैं विवेक और विवेक का अर्थ जानता हूं तो यहां भी विवेक से ही काम लूंगा। इस प्रकार विचार कर उन्होंने मुनि से कहा— 'हम विवेक भी जानते हैं और विवेक का अर्थ भी जानते हैं।'

आप यह न भूलें कि आप गणधर की कही हुई बातें सुन रहे हैं। आगे—आगे की सुनते और पीछे—पीछे की भूलते मत जाओ। किन्तु पिछली बात से अगली बात जोड़ते चलो। माला का एक नया मनका पोते जाइए और पिछला गिराते जाइए तो माला नहीं बन सकती। माला बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पहले पोये हुए मनकों को गिरने न दो और आगे के पोये जाओ। इसी प्रकार गणधर की कही हुई पिछली बातें, जो आपने सुनी हैं, उनके साथ नवीन बातों को मिलाते चलो तो माला तैयार हो जायगी।

ज्ञानी पुरुष संक्षेप में ही वस्तु—तत्त्व समझ जाते हैं। लेकिन हम लोग तो विस्तार से कहने पर ही समझ सकते हैं। इसलिए यहां विस्तार से चर्चा की जाती है।

स्थविर भगवान् ने मुनि की किसी और बात पर ध्यान न देकर कहा— हम विवेक और विवेक का अर्थ जानते हैं। आपके घर में रुपया होने पर भी कोई कहे कि आपके पास रुपया नहीं है, तो आपको क्रोध नहीं आएगा, वरन् आप रुपया निकाल कर दे देंगे। हां, जब वास्तव में रुपया न

होगा तो भले ही अपने को रुपये वाला प्रकट करने के लिए बकवाद करें। स्थविर भगवान ने खोटी चर्चा पर ध्यान न देकर मूल तत्त्व का ही विचार किया। उन्होंने कहा– हम विवेक को जानते हैं और उसका अर्थ भी जानते हैं। और उन्होंने अपने व्यवहार से ही यह प्रमाणित कर दिया।

विवेक और उसके अर्थ के विषय में टीकाकार ने जो कथन किया है, उसके आधार से कुछ विवेचन किया जाता है। विशिष्ट ज्ञान को, अत्यन्त अच्छे ज्ञान को विवेक कहते हैं। विवेक का अर्थ बताते हुए कोश में कहा है कि पार्थक्यकरण को अर्थात् मिली हुई अच्छी और बुरी वस्तुओं को अलग–अलग करने को विवेक कहते हैं। विवेक को भेद विज्ञान भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विवेक वह है जो अच्छी और बुरी चीज को अलग–अलग कर दे।

यों तो दूध से मक्खन को अलग करना और धूल से सोने को अलग करना भी विवेक कहा जाता है, मगर यहां इस प्रकार के विवेक की बात नहीं है। जैसे जमे हुए दही में छाछ भी है, उन्हें अलग करना सांसारिक विवेक है। उसी तरह शरीर और आत्मा मिले हुए हैं। इन्हें अलग करना लोकोत्तर विवेक है। यहां इसी विवेक से अभिप्राय है।

दही और मक्खन का उदाहरण लेकर ही नास्तिक लोग कहते हैं– 'जिस प्रकार दही में से मक्खन निकाल कर बता दिया जाता है, उसी तरह शरीर में से आत्मा निकाल कर बता दिया जाय तो यह आत्मा का अस्तित्व मानें। दही में से मक्खन और तिल में से तेल निकाल कर बताने की तरह आत्मा को शरीर में से निकाल कर नहीं बताया जा सकता तो आत्मा के अस्तित्व की बात झूठी है।'

नास्तिकों की बात विवेक से ही समझना चाहिए। जो विवेक को जानता होगा वह नास्तिक की बात सुनकर यही कहेगा कि वह आत्मा को नहीं जानता है। राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से यही कहा था कि शरीर और जीव दो नहीं है। केशी श्रमण ने उसे समझा दिया। वह सारा विवरण सुनाने को समय नहीं है। संक्षेप यह है कि तू तलवार और म्यान, घी और छाछ तथा खल और तेल की तरह आत्मा को शरीर से अलग देखना चाहता है, सो यह तेरी भूल है।

भग्गू पुरोहित के देवभद्र और यशोभद्र नामक लड़के दीक्षा लेने को तैयार हुए। भग्गू उन्हें रोकना चाहता था। यों तो भग्गू वेद–वेदान्त का जानकार था, लेकिन मोह के वश होकर, नास्तिकवाद की स्थापना करके

उसने अपने लड़कों से कहा– तुम लोग क्यों व्यर्थ कष्ट करते हो? जब तक यह शरीर है, तभी तक सारा खेल है। शरीर नष्ट हो जाने पर कुछ भी नहीं बचता। इसलिए खाओ, पीओ और मौज करो। मरने के बाद क्या रखा है!

इस प्रकार कहकर भग्गू ने नास्तिकवाद की स्थापना की। किन्तु उसके दोनों लड़के भाव–साधु हो चुके थे। उन्होंने अपने पिता से कहा –

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा, वि य होइ णिच्चं।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं।।

– श्री उ. 14 अ.

उन्होंने कहा– पिताजी, आपने जो–कुछ कहा, उससे ऐसा मालूम होता है कि आप स्थूल दृष्टि से ऊपरी विचार कर रहे हैं। आप भीतर की ओर नहीं देखते। जिस आत्मा के सूक्ष्म रूप से सारा संसार घूम रहा है, क्या आप उसे तिल और तेल तथा तलवार और म्यान की तरह अलग–अलग देखना चाहते हैं? अगर ऐसा है तो आप भूलते हैं। यह भूल ऐसी ही है, जैसे कोई आदमी अपनी आंख निकाल कर देखना चाहे कि देखें किससे दिखाई देता है? वह आंख निकालने वाला यह नहीं सोचता कि मैं आंख निकाल देता हूं तब देखूंगा कैसे?

जो आदमी शरीर से अलग आत्मा देखना चाहता है, उससे कहो कि पहले तुम अपनी पढ़ाई तो निकालकर दिखाओ, वह कहां और कैसी है! तुम्हारे अन्दर देखने की शक्ति है या नहीं? अगर है तो जरा बाहर निकालकर दिखाओ तो सही! अगर नहीं दिखा सकते तो जीव को अलग देखने का हठ क्यों करते हो?

दोनों भाइयों ने कहा– पिताजी, आप आत्मा को नहीं देखते, हम देखते हैं। अगर जीव नहीं है तो बोलता कौन है? संसार में खाने, पीने और मौज करने का विधान करने वाला कौन है? आप जो–कुछ भी बोल रहे हैं, सो वह 'आप' कौन है? कोई स्त्री दीपक लेकर पदार्थों को तो देख रही हो, मगर कहती हो कि 'मैं नहीं हूं', ऐसा ही कथन आपका है।

जो दिखता है वह आत्मा नहीं है, मगर जो देखता है वह आत्मा है। सुनना आत्मा नहीं है, मगर सुनने वाला आत्मा है। चखना आत्मा नहीं, चखने वाला आत्मा है। जड़ पदार्थ चख कर किसी को खट्टा–मीठा नहीं बता सकता। यह आत्मा का ही काम है। वही खट्टा, मीठा और गर्म, ठंडा जान सकता है।

भावमुनियों ने कहा– पिताजी! आत्मा है। इस विषय में हमें तनिक भी संदेह नहीं है। इसलिए आप हमारी दीक्षा में विघ्न मत डालिए। आत्मा है और नित्य है। वह संसार के दूसरे पदार्थों के समान नाशवान् नहीं है।

नास्तिकों का कथन है कि परलोक से किसी आत्मा के आने–जाने की बात गलत है। शरीर की आग से ही शरीर जीवित है और आग निकल जाने पर शरीर मर जाता है। अगर ऐसा है तो आधुनिक विज्ञान के अभ्युदय के युग में ऐसा कोई उपाय क्यों नहीं निकाला गया कि मरे शरीर में फिर से आग को प्रविष्ट कर दिया जाय? मरे हुए को पुनः जीवित क्यों नहीं कर लिया जाता। यह बात गलत है कि शरीर घड़ी के समान है, जो सब पुर्जों के मिलने से चलती है और बिखरने से खराब हो जाती है। हम घड़ी को आत्मा नहीं कहते, किन्तु घड़ी बनाने वाले और उसे तोड़ने वाले को आत्मा कहते हैं।

विवेक को जानने वाला इस प्रकार शरीर और आत्मा को अलग–अलग करता है। इसका अर्थ यह न समझ लें कि वह फांसी के तख्ते पर चढ़ कर शरीर और आत्मा को अलग करता है। इसका अर्थ यह है कि विवेकवान् दोनों को भिन्न–भिन्न समझता है।

जब शरीर और आत्मा मूल स्वभाव से ही अलग–अलग हैं तो आत्मा शरीर में फंसा कैसे ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा को किसी और ने शरीर में नहीं फंसाया, वरन् आप ही वह फंसा हुआ है। आत्मा त्याज्य को ग्रहण करता है और ग्राह्य को त्यागता है। इसी से वह शरीर के जाल में पड़ा है। इस जाल से निकलने का उपाय क्या है, यह बात मैं महाभारत का उद्धरण देकर बताता हूं, जिससे किसी को मतभेद नहीं है –

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

अर्थात् सुनो, चाहे अब सुनो चाहे फिर सुनो, पर यह बात सुने बिना आत्मा शरीर के जाल से नहीं निकल सकता। मगर केवल सुनो नहीं, सुनकर धारण भी करो। इस बात को अच्छी तरह धारण कर लो कि जो बात तुम्हें पसन्द नहीं है, वह दूसरे के लिए भी पसन्द मत करो। यही धर्म का सार है।

कोई आदमी नंगी तलवार लेकर आपके सामने आता है और कहता है– 'तुम्हारा सिर काटूंगा।' उस आदमी को आप पापी समझेंगे। एक और आदमी उसे कहता है– 'हां, जल्दी करो, इसे समाप्त ही कर डालो'। तीसरा आदमी कहता है– 'नहीं, इसे मत मारो'। आप बताइए, इनमें से आपको किसकी बात पसन्द होगी? निस्सन्देह आप तीसरे आदमी की बात पसंद

करेंगे, जो नहीं मारने को कहता है। यह पसन्दगी आप में कहां से आई? क्या आपने किसी वेद, पुराण या शास्त्र से यह सीखी है? नहीं, यह आपके आत्मा से ही आई है। आपका आत्मा कहता है– जो मारने के लिए कहता है, वह पापी है, बुरा है और जो बचाने की बात कहता है, वह धर्मात्मा और अच्छा है। इस प्रकार आत्मा स्वीकार करता है कि मारना पाप है और बचाना धर्म है। इस आत्मानुभव से धर्म का सार दया है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

लेकिन मनुष्य कितना स्वार्थी है! वह अपने लिए तो दया प्यारी समझता है और दूसरे के लिए दया को भूल जाता है। उसे याद नहीं रहता कि मुझे दया प्रिय है तो दूसरे को भी दया प्रिय है। जो बात अपने लिए आप पसन्द करते हैं, वही बात आप दूसरे के लिए क्यों पसन्द नहीं करते?

कुछ लोग कहते हैं– न मारना तो दया है, लेकिन बचाना दया नहीं, बल्कि पाप है। जिसे बचाया है, वह बचकर जो पाप करेगा वह पाप बचाने वाले को लगेगा। अतएव हमें किसी जीव को मारना तो नहीं चाहिए, लेकिन बचाना भी नहीं चाहिए। कोई मारता है, कोई मरता है, हमें उनके बीच में क्यों पड़ना चाहिए?

ऐसा कहने वालों से यह पूछा जा सकता है कि रक्षा करने से पाप लगता है, ऐसा मानकर किसी की रक्षा नहीं करनी है तो किसी को उपदेश देना भी पाप हो जायगा। उपदेश सुनने वाला जीव नहीं मारेगा। जीव मारता तो नरक में जाता। जीव नहीं मारेगा तो स्वर्ग में जायगा। वहां भोग भोगेगा। इस भोग का पाप न मारने का उपदेश देने वाले को लगना चाहिए। अगर यह बचाव किया जाय कि हमारा भाव पाप कराने का नहीं था तो बचाने वाले का भी पाप करने का कब था? बचाने वाला एकान्त करुणाभाव से जीव को बचाता है। फिर उसे पाप कैसे लगा? शक्ति होने पर भी मरते हुए जीव की रक्षा न करना निर्दयता है। कोई आदमी तुम्हें मारता हो और दूसरा आदमी वहां बैठा–बैठा देखता हो, तो तुम उसे क्या कहोगे? क्या उसे निर्दय न कहोगे? यदि कहोगे तो दूसरे के लिए यह बात क्यों नहीं देखते?

मतलब यह है कि न मारने मात्र से रक्षा का काम पूरा नहीं होता, किन्तु मरते हुए को बचाने से ही रक्षा का काम पूरा होता है।

तुम्हें झूठ बोलने वाला प्रिय लगता है या सत्य बोलने वाला? अगर तुम्हें अपने लिए सत्य प्रिय लगता है तो यह भी सोचो कि दूसरे को भी सत्य प्रिय लगता है। इसलिए अगर तुम चाहते हो कि मेरे साथ सब सत्यपूर्ण

व्यवहार करें तो तुम भी सबके साथ सत्यमय व्यवहार करो। चाहे संसार के सभी लोग झूठ बोलें, पर तुम सत्य पर अटल रहो।

सारांश यह है कि जो बात तुम्हें पसंद नहीं है, वह दूसरों के लिए भी पसन्द मत करो। किसी ने कहा है– यदि तू चाहता है कि मेरे सामने बुराई न आवे तो तू भी किसी के साथ बुराई मत कर। तू दूसरे का भला कर, तेरा भी भला होगा।

ऐसा विचार करके त्यागने योग्य काम को त्यागना विवेक है। अब विवेक के फल का विचार करना चाहिए। विवेक का अर्थ यानी प्रयोजन क्या है? सिर्फ विवेक से काम नहीं चलता। जो विवेक किया है उसमें से बुराई को त्याग कर अच्छाई को ग्रहण करना, अर्थात् व्यवहार में लाना विवेक का फल है। तुमने आम का पेड़ लगाया। पेड़ लग गया। बड़ा हो गया। फिर भी उसमें फल न लगें तो कहोगे– व्यर्थ ही लगाया। इसी प्रकार विवेक तो हुआ, पर उसका फल न हुआ तो उससे क्या मतलब निकला? गाय लाये, मोटी–ताजी हुई, दूध नहीं देती तो क्या उसे पसन्द करोगे? इसी प्रकार मगर किसी बात का जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, जानकर त्याज्य को त्यागने और ग्राह्य को ग्रहण करने में ही ज्ञान की सार्थकता है।

कभी–कभी धर्म या धर्मगुरु आदि को लेकर विसंवाद खड़ा हो जाता है। मगर सत्य–असत्य का निर्णय आपका अन्तरात्मा कर सकता है। कदाचित् आत्मा निर्णय न कर सके तो परमात्मा से प्रार्थना करो। प्रार्थना करने से इस प्रकार की पहचान करने में बहुत सहायता मिलेगी। वादी और प्रतिवादी की बात सुनकर विवेक से किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है। निरर्थक वाद–विवाद से कोई परिणाम नहीं निकलता।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विषय का निर्णय विवेक से करो। अगर विवेक से शरीर और आत्मा को अलग–अलग समझ लिया हो, तो कसौटी का मौका आने पर इस बात को भूल मत जाओ। अगर आप जानते हैं कि शरीर और आत्मा एक नहीं, दो हैं, तथा आत्मा अविनाशी और शरीर नाशवान है, तो नाशवान् के लिए अविनाशी का अपमान मत करो। आप तुच्छ बात के लिए भी अविनाशी का अपमान कर देते हैं। इसलिए ज्ञानी कहते हैं– विवेक से काम लो और तुच्छ के लिए महान को न भूलो। चतुरसिंहजी ने कहा है–

बैना आपणो बनाव घणां मोल को करां,
पेली आगली सत्यांरे पग लागणी करां।
पति–प्रेम रा पवित्र नीर मांय सांपड़ां। बेना0।।

करेंगे, जो नहीं मारने को कहता है। यह पसन्दगी आप में कहां से आई? क्या आपने किसी वेद, पुराण या शास्त्र से यह सीखी है? नहीं, यह आपके आत्मा से ही आई है। आपका आत्मा कहता है– जो मारने के लिए कहता है, वह पापी है, बुरा है और जो बचाने की बात कहता है, वह धर्मात्मा और अच्छा है। इस प्रकार आत्मा स्वीकार करता है कि मारना पाप है और बचाना धर्म है। इस आत्मानुभव से धर्म का सार दया है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

लेकिन मनुष्य कितना स्वार्थी है! वह अपने लिए तो दया प्यारी समझता है और दूसरे के लिए दया को भूल जाता है। उसे याद नहीं रहता कि मुझे दया प्रिय है तो दूसरे को भी दया प्रिय है। जो बात अपने लिए आप पसन्द करते हैं, वही बात आप दूसरे के लिए क्यों पसन्द नहीं करते?

कुछ लोग कहते हैं– न मारना तो दया है, लेकिन बचाना दया नहीं, बल्कि पाप है। जिसे बचाया है, वह बचकर जो पाप करेगा वह पाप बचाने वाले को लगेगा। अतएव हमें किसी जीव को मारना तो नहीं चाहिए, लेकिन बचाना भी नहीं चाहिए। कोई मारता है, कोई मरता है, हमें उनके बीच में क्यों पड़ना चाहिए?

ऐसा कहने वालों से यह पूछा जा सकता है कि रक्षा करने से पाप लगता है, ऐसा मानकर किसी की रक्षा नहीं करनी है तो किसी को उपदेश देना भी पाप हो जायगा। उपदेश सुनने वाला जीव नहीं मारेगा। जीव मारता तो नरक में जाता। जीव नहीं मारेगा तो स्वर्ग में जायगा। वहां भोग भोगेगा। इस भोग का पाप न मारने का उपदेश देने वाले को लगना चाहिए। अगर यह बचाव किया जाय कि हमारा भाव पाप कराने का नहीं था तो बचाने वाले का भी पाप करने का कब था? बचाने वाला एकान्त करुणाभाव से जीव को बचाता है। फिर उसे पाप कैसे लगा? शक्ति होने पर भी मरते हुए जीव की रक्षा न करना निर्दयता है। कोई आदमी तुम्हें मारता हो और दूसरा आदमी वहां बैठा–बैठा देखता हो, तो तुम उसे क्या कहोगे? क्या उसे निर्दय न कहोगे? यदि कहोगे तो दूसरे के लिए यह बात क्यों नहीं देखते?

मतलब यह है कि न मारने मात्र से रक्षा का काम पूरा नहीं होता, किन्तु मरते हुए को बचाने से ही रक्षा का काम पूरा होता है।

तुम्हें झूठ बोलने वाला प्रिय लगता है या सत्य बोलने वाला? अगर तुम्हें अपने लिए सत्य प्रिय लगता है तो यह भी सोचो कि दूसरे को भी सत्य प्रिय लगता है। इसलिए अगर तुम चाहते हो कि मेरे साथ सब सत्यपूर्ण

व्यवहार करें तो तुम भी सबके साथ सत्यमय व्यवहार करो। चाहे संसार के सभी लोग झूठ बोलें, पर तुम सत्य पर अटल रहो।

सारांश यह है कि जो बात तुम्हें पसंद नहीं है, वह दूसरों के लिए भी पसन्द मत करो। किसी ने कहा है– यदि तू चाहता है कि मेरे सामने बुराई न आवे तो तू भी किसी के साथ बुराई मत कर। तू दूसरे का भला कर, तेरा भी भला होगा।

ऐसा विचार करके त्यागने योग्य काम को त्यागना विवेक है। अब विवेक के फल का विचार करना चाहिए। विवेक का अर्थ यानी प्रयोजन क्या है? सिर्फ विवेक से काम नहीं चलता। जो विवेक किया है उसमें से बुराई को त्याग कर अच्छाई को ग्रहण करना, अर्थात् व्यवहार में लाना विवेक का फल है। तुमने आम का पेड़ लगाया। पेड़ लग गया। बड़ा हो गया। फिर भी उसमें फल न लगें तो कहोगे– व्यर्थ ही लगाया। इसी प्रकार विवेक तो हुआ, पर उसका फल न हुआ तो उससे क्या मतलब निकला? गाय लाये, मोटी–ताजी हुई, दूध नहीं देती तो क्या उसे पसन्द करोगे? इसी प्रकार मगर किसी बात का जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, जानकर त्याज्य को त्यागने और ग्राह्य को ग्रहण करने में ही ज्ञान की सार्थकता है।

कभी–कभी धर्म या धर्मगुरु आदि को लेकर विसंवाद खड़ा हो जाता है। मगर सत्य–असत्य का निर्णय आपका अन्तरात्मा कर सकता है। कदाचित् आत्मा निर्णय न कर सके तो परमात्मा से प्रार्थना करो। प्रार्थना करने से इस प्रकार की पहचान करने में बहुत सहायता मिलेगी। वादी और प्रतिवादी की बात सुनकर विवेक से किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है। निरर्थक वाद–विवाद से कोई परिणाम नहीं निकलता।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विषय का निर्णय विवेक से करो। अगर विवेक से शरीर और आत्मा को अलग–अलग समझ लिया हो, तो कसौटी का मौका आने पर इस बात को भूल मत जाओ। अगर आप जानते हैं कि शरीर और आत्मा एक नहीं, दो हैं, तथा आत्मा अविनाशी और शरीर नाशवान है, तो नाशवान् के लिए अविनाशी का अपमान मत करो। आप तुच्छ बात के लिए भी अविनाशी का अपमान कर देते हैं। इसलिए ज्ञानी कहते हैं– विवेक से काम लो और तुच्छ के लिए महान को न भूलो। चतुरसिंहजी ने कहा है–

बैना आपणो बनाव घणां मोल को करां,
पेली आगली सत्यांरे पग लागणी करां।
पति–प्रेम रा पवित्र नीर मांय सांपड़ां। बेना०।।

कवि का आशय यह है कि कुछ सखियां इकट्ठी हुई हैं। उस समय एक सखी दूसरी से कहती है– हमें अपना बनाव और शृंगार मूल्यवान् बनाना चाहिए, ऐसा मूल्यवान् कि त्रिलोक में अपने बनाव की कोई कीमत न दे सके। आप गहना, पोशाक आदि बनाव समझती होओगी और कहोगी कि इससे अधिक कीमती बनाव कहां से लावें? स्नान के लिए गंगाजल से भी उत्तम जल कहां से लावें? लेकिन बाहर का यह बनाव तुच्छ है। फिर भी मैं इस तुच्छ का एकदम सर्वथा त्याग करने को नहीं कहती। लेकिन इन सब पर एक सिद्धमंत्र फेर दो। वह सिद्धमंत्र यह कि पहले जो सतियां हुई हैं, उन्हें नमस्कार करो और उन्होंने जो कुछ किया है उसे याद करो। फिर पति–प्रेम के जल में स्नान करो, विवेक से काम लो, जिससे अपना यह शृंगार दूषित न होने पाए।

मतलब यह है कि विवेक ही मनुष्य का सर्वोत्तम शृंगार है। विवेक आत्मा का सौन्दर्य है। अतएव क्षणभर के लिए भी विवेक को मत भूलो।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि विशिष्ट ज्ञान विवेक कहलाता है। आजकल जिसे विज्ञान कहते हैं, उसी का नाम विवेक है। विज्ञान में आजकल भौतिक या जड़ विज्ञान की प्रधानता है और विवेक में आत्मविज्ञान की प्रधानता है। आज का विज्ञान भी आपको विशिष्ट बातें बतलाता है। आग और पानी को तो आप पहले से ही जानते थे, परन्तु यह नहीं जानते थे कि इनसे हजारों मन बोझ खींचा जा सकता है। विज्ञान द्वारा यह बात मालूम हो गई। आजकल के वैज्ञानिक इस भौतिक विज्ञान में ही पड़े हुए हैं, लेकिन प्राचीन काल के ज्ञानियों – पूर्वाचार्यों ने चैतन्य का विज्ञान बतलाया है। आज जो विज्ञान चल रहा और बढ़ रहा है, लोग जिस विज्ञान में पड़े हुए हैं, उस विज्ञान से तो शांति का नाश और अशांति की वृद्धि हुई है।

एक समाचार–पत्र में मैंने पढ़ा था कि एक यूरोपियन ने कहा कि आजकल मैं सबसे बड़ा आदमी हूं। उसने अपने बड़प्पन के विषय में भाषण देते हुए बताया कि जब मैं आज्ञा देता हूं तब मशीन चलती है और जब आज्ञा देता हूं, मशीन बंद हो जाती है। उसने प्रयोग कर दिखलाया। एक बड़ी मशीन को चलने का हुक्म दिया। मशीन चलने लगी। फिर मशीन को बंद होने की आज्ञा दी, तब वह बंद हो गई। उसने समझाया– मैंने यह काम जादू से नहीं किया है! मैंने मशीन का निर्माण करके इसमें रेडियो आदि का ऐसा संबंध स्थापित किया है कि मेरे हुक्म का भार मशीन पर पड़ता है और उस भार के कारण वह चलने लगती है तथा बंद हो जाती है। मैंने अभी एक यही

मशीन बनाई है, लेकिन ऐसी बहुत–सी बन सकती हैं। उनके बनने पर लोगों को खेती करने के लिए खेत पर जाने की आवश्यकता न रहेगी। घर में बैठे–बैठे हुक्म देने से ही मशीन काम करने लगेगी और हुक्म देने पर काम करना बंद कर देगी।

उस वैज्ञानिक ने ऐसी मशीन बनाई है। पर उसके आविष्कार के संबंध में लोगों का मत है कि इस तरह की मशीन का प्रचार न होना अच्छा है। नहीं तो संसार में हाय–हाय मच जायगी। जिसके हुक्म से मशीन चलेगी, वह संयमी तो होगा नहीं, जो उसके उपयोग में संयम से काम ले। उसमें राग–द्वेष होगा। राग–द्वेष से प्रेरित होकर वह दूसरों के गले काटने का हुक्म देगा। इस प्रकार संसार में और ज्यादा मारकाट मच जाएगी। इस बात को दृष्टि में रखकर ही ज्ञानी कहते हैं कि जड़ विज्ञान में ही न पड़े रहकर चैतन्य विज्ञान की ओर आओ। जड़ विज्ञान से कभी शांति नहीं हो सकती। जड़ विज्ञान से जितना बच सको, बचो। नहीं तो अशांति ही अशांति फैलेगी।

विशिष्ट ज्ञान को विवेक कहते हैं, यह बात तो हुई, लेकिन विवेक का फल क्या है? इस विषय में टीकाकार कहते हैं– प्रत्येक बात को विज्ञान से समझना और जो त्यागने के योग्य है उसे त्यागकर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना विवेक का फल है। अगर विवेक करके भी उसका उपयोग न किया तो विवेक निष्फल है। उदाहरणार्थ, किसी सेठ की स्त्री ने कहा– घर में चोर घुस आये हैं। सेठ ने उत्तर दिया– हां, मुझे मालूम है। स्त्री बोली– जानते हो, मगर माल चला जायगा तो जानना क्या काम आएगा?

माल जाने के समय ऐसी गलती कदाचित् ही कोई करता होगा, मगर धर्म के काम में अकसर ऐसी गलती होती है। यह जानते हुए भी कि यह त्यात्य है और यह ग्राह्य है, ग्राह्य को ग्रहण नहीं करते और त्याज्य को त्यागते नहीं। ऐसी अवस्था में जानना किस काम आया? अतएव विवेक की सार्थकता के लिए आचरण में उसका उपयोग करो।

स्थविर भगवान् कहते हैं– हम विवेक और विवेक का अर्थ जानते है। न जानते होते तो आपके वचनों को कटुक रूप में ग्रहण क्यों न करते?

मुनि ने कहा– अगर आप विवेक और विवेक के अर्थ को जानते हैं तो बताइए कि विवेक क्या है और उसका अर्थ क्या है?

स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया– 'हमारे मत से आत्मा ही विवेक है और आत्मा ही विवेक का अर्थ है। मुनि ने इतने में ही अभिप्राय समझ लिया

होगा, मगर हमें विस्तार की आवश्यकता होती है। इसलिए देखना चाहिए कि आत्मा ही विवेक और विवेक का अर्थ किस प्रकार है?

यह कहा जा चुका है कि अलग–अलग करना विवेक है। लेकिन प्रश्न होता है कि अलग–अलग करता कौन है? मट्ठा और मक्खन मथानी द्वारा अलग किया जाता है, लेकिन अलग करने वाला कौन है? अलग करने वाला आत्मा ही है और आत्मा ही यह जानता है कि मक्खन में क्या गुण है। विवेक आत्मा को ही होता है और आत्मा को ही विवेक का फल मिलता है। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से आत्मा ही विवेक है और आत्मा ही विवेक का अर्थ भी है।

आत्मा क्या है, यह बताने के लिए एक सैद्धान्तिक बात कहता हूं। उससे आत्मा का पता चल जायगा। समस्त विज्ञान में आत्मा ही है। आत्मा ही ग्राह्य है, और सब त्याज्य है। आत्मा को बताने के लिए मैं जो कुछ कहता हूं, प्राचीन भाषा में कहता हूं। थोड़े में वह यह है–

यं आत्मा अवहतपापा विजयोर्मृत्यर्धत्तो

एक जगह कहा है– यह मेरा आत्मा कभी पापों से अवहत नहीं होता, मारा नहीं जाता। यह बात द्रव्यार्थिक नय और शुद्ध संग्रह नय की है। आप से कोई कहता है– 'मैं तुझे पापी बना दूंगा, लेकिन आपको समझना चाहिए कि आत्मा ऐसा नहीं कि किसी के बनाने से पापी बन जाय। आपके पास कोई पत्थर की चीज हो, उसके लिए कोई कहता है– मैं दियासलाई लगा कर इसे भस्म कर दूंगा। तो उसके कथन से आपको कोई भय न होगा। भय इस कारण नहीं होगा कि आपको विश्वास है कि मेरी वस्तु दियासलाई से भस्म नहीं हो सकती। यही बात आत्मा के लिए भी समझो। आत्मा महान् वज्र का है। इसे पाप की बड़ी से बड़ी आग भी नहीं जला सकती। आत्मा अनन्त बार सातवें नरक में गया। वहां पाप हार गये, आत्मा नहीं हारा। पाप इसे भस्म नहीं कर सके। नरक का आयुष्य समाप्त हो गया, मगर आत्मा समाप्त नहीं हुआ। ऐसा है यह आत्मा! फिर भी आज पुद्‌गल का राज्य हो रहा है। आत्मा अवहतपापा है। इसलिए आत्मा की ओर देखो।

आत्मा चिंता और शोक से रहित है। यह अजर–अमर है। इसे न जरा आती है, न मृत्यु आती है। पर्याय–विशेष होने पर ही जरा–मरण है। शुद्ध आत्मद्रव्य में यह सब–कुछ नहीं है। वह जरा आदि से सर्वथा अस्पृष्ट है।

आपको जो चिन्ता होती है वह अनात्मा संवंधी ही होती है या कभी आत्मा संवंधी भी? क्या आप कभी यह विचार करते हैं कि मैं अमर क्यों हूं?

आप यह तो सोचते हैं कि मैं मरूंगा, लेकिन यह क्यों नहीं सोचते कि मरता कौन है? मैं अमर हूं, शरीर मरता है। मरना तो सिर्फ चोला बदलना है, फिर चिंता किस बात की? शोक का क्या कारण है?

आत्मा चिन्ता–शोक रहित होने के साथ ही न कुछ खाता है, न पीता है। आप कहेंगे– आत्मा खाता–पीता नहीं तो कौन खाता–पीता है? अगर शरीर खाता है तो मुर्दा क्यों नहीं खाता? वह भी तो शरीर ही है। अगर कहा जाय कि आत्मा खाता है तो मुक्तात्मा क्यों नहीं खाता? असल बात यह है कि जब तक आत्मा शरीर में बैठा है, सशरीर पर्याय में है, तब तक खाता है। शरीर से मुक्त होने के बाद न वह खाता है, न पीता है। आप में और सिद्धात्मा में कोई अन्तर नहीं, केवल कर्म के मैल का अन्तर है। सिद्धात्मा कर्म के मैल से मुक्त है और आप युक्त हैं। इसी से कहा है–

सिद्धां जैसो जीव है जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म–मैल का अन्तरा बुज्झे विरला कोय।।

संसारी आत्मा और सिद्धात्मा में केवल कर्म का अन्तर है। आत्मा अशुद्ध पर्याय में है तभी तक खाता है। ऐसी पर्याय में रहने से लालसा रहती है और जब तक लालसा है तभी तक खाता है। आप उपवास करते हैं तब लालसा होती है? नहीं होती, इसी से नहीं खाते। लालसा छूट जाने पर न कोई खाना, न पीना है।

आत्मा सत्यकाया है, असत्यकाया नहीं। अशुद्ध दशा से छूट जाने पर वह सत्याया है। अगर आप से कोई झूठ बोले तो आप झूठ को पसंद करेंगे या सत्य को? आप सत्य को ही पसंद करेंगे, क्योंकि आत्मा स्वभाव से सत्यकाया है। लेकिन आज आत्मा असत्यकायी बन रहा है, यह बुराई है। आत्मा में जब सत्संकल्प का उदय होता है तब वह इन बुराइयों से बच जाता है। इसलिए संकल्प को सत् बनाओ। विवेक से आत्मा की खोज करो। विवेक से ही आत्मा को जगाओ। इससे आपका भी कल्याण होगा और जगत् का भी कल्याण होगा। आत्मा पर विश्वास करो। वह कहीं बाहर नहीं है। तलाश करने वाला स्वयं ही आत्मा है। सिर्फ अपने–आप को पहचानने की आवश्यकता है।

आत्मार्थी बनो। आत्मार्थी बनने पर कोई भी कष्ट आपको स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मार्थी के पास सभी सुख दौड़े आते हैं। जैसे नदियां समुद्र की ओर ही दौड़ती हैं, उसी प्रकार सब सुखों को आत्मार्थी के पास आना ही

पड़ता है। आत्मकामना से स्वर्ग आदि के साधारण सुख अनायास ही मिलते हैं। इसलिए आत्मा का विवेक करो।

व्युत्सर्ग का विवेचन

विवेक के बाद व्युत्सर्ग की बात आती है। कालास्यवेषिपुत्र मुनि, स्थविर भगवान् से कहते हैं, 'हे स्थविर! आप व्युत्सर्ग को और व्युत्सर्ग के अर्थ को नहीं जानते।' मुनि को भी व्युत्सर्ग का अर्थ न जानने की बात कहना कुछ अच्छा-सा नहीं मालूम होता। मगर स्थविर को यह चुभती नहीं है। वे सोचते हैं- 'जैसा ये समझते हैं वैसा कहते हैं। इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है।' यह विचार कर उन्होंने कहा- 'हे आर्य! हम व्युत्सर्ग भी जानते हैं और व्युत्सर्ग का अर्थ भी जानते हैं।'

व्युत्सर्ग और उसका अर्थ बताने के लिए टीकाकार कहते हैं कि यों तो सामायिक, प्रत्याख्यान, संवर, संयम और विवेक आदि सब व्युत्सर्ग में ही आ जाते हैं। किसी अपेक्षा से अभेद होने पर भी अपेक्षा-विशेष से ये सब भिन्न हैं। व्युत्सर्ग इन सबसे भिन्न इस कारण है कि व्युत्सर्ग काय आदि के संबंध में है। व्युत्सर्ग का संबंध काय आदि के साथ बतलाया गया है। आदि शब्द से यद्यपि औरों का भी ग्रहण होता है, मगर उन सब में काम ही मुख्य है। काय की हलन-चलन आदि चेष्टा को रोक कर उसे स्थिर करना व्युत्सर्ग कहलाता है।

व्युत्सर्ग एक साधारण बात मालूम होती है, मगर वह आत्म-ज्योति प्रकट करने का एक सफल साधन है। इसमें हठ योग की सारी क्रिया आ जाती है। इससे यह पता चल जाता है कि श्वास किस प्रकार लेना और किस प्रकार छोड़ना चाहिए। यों तो श्वास लेना प्राकृतिक काम है और सभी प्राणी श्वास लेते हैं, मगर उसका भी एक खास तरीका है। श्वास लेने का प्राकृतिक साधन नाक है, मुंह नहीं। भोजन करने और बोलने के समय को छोड़ कर दूसरे समय मुंह खुला रखना व्युत्सर्ग को न जानना है।

कई आदमी मुंह फटा रखकर सोते हैं और घर्र-घर्र करके मुंह से ही श्वास लेते हैं। ऐसा करना हानिकारक है। व्युत्सर्ग द्वारा श्वास की क्रिया समझकर प्राणायाम से बढ़ते हुए परम समाधि तक पहुंच जाना व्युत्सर्ग का पूरा हो जाना है।

आप सामायिक करते हुए कायोत्सर्ग में काय को वोसराते हैं- काम का हलन-चलन बंद करते हैं, यह व्युत्सर्ग है। ज्यों-ज्यों हलन-चलन की क्रिया रुकती है, त्यों-त्यों व्युत्सर्ग बढ़ता जाता है। काय की क्रिया यों

अनायास ही नहीं रुक सकती, किन्तु उसके लिए उपाय करने की आवश्यकता पड़ती है। काय को किस प्रकार साधा जाय, किस प्रकार निर्व्यापार बनाया जाय, यह बात समझ कर अभ्यास करने की जरूरत है। आज अभ्यास न होने के कारण लोगों को 'बीस लोगस्स' का ध्यान करना भी कठिन जान पड़ता है।

व्युत्सर्ग को जानने वाला और काया को स्थिर करने की इच्छा रखने वाला सबसे पहले खान-पान पर नियंत्रण करेगा। वह खान-पान का खूब विचार करेगा। जो पुरुष राजस या तामस भोजन करता है, उसका मन स्थिर नहीं रहता और मन की स्थिरता के बिना तन की स्थिरता नहीं हो सकती। अतएव खान-पान पर नियंत्रण रखकर, काय पर अंकुश रखने वाला और मन को पवित्र रखने वाला ही अच्छी तरह व्युत्सर्ग कर सकता है।

लोग समझते हैं- मांस, मदिरा आदि पदार्थों का खाना केवल जीव रक्षा की दृष्टि से वर्ज्य है, लेकिन इनके अभक्ष्य होने का केवल यही कारण नहीं है। इनका सेवन न करने से काया भी स्थिर रहती है। इस प्रयोजन के लिए भी इनका निषेध है। जो खान-पान का विचार नहीं रखता और शराब आदि पदार्थो का सेवन करता है, उसका मन भी स्थिर नहीं रहता और कभी-कभी वह ऐसे बुरे काम कर बैठता है कि नशा उतरने पर पश्चात्ताप के कारण वह मर भी जाता है। इसका मूल कारण खान-पान की बुराई ही है। इसलिए सर्वप्रथम भोजन पान का विचार करना उचित है और उसके बाद श्वास लेने और छोड़ने के संबंध में विचार करना चाहिए। आगे की योग संबंधी क्रियाएं बिना जाने करने से हानि भी हो सकती है, लेकिन जो आदमी पूर्ण श्वास लेता है, अपूर्ण श्वास नहीं लेता, वह भी व्युत्सर्ग कर सकेगा। वह है जो पेट में नाभि तक जाकर फिर लौटे। इस प्रकार पहले खान-पान में, फिर श्वासोच्छ्वास में और फिर बोलने में संयम रखना चाहिए।

अधिक बोलने से भी काया स्थिर नहीं रहती। कई बार तो अधिक बोलने से बुराई भी हो सकती है। जो दिन-रात बड़बड़ाता रहता है, उसकी बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती। उपनिषद् में और पन्नवणा सूत्र में कहा है कि भोजन के सार से आंखों को तेज मिलता है। भोजन के सार से ही आंख बनती है। लोग समझते हैं, देखने मे क्या धरा है, परन्तु देखने में भी शक्ति व्यय होती है। आंख को जो सार मिलता है, उससे बड़ा सार वाणी को मिलता है और उससे भी बड़ा सार मन को मिलता है।

आंख, मन और वाणी का अधिक उपयोग करना अपनी शक्ति को अधिक खर्च करना है। इसलिए जहां तक सम्भव हो, अपनी शक्ति को बचाओ। कदाचित् मन को न रोक सको तो वाणी तो आपके अधिकार में ही है, उसे रोको। जो वाणी को रोकेगा, कम बोलेगा, उसका बल और उसकी बुद्धि और ही प्रकार की हो जायगी। बोलना अपना तेज निकालना है। जो कम बोलता है, वह अच्छा करता है।

काय को रोकने के बाद ध्यान को बढ़ाना चाहिए। ध्यान को बढ़ाते चलने से पूर्ण व्युत्सर्ग तक पहुंच सकते हैं। मगर एक बार फिर दोहरा देना आवश्यक है कि इसके लिए सर्वप्रथम भोजन-पान की शुद्धता आवश्यक है। अशुद्ध, अभक्ष्य पदार्थ खाने वाले का खून खराब हो जाता है और इससे उसका ही नहीं, वरन् उसकी सन्तान का खून भी बिगाड़ जाता है। इस प्रकार परम्परा से बहुतों का बिगाड़ होता है।

व्युत्सर्ग का मतलब काय आदि को स्थिर करना है और इसका फल असंगता है। काम के प्रति जो आसक्ति है, वह व्युत्सर्ग से मिटती है। आपने 'लोगस्स' का ध्यान करने के लिए काय का उत्सर्ग किया। अगर उस समय आपको कोई गाली दे या मारे तो आप बोलेंगे? उससे कुछ कहेंगे? उस समय कुछ भी न कहना व्युत्सर्ग का प्रताप है। उस समय आपको यही सोचना चाहिए— काया मेरी नहीं है, तब कौन मारता है और किसे मारता है, इस प्रपंच में पड़ने की मुझे क्या आवश्यकता है? जो मरता है, वह मैं नहीं हूं। जो मैं हूं, वह मरता नहीं है। इस प्रकार का विचार काय के प्रति असंग होने से, अर्थात् व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग करने से ही आता है।

अगर ऐसा न करके आप सोचने लगे-ठहर जा जरा! मेरा ध्यान पूरा हो जाने दे, फिर ब्याज सहित वसूल करूंगा। ऐसा विचार आया तो ध्यान गया। ऐसा विचार रखने वाला काय के प्रति असंग नहीं है। कई लोग तो ध्यान में ही दूसरे को मारने दौड़ते हैं या उसने जो गाली दी, उसका विचार करते हैं। विचारणीय यह है कि तू गाली का विचार करता था या ध्यान करता था? कायोत्सर्ग में था या गाली में था?

जिस चंडकौशिक सांप के कारण जगत् में त्राहि-त्राहि की करुण ध्वनि सुन पड़ती थी, जिसके भय से उसके आस-पास का रास्ता बंद था और जिसकी दृष्टि में ही घोर विष भरा हुआ था, उसके सामने जाकर भगवान् महावीर ने कायोत्सर्ग किया था। उन्होंने अपने ज्ञान में देखकर सोचा— 'व्यर्थ ही लोग उस सांप से डरते हैं। वह सांप तो व्युत्सर्ग सिखाता है।' ऐसा विचार

कर भगवान् उसकी ओर चल दिये। कोई अनजान में उस मार्ग से न चला जाय, इस प्रयोजन के लिए दयालु लोगों ने कुछ आदमी नियुक्त कर दिये थे। वे उधर जाने वालों को इसलिए रोक देते थे कि उस सांप के विष से बचना कठिन था।

जब भगवान् उस मार्ग से जाने लगे तो उन्होंने कहा– 'इस मार्ग से न जाइए। इधर ऐसा भयानक सांप रहता है कि उसकी दृष्टि पड़ते ही विष चढ़ जाता है।'

प्रभु उनकी बात सुनकर मुस्करा दिये। उन्होंने सोचा– ये लोग जैसा जानते हैं, कहते हैं। इन्हें सांप का ही विष दिखता है, अपने अन्तःकरण का विष दिखाई नहीं देता। लोग सांप से भयभीत होकर उसे मारने दौड़ते हैं, यह नहीं देखते कि हममें कितना भयंकर विष है। मैं व्युत्सर्ग द्वारा जगत् को दिखला दूंगा कि विष सांप में ही नहीं है, तुम में भी है। इसी कारण सांप का विष तुम पर असर करता है।

यह सोचकर भगवान् आगे बढ़े। रखवाले फिर कहने लगे– 'आप कहां जा रहे हैं? इधर का रास्ता सांप के कारण बंद है। अगर आप नहीं मानेंगे तो जीवित नहीं बचेंगे।'

उनकी बात सुनकर भगवान् के सौम्य मुख पर फिर सहज स्मित की रेखाएं खिंच गई। तब रखवालों ने कहा– 'हंसते क्यों हैं? अभी आपको हमारी बात पर विश्वास नहीं होता। सांप सामने आएगा तब पता चलेगा! किसी मूर्ख ने भरमा कर आपको यहां भेजा होगा, लेकिन हम कहते हैं– लौट जाइए। आगे मत जाइए।'

भगवान् विचारने लगे– ये लोग अभी भ्रम को बुरा समझते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि भ्रम क्या है? यह सोचते हुए, मुस्कराते हुए भगवान् और आगे बढ़े।

यह देखकर रास्ते के रखवालों को गुस्सा आ गया। एक ने कहा– 'क्या सुनते नहीं हो! क्यों हमें बदनाम करना चाहते हो? लोग कहेंगे–हमने रोका नहीं, इसलिए गये और मारे गये।'

दूसरे ने कहा– 'नहीं मानता तो जाने दो, मरने दो। जिसकी मौत आ गई हो उसे कौन रोक सकता है?'

तीसरे ने कहा– 'यह न जाने कौन है? इनकी आंखें तो देखो कैसी है! हम लोग इतना कह रहे हैं, फिर भी मुस्करा रहे हैं। इनकी आंखों में क्रोध तो है ही नहीं। इन्हें नमस्कार कर लें और जाते ही हैं तो जाने दें।'

क्रोध और प्रेम आंखों से स्पष्ट मालूम हो जाता है। आंखें तो क्रोध के समय भी वही और प्रेम के समय भी वही रहती हैं, मगर दोनों में कितना अन्तर हो जाता है! आंखें तेज से वनी हैं। आंखो का पूरा वर्णन सुन कर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आंखें क्या हैं?

तीसरा आदमी कहता है– 'इनकी आंखों से प्रकट है कि ये कोई शक्ति सम्पन्न महात्मा हैं। ये कोई महान् विभूति हैं। हम लोग सारा वृत्तान्त उन्हें बता दें और फिर वे जाना चाहें तो भले ही जाएं। इन्हें किसी तरह का अपशब्द मत कहना।'

चौथे ने भड़क कर कहा– 'वाह! खूब कही! जाने दिया और सांप के काटने से मर गया तो बदनामी किसकी होगी?'

तीसरे ने शांत भाव से कहा– इनसे हठ करना ठीक नहीं है। हमने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। अब हठ करना हानिकर होगा।

ये लोग आपस में बात कह रहे थे कि भगवान् कुछ और आगे बढ़े। रखवाले भी कुतूहलवश भगवान् के पीछे हो लिये। उन्होंने सोचा– देखें, क्या करते हैं? भगवान् स्थिर गति से चलते–चलते सांप की बांबी पर आये। रखवाले सोचने लगे– हम लोग समझते थे, यह भूल से इधर आ गये हैं, मगर जान पड़ता है, ये तो यहां के लिये ही आये हैं।

तीसरा आदमी कहने लगा–मैं तो इनकी प्रेमपूर्ण परन्तु तेजस्वी आंखें देख कर ही समझ गया था। आंखें बिना बताये ही बता देती हैं कि यह किस श्रेणी का पुरुष है! हृदय का भाव आंखों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इनकी आंखें देखकर ही मैं समझ गया था कि ये कोई महान् पुरुष हैं।'

भगवान् बांबी के मुंह पर ध्यान करके खड़े हो गये। सांप को जैसे ही किसी का आना मालूम हुआ कि वह क्रोध से उन्मत्त हुआ बाहर निकला। वह भगवान् की ओर बार–बार देखकर दृष्टि से विष छोड़ने लगा। मगर भगवान् का कुछ भी न बिगड़ा। वे ज्यों के त्यों अचल खड़े रहे। ध्यान पूरा होने पर भगवान की और उसकी आंखें मिलीं। भगवान की अमृतदृष्टि और चंडकौशिक की विषदृष्टि आपस में टकराई। वह सम्पूर्ण क्रोध के साथ अपनी आंखों से विष फेकने लगा, मगर भगवान् पर जरा भी असर न हुआ।

भगवान् की दृष्टि में विष का लेशमात्र भी होता तो चंडकौशिक का विष भगवान् पर असर कर जाता। मगर भगवान् विष से सर्वथा विनिर्मुक्त थे। अतएव सर्प का विष प्रभावहीन हो गया। वास्तव में हमारी दृष्टि में भी विष है और हमारी दृष्टि के विष से ही दूसरों का विष हम पर असर करता है।

चंडकौशिक सोचने लगा– आज तक कहीं मेरी दृष्टि नहीं रुकी। कभी मेरी शक्ति निष्फल नहीं हुई। मगर यह कौन जबर्दस्त आदमी है कि इस पर मेरी शक्ति व्यर्थ हो रही है। आज तक तो कोई मेरे सामने नहीं ठहर सका। जो आया वह यमपुर पहुंचा। लेकिन यह आदमी बड़ा ही विलक्षण है। न बोलता है, न टलता है। ऐसा सोचकर उसने भगवान् के उस अंगूठे पर डंक मारा, जिस अंगूठे से बचपन में जन्म के कुछ ही समय बाद सुमेरु कांप उठा था। आज उसमें कितनी शक्ति होगी, यह अनुमान करना ही कठिन है। लेकिन आज तो भगवान् में और ही प्रकार का बल है।

चंडकौशिक ने भगवान् को काटा, तब भगवान् सोचने लगे– व्युत्सर्ग का फल तो चंडकौशिक ही बतलाता है। व्युत्सर्ग का मतलब शरीर का दान करना है। शरीर का इस प्रकार उत्सर्ग कर देना कि चाहे कोई उसे ले जाय, कोई भी उसे नष्ट कर दे, ऐसा विचार करके शरीर का उत्सर्ग कर देना, यही व्युत्सर्ग है। जिसमें पूर्ण व्युत्सर्ग होगा, वह इतनी ऊंची भावना रखेगा।

चंडकौशिक ने जब भगवान् को काट लिया, तो भगवान् के अंगूठे से खून निकला। पर वह दूध सरीखा था। चंडकौशिक को वह अमृत की तरह मीठा लगा। वह सोचने लगा– मैंने बहुत बार खून का आस्वादन किया है, मगर यह खून तो कुछ और ही है।

भगवान् ने उसके सामने शरीर रखकर कहा– 'ले, मेरा शरीर ले। अब तू वैर मत रख। और किसी को दुख देकर स्वयं दुखी मत हो। अगर तुझे अपनी शक्ति आजमानी है और दुःख ही देना है तो ले, यह शरीर तेरे सामने है। शक्ति आजमा ले, दुःख दे ले, इस प्रकार भगवान् ने जैसे जगत् का दुःख मिटाने के लिए ही अपना उत्सर्ग किया था। सिद्धान्त में कहा है–

खेयन्नए से कुसले महेसी।

भगवान् पराये दुःख को जानने वाले और उस दुःख की जड़ मिटाने वाले थे।

शुक्ल लेश्या के पुद्गल कैसे मीठे होते हैं, यह बात पन्नवणा सूत्र में बतलाई है। भगवान् महावीर की शुक्ल लेश्या उत्कृष्ट थी। वैसे तो तीर्थंकर होने के कारण उनके शरीर के पुद्गल विशिष्ट थे ही, मगर शुक्ल लेश्या के कारण और भी विशिष्ट थे। अतएव भगवान् के रक्त का स्वाद चंडकौशिक को विलक्षण ही लगा। उसने सोचा– यह मूर्ति तो परिचित जान पड़ती है। यह ध्यान भी परिचित जान पड़ता है। इस प्रकार ध्यान लगाते–लगाते

जाति–स्मरण होते ही उसे ज्ञान हुआ कि मैं मुनि था और क्रोध करने के कारण सांप हुआ हूं।

इतने में भगवान् का व्युत्सर्ग पूरा हुआ। उन्होंने चंडकौशिक से कहा– 'समझ, चंडकौशिक! समझ! तेरा और मेरा आत्मा समान है। अब तो बोध प्राप्त कर।'

चंडकौशिक, भगवान् की यह वाणी सुनकर सोचने लगा– 'यह तो भगवान् हैं। मैंने यह शरीर क्या खाया, नरक खाया है। इस शरीर से मैंने बहुत पाप किया है। औरों की तो बात क्या, त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी मैंने नहीं छोड़ा!' ऐसा विचार कर चंडकौशिक ने अठारह पापों का त्याग कर दिया। उसने सोचा– "मैंने पापों का त्याग कर दिया, मगर मेरी दृष्टि में विष है। जिस पर मेरी दृष्टि पड़ेगी, वह मारा जायगा।'

चंडकौशिक ने, किसी को पीड़ा न पहुंचे, इस अभिप्राय से बांबी में अपना सिर घुसेड़ लिया। सोचा–भगवान् ने यहां आकर व्युत्सर्ग किया, उसी तरह मैं भी व्युत्सर्ग करता हूं। मैं भी अपना शरीर त्यागता हूं। अब इस शरीर को कोई भी खा जावे, कोई भी ले जावे। मुझे इससे कोई सरोकार नहीं।

भगवान् के पीछे जो रखवाले आये थे, वे आपस में कहने लगे–सांप आया तो था, मगर इस महात्मा का तो कुछ भी नहीं बिगड़ा! वे लोग पत्थर फेंक कर देखने लगे कि सांप जीवित है या मर गया है। लेकिन सांप हिलता–डुलता नहीं था। उन लोगों ने मशहूर कर दिया– सांप शान्त हो गया है!

लोगों में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि सांप शान्त हो गया। दुखदायी शक्ति जब शान्त हो जाती है तो लोग उसकी पूजा करते हैं। इस परम्परागत प्रथा के अनुसार जनता दूध, दही से सांप की पूजा करने लगी। मगर अब पूजना और मारना, उसके लिए समान था। दूध, दही आदि लगने के कारण उसके शरीर को चींटियां लग गई। सांप को वेदना हो रही थी। तब उसने सोचा– मैंने अनेकों को और त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी कष्ट पहुंचाया है। चींटियां मेरे पाप को हलका कर रही हैं।

इस प्रकार शान्ति रखने से भगवान् में जो लेश्या थी, वही लेश्या उसकी भी हो गई। जीव जिस गति में जाने को होता है, उसी के अनुकूल लेश्या उसकी हो जाती है। चंडकौशिक को शुक्ल लेश्या प्राप्त हो गई। ज्यों–ज्यों वेदना बढ़ती जाती थी, उसका ध्यान भी बढ़ता जाता था। उसने

क्रोध नहीं किया। उसका पाप धुलने लगा। वह धैर्य के साथ कष्ट सहता रहता रहा। उसे चींटियों ने काट–काट कर खोखला बना दिया। अन्त में शरीर त्याग कर वह स्वर्ग पहुंचा।

हम लोग न भगवान् के समान हैं, न चंडकौशिक के ही समान हैं– बीच के हैं। फिर भी सांप से ऊंची श्रेणी के हैं। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कर्तव्य से कहीं सांप न बन जाएं! सांप ने कीड़ियों का काटना सहन किया था। क्या हम किसी का बोल भी नहीं सहन कर सकते? अगर नहीं तो व्युत्सर्ग क्या होगा!

यह व्युत्सर्ग का प्रताप है। व्युत्सर्ग तप का पोषण करता है। व्युत्सर्ग से शरीर में और शरीर द्वारा आत्मा में स्थिरता उत्पन्न होती है।

व्युत्सर्ग दो प्रकार का है– द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग। द्रव्य–व्युत्सर्ग के भी चार भेद हैं। व्युत्सर्ग का अर्थ प्रत्येक वस्तु का त्याग है। इस उपदेश का पहला पात्र मुनि ही है, क्योंकि मुनि इसीलिए तैयार हुए हैं, इसी के लिए उन्होंने घर छोड़ा है।

द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेदों में पहला भेद शरीर का व्युत्सर्ग है। शरीर के व्युत्सर्ग करने का मतलब शरीर का घात करना नहीं है, किन्तु शरीर को साधन मात्र मानना और इससे ममत्व त्याग देना शरीर–व्युत्सर्ग है। जैसे आप चाकू आदि हथियार अपने पास रखते हैं, लेकिन अपनी हानि करने के लिए नहीं, वरन् उनसे काम लेने के लिए रखते हैं। यानी उन्हें अपने काम का साधन मात्र मानते हैं। उनसे अपनी हानि नहीं करते। इसी प्रकार शरीर को भी साधन मात्र समझना व्युत्सर्ग है। चाकू से कलम को निकाल सकते हैं और आत्महत्या भी कर सकते हैं। इसी प्रकार शरीर से भी दोनों काम हो सकते है। शरीर की सहायता से अच्छे काम भी किये जा सकते हैं और बुरे काम भी किये जा सकते है। मगर बुरे कामों में न लगाकर अच्छे कामों में लगाना शरीर का व्युत्सर्ग है। पूर्ण व्युत्सर्ग की सिद्धि चौदहवें गुणस्थान में होती है, लेकिन अभ्यास तो करते ही रहना चाहिए।

द्रव्यव्युत्सर्ग का दूसरा भेद गण–व्युत्सर्ग है। गण का अर्थ गच्छ है। जब पूर्ण दशा प्राप्त हो जाय, आठ गुण प्रकट हो जाएं, तब गच्छ का त्याग कर देना चाहिए। गच्छ में रहने पर अनेक प्रवृत्ति–निवृत्ति के काम करने पड़ते है। जिसनें सारणा, वारणा और धारणा हो, वही गच्छ कहलाता है। जिसमें यह न हो, वह अगच्छ है। लेकिन ऐसा करने नें कई प्रकार की खटपट होती है। इसीलिए आठ गुण प्रकट हो जाने पर गच्छ भी त्याग देना चाहिए, जिससे

किसी से कुछ कहने–सुनने की आवश्यकता न हो और पूर्ण एकान्त एवं शान्ति प्राप्त की जा सके।

मगर इस प्रकार के गुण न होने पर भी गच्छ को त्यागना उच्छृंखलता है। त्याग की भी मर्यादा होती है। आठ गुण प्रकट हुए विना गच्छ को त्यागना सर्वथा अनुचित है, फिर भले ही कोई त्याग के नाम पर ही ऐसा क्यों न करे। शास्त्र में तो आहार–पानी और शरीर के त्याग का भी विधान है। इनका त्याग तो न करे, मगर गच्छ का त्याग कर दे तो यह कैसे ठीक कहा जा सकता है? मतलब यह है कि जब आठ गुण प्रकट हो जाएं और जब भोजन तथा शरीर भी त्यागने की क्षमता प्राप्त हो जाय, तब गच्छ भी त्यागा जा सकता है। इस से पहले त्याग करना उचित नहीं है।

द्रव्यव्युत्सर्ग का तीसरा भेद उपधि–व्युत्सर्ग है। जब काम हो गया तो उसके लिए उपकरण रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। नदी पार करने के लिए नौका या तूंबा का सहारा लिया जाता है। नदी पार कर लेने के पश्चात् भी कोई नौका से चिपटा रहे तो वह मूर्ख गिना जायगा। इसी प्रकार संयम की रक्षा के लिए उपधि आवश्यक है। यह कार्य सध जाने पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

द्रव्यव्युत्सर्ग का चौथा भेद भी भक्तपान–व्युत्सर्ग है। जब जीवन की आशा और मृत्यु का भय न रह जाय, तब भोजन–पानी का भी व्युत्सर्ग कर दिया जाय। उस समय में इनकी भी आवश्यकता न समझे।

भावव्युत्सर्ग तीन प्रकार का है (1) कषाय–व्युत्सर्ग (2) संस्कार–व्युत्सर्ग और (3) कर्म–व्युत्सर्ग। इनमें से कषाय व्युत्सर्ग के चार भेद हैंः क्रोध–व्युत्सर्ग, मान–व्युत्सर्ग, माया–व्युत्सर्ग और लोभ–व्युत्सर्ग। अर्थात् क्रोध आदि चारों का त्याग करना कषाय–व्युत्सर्ग है।

मुक्ति का साक्षात् कारण तो भावव्युत्सर्ग ही है, मगर भावव्युत्सर्ग के लिए द्रव्यव्युत्सर्ग आवश्यक है। इसलिए पहले द्रव्यव्युत्सर्ग करना चाहिए। संसार के प्रति आसक्ति होने से ही क्रोध, मान, माया, लोभ होता है। संसार की आसक्ति छूटने से ये छूटते हैं और इनके छूटने पर द्रव्यव्युत्सर्ग होता है, और द्रव्यव्युत्सर्ग होने पर ही भावव्युसर्ग होता है। अगर कोई आदमी द्रव्यव्युत्सर्ग करे, परन्तु भावव्युत्सर्ग न करे तो निज आत्मा की सिद्धि नहीं होती, यह दिवाले का– सा व्यापार है। धन की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए व्यापार करने वाला अगर ध्यान न रखे तो उसका दिवाला ही निकलेगा। कुशल व्यापारी वही माना जायगा जो अपनी पूंजी से धन बढ़ाएगा। इसी

तरह क्रोध, मान, माया और लोभ के व्युत्सर्ग के लिए ही द्रव्यव्युत्सर्ग है। और गच्छ एवं उपधि और भोजन–पानी आदि का व्युत्सर्ग भावव्युत्सर्ग के लिए है। द्रव्यव्युत्सर्ग हुआ, लेकिन भावव्युत्सर्ग न हुआ तो यह बिना लाभ का व्यापार करना है।

संसार–व्युत्सर्ग के चार भेद हैं। नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति का व्युत्सर्ग करना ही संसार–व्युत्सर्ग है। यों तो नरकगति में कोई जाना नहीं चाहता, मगर यही नरकगति–व्युत्सर्ग नहीं कहा जा सकता। नरक में जाने के जो कारण हैं, उन कारणों से बचना नरकगति–व्युत्सर्ग है। जेल जाने का त्याग करना तो ठीक है, मगर जिन चोरी आदि अपराधों के कारण जेल जाना पड़ता है, उनका त्याग करने पर ही जेल जाने का त्याग करना कहला सकता है। जिसने इन अपराधों का त्याग नहीं किया, उसका सच्चा त्याग नहीं है। इसी प्रकार नरकगति के कारणों का त्याग करने पर ही नरकगति का त्याग हो सकता है। ऐसा करने वाले के लिए नरक का द्वार बंद हो जाता है। मगर नरक के योग्य कामों का त्याग किये बिना नरकगति का व्युत्सर्ग कैसे हो सकता है? अतएव नरकगति का व्युत्सर्ग करने वालों को उसके कारणों का व्युत्सर्ग करना चाहिए।

नरक की तरह स्वर्ग का भी व्युत्सर्ग करना चाहिए। आप स्वर्ग प्राप्त करना चाहते होंगे, मगर ज्ञानीजनों का कथन है कि स्वर्ग का भी व्युत्सर्ग करो। स्वर्ग अच्छा तो लगता है, पर आयु समाप्त होने पर जब जीव वहां से गिरता है, तब बहुत नीचे तक भी चला जाता है। कहावत है :–

चढ़ उतंग वहां से पतन, शिखर नहीं वह कूप।
जिस सुख अन्दर दुख बसे, वह सुख भी दुख रूप।।

जो बांस पर चढ़ कर नीचे गिरता है, उसके लिए जमीन ही कुआं बन जाती है। इसी कारण ज्ञानी कहते हैं– स्वर्ग की भी अभिलाषा मत करो। स्वर्ग का भी व्युत्सर्ग कर दो। स्वर्ग की कामना से तप आदि न करके संसार के व्युत्सर्ग की भावना से करो। संसार का व्युत्सर्ग करना जन्म–मरण का व्युत्सर्ग करना है यानी मोक्ष जाना है। इसलिए मोक्ष की ही कामना से तप आदि करना चाहिए, संसार की कामना से नहीं।

कर्म का व्युत्सर्ग करना चाहिए। असातावेदनीय आदि की तरह सातावेदनीय आदि भी त्याज्य हैं। जो जिस प्रकार का व्युत्सर्ग करेगा, उसे उसी प्रकार का फल प्राप्त होगा। शरीर के व्युत्सर्ग से शरीर के व्युत्सर्ग का फल होगा, गच्छ के व्युत्सर्ग से गच्छ के व्युत्सर्ग का फल होगा। अगर उपधि

या भोजन–पान का व्युत्सर्ग किया जाय तो वैसा फल प्राप्त होगा। शरीर के व्युत्सर्ग से शरीर द्वारा होने वाले संग का व्युत्सर्ग हो जाता है, शरीर संबंधी ममता–मूर्च्छा मिट जाती है। गच्छ का व्युत्सर्ग करने से गच्छ संबंधी ममता हटती है। भक्त–पान के व्युत्सर्ग से भोजन–पानी संबंधी और उपधि त्यागने से उपधि सम्बन्धी ममता मिट जाती है। भावव्युत्सर्ग करने से आत्मा निःसंग होता है। मान का व्युत्सर्ग करने से मान का असंग होगा और माया का व्युत्सर्ग करने से माया का असंग होगा। इसी प्रकार क्रोध और लोभ का व्युत्सर्ग करने से क्रोध और लोभ का असंग होता है। चार प्रकार के संसार का व्युत्सर्ग करने से संसार का असंग होता है। इन सब का त्याग करने पर केवल मोक्ष ही बचा रहता है। कर्म का व्युत्सर्ग करने पर कर्म का असंग होगा। कर्मों को आत्मा ने ही ठहरा रक्खा है। अगर आत्मा न ठहरावे, तो वे ठहर ही नहीं सकते। कर्म का उत्सर्ग करने पर कर्म से असंग हो जाता है और कर्म से असंग होने पर आत्मा के लिए मोक्ष ही बच जाता है।

स्थविर भगवान् ने कहा था कि आत्मा ही व्युत्सर्ग है और आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है। किसी भी तरह से विचार करो, व्युत्सर्ग आत्मा के लिए ही सिद्ध होगा। व्युत्सर्ग करने वाला भी आत्मा ही है। जिसे शरीर प्राप्त है, वही व्युत्सर्ग कर सकता है, विशेषतः शरीर का व्युत्सर्ग तो शरीर के बिना हो ही नहीं सकता। इससे यह बात स्पष्ट है कि शरीर अलग है और व्युत्सर्ग करने वाला अलग है। इसलिए शरीर का व्युत्सर्ग करने वाला (अर्थात् आत्मा) ही व्युत्सर्ग है। भोजन उपधि, गच्छ आदि का व्युत्सर्ग आत्मा ही करता है, इसलिए आत्मा को देखो। जो–कुछ भी करो, आत्मा के लिए करो।

बहुत–से लोग आत्मा के लिए व्युत्सर्ग न करके पुद्गल के लिए करते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि आत्मा में शक्ति होगी तो पुद्गल आप ही आ जुटेंगे और आत्मा की शक्ति के अभाव में, केवल चाहने मात्र से कदापि नहीं आ सकते। शक्ति होने पर गले में वरमाला आ ही पड़ती है। कृष्ण ने रुक्मिणी से कब कहा था कि मेरे साथ विवाह कर लो। कृष्ण ने अपना पराक्रम दिखलाया तो रुक्मिणी मिल ही गई। राम ने सीता से वरमाला डालने की प्रार्थना नहीं की थी, पराक्रम से उन्हें सीता मिली।

इसी प्रकार आत्मा जब पराक्रम करेगा तो उसे किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी। पराक्रम करने पर संसार के सब अच्छे पदार्थ आत्मा के सन्मुख आ जाएंगे। अतएव कामनाओं को जीत कर आत्मा के लिए पराक्रम करो तो कल्याण के भागी बनोगे।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि के छहों प्रश्नों की व्याख्या हो गई। इस विषय में और भी तर्क–वितर्क किये जा सकते हैं। मगर उन सबका सार यही है कि आप शरीर आदि को देखते हैं, मगर उनके स्वामी आत्मा को नहीं देखते। आत्मा को देखे बिना व्युत्सर्ग निष्फल है। शास्त्र में कहा है कि श्रमण निर्ग्रन्थ का एक वचन सुनते ही सुबाहुकुमार को जैसी ऋद्धि प्राप्त होती है, तो पूरी तरह सुनकर धारण करने से कैसी ऋद्धि मिलेगी? आप पूरी तरह सुनकर धारण करो।

बहुत–से लोग समझते हैं कि बकरा या भैंसा चढ़ाये बिना देवी की पूजा नहीं हो सकती। यह गनीमत है कि आजकल बकरों और भैंसों की ही बलि चढ़ाई जाती है, पहले तो कन्याबलि और नरबलि भी दी जाती थी। भोले लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि बकरों और भैंसों की बलि के बिना देवी प्रसन्न नहीं होती, न उसकी पूजा ही हो सकती है। भोले लोग शास्त्र की बात नहीं समझते, इसलिए जानते हैं कि देवी के लिए बकरा, भैंसा चढ़ाना चाहिए। मगर यह देखना चाहिए कि इस विषय में शास्त्र क्या कहता है?

शास्त्र में कहा हुआ व्युत्सर्ग बलिदान ही है। शब्द अलग–अलग हैं, पर अर्थ में अन्तर नहीं है। बलिदान शब्द हिंसा के अर्थ में इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि उसके लिए व्युत्सर्ग शब्द का प्रयोग करना अटपटा और असंगत जान पड़ता है, फिर भी लोकरूढ़ि को एक किनारे रखकर दोनों के मूल और असली अर्थ पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो दोनों की एकार्थकता पर जरा भी आश्चर्य न होगा।

बलिदान का वास्तविक अर्थ इष्ट वस्तु का दान कर देना है और व्युत्सर्ग का अर्थ भी यही है। मगर बलिदान शब्द आजकल गलत अर्थ में व्यवहृत होता है। इसके अर्थ में हिंसा घुसेड़ दी गई है। इसलिए जैन शास्त्र में बलिदान शब्द का उपयोग नहीं देखा जाता। पर दोनों शब्दों का मूल भाव–अर्थ एक ही है। बलिदान करने वाले लोग बलिदान शब्द के अर्थ में हिंसा का सम्बन्ध जोड़ते हैं, लेकिन देवी भागवत आदि में बलिदान शब्द का क्या अर्थ बतलाया है, यह बात संक्षेप में यहां बतलाई जाती है।

दुर्गा कहिए, भवानी कहिए या शक्ति कहिए, आखिर यह सब जगत् की माता मानी जाती है। जब सारे जगत् की माता हैं तो क्या बकरों और भैंसों की माता नहीं हैं? यदि हैं तो क्या वे अपने बेटों को मरवाना और खाना पसन्द कर सकती हैं? अगर कहो कि वे दुष्ट और राक्षस का संहार करती हैं तो मरने वाला दुष्ट है या मारने वाला? बकरा मारा जाता है और वही दुष्ट ठहराया

जाता है, यह कहां का न्याय है? दुष्ट तो मारने वाला ही है। लोग इस सीधी–सी बात का विचार न करके, लालसा के वश होकर अपने खाने की भावना के अनुसार देव गढ़ लेते हैं। राजस प्रकृति वालों ने राजस देव बना लिये हैं, और तामस प्रकृति वालों ने तामस स्वभाव के देवों की सृष्टि कर ली है। मगर ज्ञानी कहते हैं कि इन दोनों प्रकृतियों से निकल कर सात्त्विक प्रकृति में आओ।

महाकाल संहिता में कहा है –

सात्त्विको जीवहत्यां कदापि न समाचरेत्

अर्थात् सात्विक प्रकृति वाला कदापि जीवों की हत्या नहीं करेगा।

यहां स्पष्ट शब्दों में जीवहत्या का निषेध किया है। अगर जीवहत्या विधेय होती तो बड़े लोग अधिक जीवहत्या करते। महानिर्वाणतन्त्र में कहा है कि काम और क्रोध, दो पशु हैं। ये दोनों अज्ञान से हैं। इसलिए अज्ञान ही असली पशु है। इन पशुओं को देवी के अर्पण करना चाहिए।

मगर पूजा करने वाले से काम और क्रोध नहीं छूटा, इसलिए देवी को भी वैसा ही रंग दे दिया है।

ग्रन्थों में चार प्रकार की बलि बतलाई है। उत्तम बलि वह है जिसमें आत्मा का बलिदान कर दिया जाता है। जिस तरह शास्त्रों में संसार का व्युत्सर्ग करने के लिए कहा है, ऐसे ही संसार के पदार्थों पर जो ममता है, उसे काट–काट कर हटा देना और भेदभाव से निकलकर अभेद में जाना, यह श्रेष्ठ बलिदान है। दूसरा बलिदान उससे कुछ घटिया है। जैसे 'दासोऽहम्' अर्थात् मैं दास हूं। ऐसा साधना की प्रारम्भिक अवस्था में कहा जाता है। इस वाक्य में से 'दा' निकाल देने पर 'सोऽहम्' रह जाता है। इसका अर्थ है– 'जो परमात्मा है वही मैं हूं।' लेकिन 'दासोऽहम्' 'सोऽहम्' बनने के लिए है न कि 'दासोऽहम्' बने रहने के लिए। 'दासोऽहम्' में से 'दा' निकालने के लिए ही 'दासोऽहम्' है, न कि 'सोऽहम्' निकाल देने के लिए। इसी तरह काम–क्रोध बढाने के लिए बलिदान नहीं है, किन्तु काम–क्रोध को काटना ही सच्चा बलिदान है।

सच्चा संत ही बलिदान का सच्चा ज्ञान करा सकता है। मांस–मदिरा खाने–पीने वाले लोग मांस–मदिरा का सेवन करना ही बलिदान का अर्थ बताएंगे।

उससे निम्न कोटि का बलिदान यह है कि सम्पूर्ण काम, क्रोध का बलिदान न हो सके तो जिन पदार्थों पर अधिक ममत्व दौड़ता है, उन्हें जितना

सम्भव हो, त्यागना। लालसा, मोह, ममत्व बढ़ाने वाली चीजों का जितना बन सके, उतना त्याग करना, यह तीसरे दर्जे का बलिदान है।

जैन शास्त्रों में ये तीनों ही बलिदान बताये हैं। कोई संथारा लेकर प्रथम श्रेणी का बलिदान करता है, कोई साधु होता है और कोई देशविरत श्रावक होता है। अगर कोई साधु या श्रावक भी नहीं हो सकता तो भी वह कुछ-न-कुछ त्यागता ही है। यह चौथे दर्जे का बलिदान है, जिसे हम सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं। मिथ्यात्व को त्यागना और पदार्थ के असली स्वरूप को जानना, यह भी साधारण बात नहीं है।

इस प्रकार चार तरह का बलिदान बताया है। सब का सारांश यही है कि त्याग करो। त्याग करके तुम जो बलिदान करोगे, उससे तुम्हें सुख और जगत् को शान्ति मिलेगी।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने जो प्रश्न किये थे, उनका स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया। इन छह प्रश्नोत्तरों में यह कहा गया है कि सामायिक आदि गुणों को गुणी से अभिन्न मान लो तो इन सबका अर्थ आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं निकलेगा। इसलिए आत्मा को पहचानो।

अब मुनि इसी विषय में तर्क करते हैं। वे कहते हैं- स्थविर! तुमने सामायिक आदि को और उन सब के अर्थ को आत्मा बताया है, लेकिन आत्मा ही अगर सामायिक आदि है और सामायिक आदि के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़ना चाहिए तो फिर 'निंदामि, गरिहामि, पडिक्कमामि' क्यों कहते हो? आत्मा ही सामायिक है तो निन्दा करने की क्या आवश्यकता है? निन्दा करना पाप है, यह बात प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में निन्दा करना कैसे उचित कहा जा सकता है?

निन्दा करना पाप है, पर यहां किसी और ही आशय से निन्दा करना कहा गया है। किस आशय को लेकर प्रतिक्रमण से निन्दा की जाती है, यह बात स्थविर भगवान् बतलाते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार के प्रश्न के उत्तर में स्थविर भगवान् ने कहा- 'हे आर्य! हम संयम के लिए निन्दा - गर्हा करते हैं।'

मुनि ने फिर तर्क किया- 'जब क्रोध, मान, माया, लोभ त्याग दिया, तब संयम के लिए निन्दा - गर्हा की, तो गर्हा करना संयम है या गर्हा न करना संयम है?'

इसके उत्तर में स्थविर भगवान् कहते हैं- आर्य! गर्हा करना संयम है, गर्हा न करना संयम नहीं है।'

यहां निन्दा करना संयम और निन्दा न करना असंयम कहा है। लेकिन यह बात किसी दूसरे अर्थ को लेकर कही है। मुनि ने पूछा था– 'हे आर्य! क्रोध आदि का त्याग करके भी निन्दा करना कैसे ठीक कहा जा सकता है? जो क्रोध आदि चारों को त्याग देगा, वह निन्दा किस प्रकार कर सकता है? यदि आत्मनिन्दा करना ठीक माना जाय तो जब आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही (यावत्) व्युत्सर्ग है तो आत्मनिन्दा का अर्थ सामायिक आदि की निन्दा करना ठहरेगा। क्या ऐसा मानना उचित है?'

स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया– आर्य! जब तक निन्दा – गर्हा न हो तब तक सब दोष दूर नहीं हो सकते। केवल निन्दा ही ऐसी वस्तु है, जो आत्मा को सब दोषों से मुक्त कर देती है। निन्दा से ही आत्मा के दोष दूर होते हैं। निन्दा के अभाव में आत्मा दूषित ही रह जायगा। अज्ञान और दोष आत्मा की मलीनता के कारण हैं। जब तक सच्चे अन्तःकरण से इनकी निन्दा न की जाये, तब तक आत्मा इनसे मुक्त नहीं हो सकता।

स्थविर भगवान् कहते हैं– आर्य! आप कहते हैं कि जब क्रोध आदि त्याग दिये तो उनकी निन्दा क्यों करते हो? लेकिन जिन्हें त्यागा है, उन्हीं की निन्दा करना ठीक है। जिन्हें त्यागा नहीं है, उनकी निन्दा करना वृथा है। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि पाप बुरे हैं। इन पापों का त्याग किया है। जिन्हें बुरा समझ कर त्यागा है, उनकी निन्दा न करता रहे तो वे पाप फिर कभी घुस आएंगे।

किसी पुरुष ने व्यभिचार को पाप समझकर परस्त्री का त्याग कर दिया। परस्त्री त्यागने के बाद जब तक उसके हृदय में परनारी की निन्दा रहेगी, तब तक परनारी सेवन का पाप उसमें नहीं घुसेगा। अगर परस्त्री सेवन को उसने निन्दनीय न माना तो कभी–न–कभी परस्त्री–सेवन का पाप घुस ही आएगा।

इस प्रकार पापों की निन्दा करते रहने से पाप नहीं घुस सकेंगे और निन्दा न करने से पापों का घुसना सम्भव है। अतएव त्यागे हुए पापों की निन्दा करना कोई बुराई नहीं है, बल्कि निन्दा करने में ही भलाई है।

किसी ने बुरा समझ कर मांस–मदिरा त्याग दिया। जब तक वह मांस–मदिरा का सेवन बुरा समझता रहेगा तब तक उसका त्याग निर्मल रहेगा और वह इनसे बचता रहेगा। लेकिन एक बार भी कभी हृदय में यह भाव आ गया कि मांस खाना बुरा नहीं है, तो फिर भले ही वह ऊपर से उसका सेवन

न करे, मगर उसके हृदय में तो मांस खाने की बात आ ही गई। और पूरा त्याग तभी तक है, जब तक कि त्यागी हुई चीज के सेवन की बात मन में भी न आवे।

निन्दा करना पाप है, मगर कहीं धर्म भी है। बुरे काम की निन्दा करना धर्म है। उसकी निन्दा न करने से बुरे काम से घृणा मिट जाती है। घृणा मिटने से आचरण करने में संकोच नहीं होता। अच्छे काम के संस्कार तब तक ही रहते हैं, जब तक बुरे काम से घृणा है। बुरे काम की निन्दा न होने से अच्छे संस्कार मिट जाते हैं।

पाप के साथ अनुमति रखना, अर्थात् बुरे काम का अनुमोदन करना भी पाप है। पाप को भला जानना भी पाप है। मन, वचन, काय से पाप करना, कराना और अनुमोदन पाप है। जब तक पाप के प्रति घृणा न होगी, तब तक अनुमोदन का पाप नहीं मिटेगा। अनुमोदन तभी मिटेगा जब पाप से घृणा होगी।

पाप की निन्दा करने से पाप नहीं होते, लेकिन निन्दा का फल क्या है? इसके उत्तर में स्थविर भगवान् ने कहा है– निन्दा करने से संयम होता है।

लोग अपने घर के किवाड़ भी लगाते हैं और कीमती चीजें तिजोरी में रखकर उसमें ताला भी लगाते हैं। तिजोरी से चीज की रक्षा होती है और घर में ताला लगाने से तिजोरी की रक्षा होती है। इसी प्रकार आत्मा में गुण–रूपी जो रत्न हैं, उन्हें बचाने के लिए, पापरूपी चोर आत्मारूपी तिजोरी को हाथ न लगा सके, इसलिए पाप की निन्दा करना आवश्यक है।

निन्दा करने से पाप नहीं लगता, इतना ही नहीं, किन्तु संयम भी निपजता है। सदाचार तभी तक रहेगा, जब तक दुराचार की निन्दा है। दुराचार की निन्दा न रहने पर सदाचार भी न रहेगा। दुराचारी की नहीं, वरन् दुराचार की बराबर निन्दा करते रहना चाहिए। गच्छ में संयम की ढिलाई हो तो उस ढिलाई की निन्दा करना चाहिए और संयम की दृढ़ता हो तो दृढ़ता की प्रशंसा करनी चाहिये। किसी भी समय ढिलाई की प्रशंसा करना उचित नहीं है।

अनुयोगद्वारसूत्र में एक उदाहरण आया है। एक आचार्य, एक साधु की प्रशंसा किया करते थे। दूसरे आचार्य को उस साधु के दुराचार का हाल मालूम था। उन्होंने प्रशंसा करने वाले आचार्य से कहा– आप यह क्या

कर रहे हैं! आपका यह कार्य वैसा ही हानिकारक है, जैसा कि एक दृष्टान्त में बतलाया गया है। दृष्टान्त यों है –

एक अग्निपूजक ब्राह्मण था। वह साल–भर कमाता और फिर झोंपड़े में घी आदि सामान भरकर उसमें आग लगा देता। राजा उसकी प्रशंसा करने लगा– यह ब्राह्मण बड़ा ही निष्ठावान् है। प्रधान ने राजा से कहा– आप उसकी प्रशंसा न करें। यह प्रशंसा किसी दिन सारे नगर को ले बैठेगी। अगर ब्राह्मण को पूजा करनी है तो उसे नगर के बाहर करनी चाहिए। नगर में एक घर में आग लगने से किसी समय सारे नगर में आग फैल जायगी और नगर भस्म हो जायगा। आप उसकी प्रशंसा करते हैं, मगर इस प्रशंसा से नगर की हानि होगी। और लोग भी इसी प्रकार पूजा करना सीखेंगे।

एक उदाहरण देकर दूसरे आचार्य ने पहले आचार्य से कहा– आप उसकी प्रशंसा करते हैं, मगर यह प्रशंसा कभी संघ को हानि पहुंचाए बिना नहीं रहेगी; यह बात बिलकुल निश्चित है।

तब प्रशंसा करने वाले आचार्य ने कहा– 'यह अत्यन्त भावपूर्वक प्रतिक्रमण करता है। इसी से इसकी प्रशंसा करता हूं।'

दूसरे आचार्य ने कहा– 'आवश्यक की भी विधि है। उस विधि के न होने पर भी तथा अर्थ न जानकर आवश्यक करने वाले की आप प्रशंसा करें, यह आग की प्रशंसा करने के समान है। इससे दूसरे साधुओं पर यह प्रभाव पड़ेगा कि चाहे कैसा भी आचरण किया जाय, अगर प्रतिक्रमण कर लिया तो बस फिर कोई हानि नहीं। इसलिए उस साधु से जाकर कह दीजिए कि जो–कुछ करना हो, गच्छ से बाहर जाकर करो। गच्छ में रहते हुए ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है।' प्रशंसा करने वाले आचार्य समझ गये कि वास्तव में इनका कहना ठीक है।

मतलब यह है कि गर्हा करने से संयम की प्राप्ति होती है। पाप की प्रशंसा करने से पाप की वृद्धि होती है और निन्दा करने से कमी होती है। मान लीजिए, एक कुटुम्ब में कई भाई शामिल रहते हैं। उस कुटुम्ब का एक नायक है। उस कुटुम्ब की एक स्त्री अच्छा भोजन बनाती है और सबको अच्छी तरह परोसती भी है, लेकिन उसका आचरण खराब है। उसकी रसोई देखकर कुटुम्ब का नायक उसकी प्रशंसा करने लगा। तब बड़े बेटे ने कहा, आप इसकी प्रशंसा करते हैं, पर यह प्रशंसा कुल को ले डूबेगी। इसके आचरण की निन्दा करनी चाहिए। अन्यथा कुल की सब स्त्रियां यही समझेंगी कि कुछ भी करो, मगर भोजन अच्छा बनाकर परोस दो। फिर कोई बुराई की

बात नहीं। इस प्रकार की भावना फैल जाने से कुल डूब जायगा। कुल में दुराचार फैल जायगा। वह भोजन अच्छा बनाती है तो उससे कहिए– तू भोजन तो अच्छा बनाती है, लेकिन तेरा आचरण अच्छा नहीं है। आचरण सुधारे बिना तू प्रशंसा के योग्य नहीं बन सकती।

गच्छ भी परिवार के समान है। इसमें रहने वाले के बुरे आचरण की निन्दा करना ठीक है। अगर भले–भले आदमी भी बुरा आचरण करने वाले की प्रशंसा करने लगेंगे तो गच्छ ही डूब जायगा।

आज साधुओं में जो शिथिलता आ गई है, उसका कारण उनके साधुत्व को न देखकर केवल उनके व्याख्यान या उनकी विद्वत्ता देखकर प्रशंसा के पुल बांध देना ही है। कई साधु, साधुपन का ठीक तरह पालन नहीं करते और आप उनकी पंडिताई देखकर प्रशंसा करने लगते हैं। यह देखकर दूसरे साधु भी यह समझेंगे कि साधुपन पालो या न पालो, कुछ भी करो, मगर बढ़िया व्याख्यान देना सीख लो, फिर कोई हानि नहीं। फिर कोई कुछ कहने वाला नहीं। अतएव किसी भी साधु की प्रशंसा करने से पहले उसके आचार–विचार की परीक्षा कर लेना चाहिए। काशी में पढ़े पंडित तो बहुत हैं, मगर आप उनके पैर नहीं छूते। आप साधुओं के पैर छूते हैं, क्योंकि उनमें महाव्रत हैं। महाव्रतों के साथ पाण्डित्य का गुण हो तो अच्छी बात है, मगर साधुपन पहले होना जरूरी है। साधु उत्कृष्ट ज्ञान वाला भी होता है और केवल पांच समिति एवं तीन गुप्ति को जानने वाला भी होता है। सिर्फ समिति–गुप्ति का जानकार, मगर साधुत्व का भलीभांति पालन करने वाला साधु इन्द्र का भी पूज्य होता है। इन्द्र भी उसे वन्दना करता है। सारांश यह है कि गुणों की प्रशंसा करने के समान दोषों की निन्दा करना भी आवश्यक है।

आप जब सामायिक लेते हैं, तब यह पाठ बोलते हैं –

निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

यहां निन्दा और गर्हा– दोनों का कथन है। स्वयं की साक्षी से निन्दा करना निन्दा है और गुरु की साक्षी से निन्दा करना गर्हा कहलाता है। बहुत–से लोग अपने मन में तो कहते होंगे कि मेरे जैसा पापी दूसरा कोई नहीं है; मैंने अमुक–अमुक पाप किये हैं, पर यही बात गुरु आदि के सामने कहना कठिन हो जाता है। मगर दूसरे के सामने अपने दोषों को प्रकट किये बिना, स्वयं मन में निन्दा करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसीलिए यहां निन्दा को गौण करके गर्हा को प्रधानता दी गई है। जैसे, बालक कोई दर्द होने पर

उसे छिपाता नहीं है, किन्तु अपने माता–पिता के सामने स्पष्ट कह देता है, उसी प्रकार अपने दोष गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए। मगर प्रायः देखा जाता है कि जैसे संसार में चालबाजी की जाती है, उसी प्रकार दोष–प्रकाशन में भी चालबाजी से काम लिया जाता है। ऐसा करना सामायिक नहीं है। गुरु के सामने तो हृदय खोलकर ही रख देना चाहिए। इसी में शिष्य का सच्चा हित है।

प्रश्न किया जा सकता है कि सामायिक में गर्हा का त्याग किया है, तब गर्हा क्यों करनी चाहिए? सामायिक में जब अठारहों पापों का त्याग कर दिया तो निन्दा का भी त्याग हो गया। फिर निन्दा किस प्रकार की जा सकती है? निन्दा द्वेष के बिना हो नहीं सकती और द्वेष का त्याग कर दिया है। फिर भी निन्दा करने का विधान क्यों किया जाता है? किसी वस्तु को हलका बताना निन्दा है। जैसे– सोने को पीतल बताना या सच्चे को झूठा बताना। इस प्रकार किसी को हलका बताने के लिए विरुद्ध बात कहना निन्दा है। ऐसी निन्दा द्वेष से उत्पन्न होती है। सामायिक करने वाले ने द्वेष का त्याग कर दिया है। फिर भी क्यों निन्दा की जाती है? अगर आत्मनिन्दा की बात कही जाय तो यह प्रश्न होगा कि जब दूसरों की निन्दा करना बुरा है तो आत्मा की निन्दा करना कैसे अच्छा कहा जा सकता है? इस प्रकार कालास्यवेषिपुत्र मुनि कहते हैं– इस प्रकार निन्दा करने की बात कहना और आत्मा को सामायिक आदि बताना आपत्तिजनक मालूम होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि तत्त्व–निर्णय के लिए तर्क कर रहे हैं। आज किसी बात का निर्णय न करने के कारण बहुत गड़बड़ मच रही है। कई के हाथ में वस्तु ही आती है और कई के हाथ में वस्तु आकर भी छूट जाती है। कई लोग कहते हैं– हमें जिस रास्ते जाना ही नहीं, उसे पूछने की क्या आवश्यकता है? ऐसा सोचकर कई लोग वस्तु के विषय में अज्ञान ही रखना चाहते हैं। इस प्रकार संसार में चार प्रकार के आदमी होते हैं। चारों प्रकार के आदमी किस विचार के होते हैं, इसके लिए एक उदाहरण है।

चार आदमी जंगल में चले जा रहे थे। एक ने दूसरे से सीप का चमकता हुआ टुकड़ा देखकर कहा– 'देखो, वह चांदी चमक रही है।' इस आदमी का ज्ञान विपरीत है।

दूसरे आदमी ने कहा– 'कौन जाने यह सीप है या चांदी है?' इस आदमी को संदेह है। वह किसी का निर्णय नहीं कर पाता।

तीसरा आदमी कहता है– 'सीप हो या चांदी हो, हमें इससे क्या मतलब है?' यह आदमी किसी प्रकार का निर्णय नहीं करना चाहता।

शास्त्र में इन तीनों की बुद्धि को अज्ञान कहा है। जब इनमें निर्णय करने की शक्ति है तो निर्णय क्यों नहीं कर लेते? निर्णय न करके विपरीतता, संशय रखना और निर्णय की बुद्धि न रखना, ये तीनों अज्ञान हैं। किसी बात का निर्णय हुए बिना उसके विषय में निश्चय न होगा। इसलिए आत्मा को निश्चल करने के उद्देश्य से प्रत्येक बात का निर्णय करो।

तीनो आदमियों के बाद चौथे ने कहा– 'ठहरो, मैं अभी जाता हूं और वह चीज लिये आता हूं। फिर निर्णय हो जायगा कि वास्तव में वह क्या है?' ऐसा कहकर वह गया और सीप उठा लाया। तीनों से कहा– 'देख लो, यह क्या है? आप तीनों अज्ञान में पड़े थे। अब आप समझ सकते हैं कि यह चांदी नहीं, सीप है।'

धर्म के विषय में भी यही बात है। अधर्म, पाप, पुण्य आदि के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। किसी बात का निर्णय न करना अज्ञान है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि से स्थविर भगवान् कहते हैं– हम जो गर्हा करते हैं, वह संयम है। सम्यक् प्रकार से यत्न करना संयम कहलाता है। सत्य और असत्य को जान लेने पर ही संयम हो सकता है। सिद्धान्त में कहा है–

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सुच्चा, जं सेयं तं समायरे।।

— श्री दशवैकालिक सूत्र — 4 अ.

सत्य को भी जाने, असत्य को भी जाने और सत्यासत्य — दोनों को जाने। पाप भी सुनने से जाना जायगा, पुण्य भी सुनने से जाना जायगा और पुण्य–पाप, दोनों भी सुनने से ही जाने जाएंगे। इसलिए दोनों को सुनकर फिर इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किसे ग्रहण किया जाय और किसे छोड़ा जाय? जो सुनेगा ही नहीं, वह गड़बड़ में पड़ा रहेगा। सुनने से पाप मालूम होगा और पाप की निन्दा करने से संयम होगा।

जो मनुष्य सांप या रस्सी का निर्णय नहीं करेगा, वह रस्सी के भरोसे सांप को भी पकड़ लेगा, लेकिन जब जान लेगा कि यह सांप है, तो रस्सी के भरोसे क्या सांप को पकड़ेगा? नहीं, वह सांप से बचता ही रहेगा। इसी प्रकार पाप की निन्दा करते रहने वाला पाप से बचा रहेगा। सांप से बचे रहने में रक्षा है और पाप से बचे रहने में यतना हुई और यतना ही संयम है। निन्दा

पाप से बचने का उपाय है। लेकिन निन्दा करने का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि सांप कहकर रस्सी पकड़े। सांप को सांप समझ कर उससे बचना ही सांप की सच्ची निन्दा है।

सांप को चाहे सांप जानकर पकड़े, रस्सी जानकर पकड़े या फूल–माला समझ कर पकड़े, पर सांप को पकड़ने वाला उससे बचता नहीं है। वह सांप से डंसा जाता है। फूल की माला समझ लेने पर भी उसके काटने से विष चढ़ेगा ही, इसी प्रकार चाहे पाप को पाप समझ कर अपनाओ, उसकी सराहना करके अपनाओ या बुरा समझ कर अपनाओ, वह है तो पाप ही। दारू को कई लोग लाल शर्बत कहकर पीते हैं। कोई उसे वीर रस कहते हैं और आनन्द देने वाली समझते हैं, लेकिन है तो वह दारू ही।

कई लोग विषय–सेवन में आनन्द मनाते हैं। कइयों ने पांच मकार–सेवन से सुख समझ रखा है अर्थात् मांस, मदिरा, मैथुन, मीन और मुद्रा में ही मोक्ष मानते हैं। उनमें पाप से घृणा न करने के कारण ही ऐसी ही भावना उत्पन्न हुई है। इसीलिए शास्त्र में पाप की निन्दा करने का विधान है। पाप की निन्दा करने वाला पाप में प्रवृत्त नहीं होता। इसी हेतु स्थविर भगवान् ने कहा– हम पाप की निन्दा–गर्हा करते हैं।

गर्हा करने से नये कर्म नहीं बंधते, इतना ही नहीं, उससे पूर्व के किये हुए पाप कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। सांप का विष मंत्र से उतर जाता है। मंत्र जपने पर सांप काटता तो नहीं ही है, मगर चढ़ा हुआ विष भी उतर जाता है। इसी प्रकार गर्हा, पाप उतारने का अमोघ मंत्र है। गर्हा से सब प्रकार के पाप का अत्यन्त विनाश होता है और नये पापों से आत्मा की रक्षा होती है।

पहले जो पाप किये हैं, वे बुरे मन से ही किये हैं। जब बुरे मन से पाप होता है तो क्या अच्छे मन से पाप नष्ट नहीं होगा? अवश्य नष्ट होगा। पाप का नाश होने के कारण ही शास्त्र में गर्हा करना कहा है। गर्हा से बालपन यानी अज्ञान, मिथ्यात्व आदि दोष दूर होते हैं, जिससे पुराने पापों का नाश हो जाता है।

आप सामायिक में 'निन्दामि, गरिहामि' कहते होंगे, लेकिन धर्मगुरु के पास जाकर भी कभी गर्हा की है? गर्हा नहीं की तो क्या आपने पाप नहीं किया? अगर पाप करते हो तो उसकी गर्हा क्यों नहीं करते? जो भी पाप किये हों, अपने धर्मगुरु के सामने स्पष्ट कह दो। इससे नये पापों से बचोगे और पहले के पाप कटेंगे।

कई लोग कहते हैं– पाप की ओर से मन नहीं रुकता। शास्त्र कहता है– मन को वश में करने का एक अच्छा उपाय गर्हा है। मन में जो भी पाप आवे, उसे सन्त या अन्य किसी श्रद्धापात्र व्यक्ति के सामने खोलकर कह दे। गर्हा करने के लिए सामने गुरु हों तो अच्छी बात है। नहीं तो पति, पत्नी के सामने और पत्नी, पति के सामने भी गर्हा कर सकती है। अथवा किसी अन्य योग्य व्यक्ति को भी इसके लिए नियत किया जा सकता है। उसके सामने जाकर मन में आई हुई पाप की बात प्रकट कर देना चाहिए। ऐसा करने से मन पाप की ओर जाने से रुकेगा और धर्मकार्य अच्छा होगा।

पूज्य श्रीलालजी महाराज एक बात कहा करते थे। वह इस प्रकार है– एक श्रावक था। वह एक दिन सामायिक करने बैठा, मगर सामायिक में उसका मन नहीं लगा। उसने सोचा– 'मुझसे कोई पाप तो नहीं हो गया है, जिसके कारण मन सामायिक में नहीं लग रहा है?' उसने आलोचना की, पर उसे अपने में कोई पाप दिखाई नहीं दिया। उसने सोचा– मुझ में तो कोई पाप मालूम नहीं होता, लेकिन मेरी पत्नी मेरा कमाया खाती है और मैं उसका बनाया खाता हूं। संभव है, उसने कोई पाप किया हो और उसके पाप के कारण मेरा मन न लगता हो। वह उठकर अपनी स्त्री के पास गया। उसने कहा– आज मेरा मन सामायिक में नहीं लगता। मैंने आत्मालोचना की, मगर अपने भीतर कोई पाप नहीं मिला। तुमने तो कोई पाप नहीं किया है?

स्त्री समझदार थी। उसने कहा– मैंने और कोई पाप तो नहीं किया है, मगर एक पाप अवश्य याद आता है। आज घर में आग नहीं थी और मैं पड़ोसिन के घर आग लेने गई थी। मैंने उससे बिना पूछे ही उसका एक कंडा (छाणा) ले लिया था। उसे चूल्हे में जला कर रोटी बनाई थी। वह रोटी आपने खाई है, शायद इसलिए सामायिक में आपका मन नहीं लगता।

श्रावक ने कहा– बस, इसी पाप के कारण मेरा मन सामायिक में नहीं लगा है। अब जाओ और उनसे क्षमा मांग कर, वे जो बदला मांगें, देकर इस पाप को दूर करो।

पति की बात मानकर श्राविका पड़ोसिन के घर गई। पड़ोसिन से कहा–आज मैं आपके यहां आग लेने आई थी। आग लेना–देना तो रहता ही है, मगर आप से बिना पूछे आपका एक कंडा मैंने उठा लिया था। आपकी मंजूरी बिना कंडा लेने का मुझे अधिकार नहीं था। फिर भी मैंने ले लिया। उसे चूल्हे में जलाकर रोटी बनाई। रोटी मेरे पति ने खाई। इस कारण उनका

मन सामायिक में नहीं लगा। अब मैं आपसे माफी मांगने आई हूं। मुझे माफी दो और जो कुछ भी चाहें, कंडे का बदला लेकर मेरा पाप मिटाओ।

पड़ोसिन कहने लगी– आप मुझसे माफी क्यों मांगती हैं, मुझे बड़े महत्त्व की बात बता रही हैं। मैं इसके लिए आपका आभार मानती हूं। निदान उसने बहुत आभार मानते हुए कहा–आपका पाप तो नष्ट हो ही गया, आपने हमे भी पाप से बचने की शिक्षा दी है।

सामायिक में मन न लगने का कारण पाप की गर्हा न करना है। गर्हा न करने पर सामायिक में कैसे मन लग सकता है?

पड़ोसी के निमित्त से धर्म भी होता है और पाप भी होता है। अच्छा भाग्य होने पर ही अच्छा पड़ोसी मिलता है।

वह श्राविका गृहस्थ स्त्री थी। इसलिए कह सकती थी कि आग जलाकर इतना आरंभ किया, फिर कंडे का क्या पाप! लेकिन श्रावक विश्वासघात करना– बिना आज्ञा किसी की चीज लेना उचित नहीं समझता। जिसका लेना अपराध है; उसका लेना पाप है। इस पाप का त्याग करने वाले का कल्याण होता है।

स्थविर भगवान् ने कहा है– हम संयम के लिए निन्दा करते हैं। संयम के लिए निन्दा करना बुरा नहीं है। अपने व्यसन को पोसने और दूसरे को हलका बताने के लिए निन्दा करना तो बुरा है, मगर आत्मा को ऊंचा उठाने के लिए अपने दोषों की निन्दा करना अच्छा है। हां, भीतर भाव कुछ और हों लेकिन ऊपर से निन्दा करें तो भी बुरा है। मगर अपने या दूसरे के संयम के लिए निन्दा करने में कोई बुराई नहीं है। पाप से बचने के लिए निन्दा करो, पाप बढ़ाने के लिए निन्दा मत करो।

पहले कहा जा चुका है कि निन्दा करने से आते हुए पाप ही नहीं रुकते, किन्तु इससे और भी फल होता है। जितने भी दोष हैं उन्हें कृश करके निन्दा उनका नाश कर डालती है। यों तो दोषों के नाम अनेक हैं और सबका संग्रह करने से एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है, मगर जैसे बगीचे के सब वृक्षों की गणना न हो सकने पर उनकी श्रेणी बना ली जाती है, इसी प्रकार सब दोषों की गणना नहीं हो सकती, अतः पाप को पांच श्रेणियों में बांट लिया गया है। वे पांच श्रेणियां ये हैं– मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग।

उलटी समझ को मिथ्यात्व कहते हैं। साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, देव को कुदेव और कुदेव को देव मानना मिथ्यात्व है। आज कई आदमी साधु को

स्वयं ही असाधु बनाते हैं, उनके पाप बढ़ाने में सहायक होते हैं। यह मिथ्यात्व का ही प्रताप है।

किसी काम को बुरा समझते हुए भी त्याग नहीं, करना अव्रत है। मिथ्यात्व छूट जाने पर भी अव्रत रह जाता है। व्रत आने पर अव्रत दूर होता है। बुरा जान करके भी जिसको त्यागा नहीं वह अव्रत है। त्याग न करने पर उस बुरे काम के संस्कार आ ही जाते हैं।

तीसरा पाप प्रमाद है। बुरे काम को त्याग देने पर भी पहले के संस्कारों के कारण गलती हो जाती है। इसी गलती का नाम प्रमाद है। असावधानी से पाप का आना ही प्रमाद कहलाता है। साधु ने सब पाप त्याग दिये, फिर भी उसे क्रोध और लालसा पैदा हो जाना प्रमाद है। इस प्रमाद को मिटाने के लिए ही प्रतिक्रमण है। जैसे घर की सफाई की जाती है, फिर भी उसमें कूड़ा–करकट हो जाता है और उसे साफ करने के लिए ही दोनों समय झाड़ू लगाई जाती है। इसी प्रकार सब पाप त्याग देने पर भी पूर्व–संस्कार से पाप आ ही जाते हैं। उन्हीं पापों को हटाने के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है।

चौथा पाप कषाय है। जिन कामों से संसार की वृद्धि होती है, उन क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहते हैं। प्रश्न होता है– कषाय के न छूटने से ही मिथ्यात्व, प्रमाद और अव्रत है, तो फिर कषाय को चौथे नम्बर पर क्यों रखा है? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद के हट जाने पर भी संज्वलन नामक कषाय शेष रह जाती है। इसलिए कषाय को चौथे नम्बर पर कहा है। मिथ्यात्व हटने पर अनन्तानुबंधी कषाय नहीं रहता, अव्रत दूर होने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय कट जाती है और प्रमाद का नाश होने पर प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं रहती। इन तीन कषायों का नाश होने पर केवल संज्वलन कषाय बचती है।

पांचवां पाप योग है। वीतराग होने पर भी मन, वचन, काय का योग रहता है, लेकिन ज्ञानी इसे भी दोष मानते हैं। यों तो मन, वचन, काय के योग बिना कोई भी काम नहीं होता, इसलिए योगय गुण भी है, पर जब तक योग है, तब तक मोक्ष नहीं होता, इस अपेक्षा से वह दोष भी है। शुभ योग गुण या संवर में भी है।

ये पांच दोष मुख्य हैं। निन्दा–गर्हा करने से इनका नाश होता है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि गर्हा सब दोषों का नाश करने वाली है।

शास्त्र में कषाय के चार प्रकार बताये हैं। उनमें से एक प्रकार की कषाय तो पानी पर खींची जाने वाली लकीर के समान होती है। इधर खींची, उधर मिटी। इसी प्रकार दीखने में तो क्रोध दीखता है, लेकिन भीतर कुछ भी नहीं है। ज्ञानी की अपेक्षा यह कषाय भी दोष ही है। यद्यपि यह कषाय स्वर्ग की सामग्री पैदा करती है, लेकिन ज्ञानी की दृष्टि में स्वर्ग भी तुच्छ है।

ज्ञानी पुरुष कभी ऐसी निन्दा नहीं करते, जिससे किसी को दुःख पैदा हो। वे दूसरों को उठाने के लिए और अपने आपको उन्नत बनाने के लिए निन्दा करते हैं। डाक्टर भी चीरा लगाता है। और एक अनजान आदमी भी चीर लगा सकता है। मगर दोनों की क्रिया में कितना अन्तर है! यही अन्तर ज्ञानी द्वारा की गई निन्दा में और अज्ञानी द्वारा की गई निन्दा में भी है। यों तो संसार में भी पुत्र या परिवार का कोई आदमी बिगड़ता हो तो उसे भला-बुरा कहना ही पड़ता है, उसकी निन्दा भी करनी पड़ती है। लेकिन देखना चाहिए कि उस निन्दा के पीछे कौन-सी भावना काम कर रही है? क्या मंदोदरी और विभीषण ने रावण की निन्दा नहीं की थी? यह बात दूसरी है कि उनके निन्दा करने पर भी रावण नहीं सुधरा, लेकिन वे अगर रावण की निन्दा न करते तो वे भी रावण के साथ ही दोषी माने जाते। उन दोनों ने रावण की निन्दा की और निन्दा करना पाप भी माना जाता है, फिर भी कोई उन्हें बुरा कहता है? उन्होंने निन्दा की थी, इसके लिए उनकी निन्दा नहीं की जाती। क्योंकि उन्होंने गुण बढ़ाने के लिए निन्दा की थी। गुण बढ़ाने के लिए कडुवी दवा भी पिलानी पड़ती है। संसार में किसी को कटुक बात भी कहनी पड़ती है। कहावत है –

कड़वी बोली मायड़ी, मीठा बोला लोग।

मां कडुवी बात कहती है, लेकिन हित के लिए। इसी तरह ज्ञानी पुरुष निन्दा करते हैं, लेकिन हित के लिए। अतएव ज्ञानपूर्वक ही निन्दा करना चाहिए। अज्ञान और बालपन को बुरा समझ कर निकालने के लिए निन्दा करना हितावह है।

स्थविर भगवान् कहते हैं– तुमने संयम लेकर पाप को बुरा समझ लिया, तभी संयम हुआ। पाप को बुरा समझना पाप की निन्दा ही है और इस प्रकार निन्दा से संयम निकला।

ज्ञानयुक्त निन्दा करने से एक लाभ और है। दोष की निन्दा करने से आत्मा असंयम से निकलकर संयम-मार्ग पर स्थिर होता है।

यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि निन्दा करने से आत्मा संयममार्ग पर स्थिर होता है तो संयम और आत्मा एक नहीं रहा। पहले संयम और आत्मा को एक ही कहा है। इन दोनों बातों की संगति कैसे बैठती है? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं– यह बात समझाने के लिए कही है। आत्मा की आत्मा के गुणों में ही स्थापना है। संयम आत्मा से अलग नहीं है, जिससे कि आत्मा के संयम में स्थापित करने की आवश्यकता पड़े। किन्तु आत्मरूप संयम ही आत्मा को प्राप्त हो और आत्मा रूप संयम ही आत्मा में स्थापित हो, इसी उद्देश्य से यह कहा है कि निन्दा करने से आत्मा असंयम से निकल कर संयम–मार्ग में स्थित होता है।

जब किसी को क्रोध आता है तो उसके लिए कहा जाता है कि यह आपे से बाहर हो गया। लेकिन आपे से बाहर कैसे निकला? कौन किससे बाहर निकला? ऐसे प्रसंग पर यह भी कहा जाता है कि आपा मत गंवाओ, आपे में रहो। जब आत्मा में दुर्गुण आते हैं, तब आत्मा अपने गुण से बाहर निकल जाता है और जब गुण होते हैं तब वह अपने आपे में ही रहता है।

दुर्गुणों को न त्यागना आत्मा से बाहर निकलना कहलाता है। राजीमति ने रथनेमि से कहा था– ठिकाने आओ। क्या रथनेमि गुफा से बाहर निकल गये थे कि राजीमति को ठिकाने आने की बात कहनी पड़ी? यह इसलिए कहना पड़ा कि उनका आत्मा संयमरूपी गुण से बाहर निकल गया था। तभी राजीमति ने उन्हें फटकार कर कहा था।

धिरत्थु ते जसो कामी! जो तं जीवियकारणा।
वं तं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरण हवे।।

हे अपयशकामी! तुझे धिक्कार है।

राजीमति का यह कथन क्या रथनेमि की निन्दा नहीं करता था? लेकिन इस कथन का आशय रथनेमि को संयम पर दृढ़ करना था। इसीलिए राजीमति ने कहा– हे अपयशकामी! तुझे धिक्कार है, जो तू वमन किये को फिर ग्रहण करना चाहता है! भला आदमी वमन किये की ओर देखता भी नहीं है। कौए और कुत्ते ही वमन देखकर प्रसन्न होते हैं। तुम्हारे भाई ने पहले मुझे वमन किया। फिर मैंने संसार का वमन किया और तुमने भी संसार का वमन किया, फिर वमन किये की इच्छा करते हो! यदि तुझसे रहा नहीं जाता तो मर क्यों नहीं जाता! मरना अच्छा है, परन्तु वमन किये को खाना अच्छा नहीं है।

स्थविर भगवान् भी कहते हैं– यह निन्दा संयम पर दृढ़ रहने के लिए है। सिद्धान्त में कहा है कि –

धम्मे संपडिवाइओ।

अर्थात् – रथनेमि धर्म से गिर रहे थे, पर निन्दा ने उन्हें धर्म पर स्थिर कर दिया। संयम तो आत्मा ही है, आत्मा से बाहर संयम नहीं है, पर आत्मा उससे गिरता था। उसे निन्दा करके संयम पर दृढ़ कर दिया। इस प्रकार निन्दा एकान्त बुरी नहीं है।

आत्मा जब तक आत्मा में ही रहेगा, तब तक कोई दुर्गुण न होगा। लेकिन आत्मा जब शरीर के दोष में जाता है तब कषाय में पड़ता है और कषाय में पड़ना असंयम है। इसमें आत्मा को न जाने देना संयम है।

निन्दा करने से आत्मा संयम में स्थित होता है, इतना ही नहीं, निन्दा से संयम पुष्ट होता है। निन्दा करने से संयम की ताकत बढ़ती है। पाप की निन्दा नहीं की जायगी तो संयम में निश्चलता उत्पन्न न होगी। जैसे शीशा की नींव मजबूत मानी जाती है, उसी तरह आत्मा भी संयम से निश्चल होता है।

स्थविर भगवान् की बातें सुनकर कालास्यवेषिपुत्र अनगार सोचने लगे– यह व्याख्या अश्रुतपूर्व है। पहले वे सोचते थे कि यदि ये सामायिक आदि को और उनके अर्थ को जानते हैं तो हमसे अलग क्यों हैं? हममें मिल क्यों नहीं जाते? लेकिन अब वे समझ गये कि मैं इन्हें अपने में मिलाने योग्य नहीं हूं। मैं स्वयं इनमें मिलने योग्य हूं। वे किस प्रकार स्थविर भगवान् के साथ मिलते हैं, इस बात का विचार आगे किया जाता है।

मतलब यह है कि अपने दोष निकलते हों, अर्थात् पाप से बचाव होता हो तो निन्दा बुरी नहीं है। पाप से बचने के लिए भक्तों ने भी निन्दा की है। जैसे –

धिक तेरा जीवड़ा न भजता गोविन्द को।
धिक तेरा तन धन धिक है जीवन को।।

यह निन्दा है। यहां आत्मा को धिक्कार देते हुए आत्मनिन्दा की गई है कि– हे आत्मा! तू इस शरीर को पा करके भी अगर परमात्मा को – गोविन्द को – नहीं भजता तो तुझे धिक्कार है।

इन्द्रियों को 'गो' कहते हैं। इन पांच इन्द्रियों का मालिक इन पर हुक्म चलाने वाला मन 'गोप' है। उसका इन्द्र अर्थात् स्वामी आत्मा गोविन्द है।

इस प्रकार जो परमात्मा को न भजकर इन्द्रियों के तावे में पड़ गया है, उसे धिक्कार दिया है। जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, वे इन्द्रियों के

गुलाम को कह सकते हैं– तुझे धिक्कार है। ज्ञानियों ने अपना ध्यान परमात्मा में निश्चल करके फिर दूसरे को उपदेश दिया है। वे कहते हैं –

जिनकी लगन राम से नाही।

ते नर खर कूकर शूकर सम, वृथा जियत जग माहीं।।

मगर इस प्रकार की निन्दा या प्रताड़ना कषायपूर्वक नहीं की गई है। इससे आत्मा मैला नहीं होता। अतएव यह दोष नहीं, गुणरूप है। जो पुरुष आत्मा को भूल जाता है, उसे खर, कूकर आदि न कहा जाय तो और क्या कहा जाय! तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जो निन्दा करते हैं, वह दूसरों को उन्नत बनाने और दूसरों का अज्ञान मिटाने के लिए ही करते हैं।

श्री भगवती सूत्र
भाग ४

कालास्यवेषिपुत्र मुनि की बोध–प्राप्ति

मूलपाठ–

एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदति, णमंसति, वन्दिताणमंसित्ता एवं वयासी–एएसि णं भंते! पयाष पुव्विं अन्नाणयाए, असवणयाए, अवेहियाए, अणभिगमेणं, अदिट्ठाणं, असुआणं, अस्सुआणं, अविन्नायाणं, अव्वोगडाणं; अवोच्चिछन्नाणं, अणिज्जूढाणं अणुवधारिआणं, एअमट्ठं नो सद्दहिए, णो पत्तइए, णो रोइए। इयाणिं भंते! एतेसिं पयाणं जाणयाए, सवणयाए, बोहिए, अभिगमेणं, दिट्ठाणं, सुआणं, सुआणं, विन्नायाणं, वोगडाणं वोच्छिन्नाणं, णिज्जूढाणं, उवधारिआणं एअमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि एअमेयं से जहेयं तुब्भे वदह।

तएणं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी–सद्दहाहि अज्जो! पत्तियाहि अज्जो। रोएहि अज्जो से जहेयं अम्हे वदामो।

तएणं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरं भगवंते वंदइ, नमंसइ, वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वयाइं सपडिक्कमणं धम्म उवसंपज्जित्ता णं विहरित्ताए।

अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

तएणं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वंइय सपडिक्कमणं धम्मं उपसंपज्जिता णं विहरति। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणयं, अंदतघुनणयं, अच्छत्तयं, अणोवाहणयं,

भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोओ, बंभचेरवासो, परघरप्पवेसो, लद्धावलद्धी, उच्चावया, गामकटगा, बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तं अट्ठं आराहेइ। आराहित्ता चारमेहिं उत्सासनीसासेहं सिद्धे, बुद्धे, मुत्ते, परिनिव्वुडे, सव्वदुक्खपहीणे।

संस्कृत छाया

अत्र सः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः सम्बुद्धः स्थविरान् भगवतो वन्दे, नमस्यति, वन्दिता नमस्थित्त्वा एवमवादीत्–एतेषां भगवन्! पदानां पूर्वम् अज्ञानतया, अश्रवतया, अबोधितया, अनभिगमेन, अदृष्टानाम्, अश्रुतानाम्, अस्मृतानाम्, अविज्ञातानाम्, अव्याकृतानाम्, अव्युच्छिन्नानाम्, अनिर्यूढानाम्, अनवधारितानाम् एष अर्थो नो श्रद्धितः, नो प्रतीतः, नो रुचितः। इदानीं भगवन्! एतेषां पदानां ज्ञानतया, श्रवणतया, बोधितया, अभिगमेन, दृष्टानां, श्रुतानां, स्मृतानां, विज्ञातानां, व्याकृतानाम् व्युच्छिन्नानां, निर्यूढानाम्, अवधारितानाम् एनमर्थं श्रद्दधामि, प्रत्येमि, रोचे–एवमेतत् तत् यथैतत् यूयम् वदत।

ततः ते स्थविरा भगवन्तः कालास्यवेषिकपुत्रऽनगारमेव ममादिषुः – श्रद्धेहि आर्यः प्रत्येहि आर्यः राचस्व आर्यः तद् यथैतद् वयं वदामः।

ततः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः स्थविरान् भगवतो वन्दते, नमस्यति, नमस्थित्वा एवमवादीत् – इच्छामि भगवन्! भवतामन्तिके चतुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहर्त्तुम्।

यथासुखं देवानुप्रिय! मा प्रतिबन्धम्।

ततः सः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः स्थविरान् भगवतो वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा, नमस्थित्वा चतुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहरति। ततः स कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं प्राप्नोति, प्राप्य (पालयित्वा) यस्यार्थं क्रियते नग्नभावः, मुण्डभावः, अस्नानकम्, अदन्तधूपनकम्, अच्छत्रकम्, अनुपानत्कं, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोचः, ब्रह्मचर्यवासः, परगृहप्रवेशः, लब्ध्यलब्धिः, उच्चावचा ग्रामकण्टका, द्वाविंशतिः परीषहोपसर्गाः अधिसह्यन्ते, तमर्थमाराध्यति। आराध्याचरमैः अच्छवासनिः श्वासैः सिद्धः बुद्धः मुक्तः, परिनिर्वृत्तः, सर्वदुःखप्रहीणः।

शब्दार्थ

(स्थविर भगवान् का उत्तर सुनकर) वे कालास्यवेपिपुत्र अनगार बोध को प्राप्त हुए। और उन्होंने स्थविर भगवान् को वन्दना की, नमस्कार

किया। फिर कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने इस प्रकार कहा– हे भगवन्! इन (पूर्वोक्त) पदों को न जानने से, पहले सुने न होने से, बोध न होने से, अभिगम न होने से, दृष्ट न होने से, विचारे न होने से, सुने न होने से, विशेष रूप से न जानने से, कहे हुए नहीं होने से, निर्णीत न होने से, उद्धृत न होने से और यह पद अनधारण किये हुए न होने से, इस अर्थ में श्रद्धा नहीं की थी, प्रतीति नहीं की थी, रुचि न की थी और हे भगवन्! अब यह जान लेने से, सुन लेने से, बोध होने से, अभिगम होने से, दृष्ट होने से, चिन्तित होने से, श्रुत होने से, विशेष जान लेने से, कथित होने से, निर्णीत होने से, उद्धृत होने से, और इन पदों का अवधारण करने से, इस अर्थ में मैं श्रद्धा करता हूं। प्रतीति करता हूं, रुचि करता हूं। (हे भगवन्) आप यह जो कहते हैं सो यह इसी प्रकार है।

तब उन स्थविर भगवान् ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा – हे आर्य! हम यह जैसे कहते हैं, वैसी श्रद्धा रक्खो, प्रतीति रक्खो, रुचि रक्खो।

तब कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवान् की वन्दना की, नमस्कार किया और इस प्रकार बोले – हे भगवन्! आपके समीप चार महाव्रत वाला धर्म (छोड़कर) प्रतिक्रमण सहित और पांच महाव्रत वाला धर्म प्राप्त करके विचरने की इच्छा करता हूं।

(स्थविर भगवान् बोले) हे देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे, वैसा करो। विलम्ब न करो।

तब कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर की वन्दना की, नमस्कार किया और चार महाव्रत वाला धर्म (छोड़कर) प्रतिक्रमण वाला पांच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया और विचरने लगे। उसके पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने बहुत वर्षों तक साधुपन पाला और जिस प्रयोजन के लिये नग्नता, मुंडितता, स्नान न करना, दातौन न करना, छत्र न रखना, जूता न पहनना, जमीन पर शय्या करना, पाट पर शयन करना, काष्ठ पर शयन करना, केशलोच करना, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना, (भिक्षा के लिये) दूसरे के घर जाना, लाभ और अलाभ (सहना) तथा अनुकूल और प्रतिकूल, इन्द्रियों के लिये कांटे के समान शब्दादि एवं बाईस परीषह–उपसर्ग सहना, यह सब किया, उस प्रयोजन का कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने आराधन किया और वह अन्तिम उच्छ्वास–निःश्वास द्वारा सिद्ध हुए और सब दुःखों से हीन हुए।

व्याख्यान

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने पहले तो जोश के साथ कहा था – हे स्थविर! तुम सामायिक आदि नहीं जानते, लेकिन उनका हृदय साफ़ था। जब

स्थविर भगवान् ने उन्हें समझाया तो वे अत्यन्त सरल हो गये। उन्हें बोध हो गया।

मुनि को बोध हो गया, इस कथन से यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मुनि पहले क्या मिथ्यात्वी थे? मगर ऐसी बात नहीं है। एक ही शब्द के अर्थ अनेक होते हैं। मिथ्यात्व हटने पर भी बोध पाना कहा जाता है और विशेष ज्ञान होने पर भी बोध पाना कहलाता है। यहां विशेष ज्ञान का अभिप्राय है। अर्थात् कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने विशेष बोध प्राप्त किया।

विशेष बोध प्राप्त करने का फल यह हुआ कि उन्होंने स्थविर भगवान् को भक्तिभाव से वन्दन–नमस्कार किया। उन्हें नमस्कार करते समय यह विचार नहीं आया कि मैं भगवान् पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय का हूं। मैं इनसे प्राचीन सम्प्रदाय का मुनि हूं। उन्होंने सिर्फ यह विचार किया – मैंने स्थविर भगवान् से बोध पाया है। ये मेरे उपकारी हैं। इन्हें वन्दन–नमस्कार करना मेरा धर्म है।

आजकल वन्दना करने के सम्बन्ध में विशेष विचार नहीं रहा। किसे वन्दना करनी चाहिए और किसे नहीं? यह विवेक प्रायः चला गया है। किसी को लोक–व्यवहार का पालन करने के लिए राम–राम या जुहार करना अलग बात है, लेकिन धर्मगुरु को की जाने वाली वन्दना किसे कब करना चाहिए, इस बात का बोध इस वर्णन से हो जाता है। किसी के द्वारा तत्त्व समझने पर जब यह विश्वास हो जाय कि ये सच्चे महात्मा हैं, तब उन्हें वन्दन–नमस्कार करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। अगर कोई पोल दिखाई दे तो इन्द्र के झुकाने पर भी नहीं झुकना चाहिए।

किसके आगे झुकना चाहिए, यह बात व्यावहारिक दृष्टि से राणा प्रताप के जीवन से जानी जा सकती है। राणा जंगल–जंगल भटके। घास के बीजों की रोटी खाई। सभी–कुछ सहन किया, परन्तु बादशाह के सामने सिर न झुकाया, राणा ने अनेक कष्ट सहने पर भी बादशाह के सामने सिर न झुकाया, मगर आज लोग गोबर के पुतले हो रहे हैं और कहते हैं– हमें क्या है! हमारे लिए तो सभी समान हैं। सभी को वन्दना करना अपना काम है। लेकिन शास्त्र कहता है कि जिससे बोध प्राप्त हो, उसे नमस्कार करने में किंचित् भी आगा–पीछा मत करो और जिसमें दोष मालूम हो, उसे किसी भी समय सिर न झुकाओ। लोक–व्यवहार के लिहाज से, नमस्कार करने वाले को नमस्कार करना ही पड़ता है, लेकिन गुरुबुद्धि से नमस्कार करना दूसरी बात है। इस प्रकार के नमस्कार का पात्र वही है, जिससे बोध पाया हो! यों

तो नमस्कार करने वाले को राणा भी नमस्कार करते होंगे, मगर अकबर मालिक बन कर उनसे नमस्कार कराना चाहते थे। इसीलिए कष्ट सहन करने पर भी उन्होंने अकबर को नमस्कार नहीं किया।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवान् को वन्दना–नमस्कार करके कहा– हे स्थविर! आपने इन बातों का जो अर्थ बतलाया, वह पहले मैंने नहीं जाना था। मैंने यह अर्थ देखा नहीं था, इसलिए जाना नहीं था।

देखना दो प्रकार का होता है– आंख से देखना और हृदय से देखना। मुनि कहते हैं– मैंने मतिज्ञान आदि से नहीं देखा था। मुझमें अज्ञान था, विशिष्ट ज्ञान नहीं था, पृथक् स्वरूपज्ञान नहीं था। ज्ञान दो प्रकार का होता है– वस्तुज्ञान और स्वरूपज्ञान, वस्तुज्ञान साधारण होता है और स्वरूपज्ञान विशेष होता है। मुझे स्वरूपज्ञान नहीं था, इस कारण मैंने आपका बताया अर्थ नहीं जाना था।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् से फिर कहा– कच्चे और सच्चे माणिक के भेद की तरह मुझे विशेष ज्ञान नहीं था। मुझे साधारण ज्ञान ही था। आपके बताए हुए अर्थ के स्वरूप को मैं नहीं जानता था। इसी से मैंने कहा कि आप सामायिक आदि नहीं जानते। जब आपने अर्थ बतलाया तब मैं समझ गया कि वास्तव में मैं नहीं जानता था, बल्कि आप ही जानते हैं।

यहां कालास्यवेषिपुत्र की सरलता ध्यान देने योग्य है। सच्ची बात स्वीकार करने में उन्होंने देर नहीं लगाई और अपना अज्ञान स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया। आज तो धर्म के कामों में भी कपट चलाया जाता है। मगर आप दूसरे को देखने न जाइए, आप अपना सुधार कीजिए। यह संसार है। इसी तरह चला करेगा।

भव–सागर को तिरने के लिए ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। लेकिन तिरने का काम दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम यह कि स्वयं को ज्ञान हो और दूसरा यह कि जिसे ज्ञान हो, उस पर विश्वास किया जाय। खुद को हीरे की परख न होने पर भी जौहरी के विश्वास पर हीरा खरीदा जाता है। अगर स्वयं को ज्ञान हो तो अच्छी बात है, नहीं तो ज्ञानी पर विश्वास करो। लेकिन जिस पर विश्वास करना हो, उसकी जांच पहले कर लेना चाहिए कि यह कहीं धोखा तो नहीं देता? अगर यह मालूम हो जाय कि वह धोखा देता है तो उससे दूर ही रहना चाहिए। यह जानते हुए भी, कि यह धोखा दे रहा है, उसके जाल में नही फंसना चाहिए। जब देख लो कि इसने

ज्ञान है और निस्वार्थभाव है, तब उस पर विश्वास करो। पोल देखते हुए भी किसी को नमस्कार करना स्वयं डूबना और दूसरों को डुबाना है।

कालास्यवेषिपुत्र कहते हैं– पहले मैं इन पदों का अर्थ नहीं जानता था। आपने जो अर्थ बताया, वह मुझे मालूम नहीं था। यह अर्थ मेरे सुनने में ही नहीं आया था तो जानता कैसे? यह अर्थ नहीं जानता था, इसलिए मुझे बोधि नहीं हुई थी।

अबोधि का अर्थ धर्म को न पाना है। तो क्या कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने धर्म नहीं पाया था? इसका उत्तर यह है कि उन्हें भगवान् पार्श्वनाथ के स्थविर से धर्म तो मिला था, मगर उसमें भगवान् महावीर के सिद्धान्त की जो विशेषता आ गई है, जिन–धर्म का जो रहस्य भगवान् महावीर ने बतलाया है, वह मैं नहीं जानता था। अथवा मेरी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं थी कि इन पदों का अर्थ समझ सकती। इसलिए इन पदों का विशिष्ट अर्थ मुझे मालूम नहीं था।

बुद्धि के संबंध में शास्त्र में एक उदाहरण दिया है। एक बुद्धि घी की बूंद के समान होती है, जिसे पानी में डालो तो वैसी बनी रहती है। फैलती नहीं है। एक बुद्धि तेल की बूंद के समान होती है, जिसे पानी में डाला जाय तो एकदम फैल जाती है। तात्पर्य यह है कि किसी की बुद्धि जितना सुने उतना ही धारण करती है और किसी की बुद्धि सुने, हुए में फैलाव करती है।

मुनि कहते हैं– यह अर्थ मैंने सुना नहीं था और इस अर्थ का साक्षात् दर्शन भी नहीं हुआ था।

किसी ने स्वप्न में गाय देखी। वह गाय कल्पना–मात्र थी। लेकिन प्रातःकाल उठने पर सामने गाय खड़ी देखी। यह स्वप्न में देखे का साक्षात् दर्शन कहलाया।

मुनि कहते हैं– मैंने यह अर्थ स्वप्न में देखने की तरह भी नहीं देखा था और साक्षात् भी नहीं देखा था। हमने यह अर्थ गुरु आदि के मुख से भी नहीं सुना था। अथवा शब्दों का अर्थ हमारे ज्ञान में नहीं आया, इस कारण विशिष्ट बोध नहीं हुआ। अथवा इन पदों का अर्थ गंभीर समझ कर और मुझ में विशिष्ट बुद्धि न देखकर गुरुजी ने इनका अर्थ मुझे समझाया नहीं था।

शिष्य की शक्ति देखकर ही कोई विषय उसे समझाया जाता है। माता, बालक को उसकी उंगली पकड़ कर चलाती है, लेकिन अपनी चाल में उसे नहीं चलाती, वरन् बालक की चाल से वह स्वयं चलती है, क्योंकि बालक

में माता की चाल में चलने की शक्ति नहीं है। अगर वह बालक से अपनी लम्बी डगों की तरह डगें रखवाए तो बालक की मुसीबत हो जाए।

इसी प्रकार शिष्य की बुद्धि प्रबल न हो तो गुरु उसे अपने बराबर का ज्ञान सिखा कर उस पर भार नहीं लादता। वह शिष्य की ग्रहण और धारण करने की शक्ति देखकर थोड़ा–थोड़ा ज्ञान सिखाता है। कालास्यवेषिपुत्र मुनि कहते हैं– शायद मुझ में अधिक बुद्धि न देखकर गुरु ने यह गंभीर अर्थ नहीं बताया होगा। उन्होंने उस समय यह अर्थ नहीं बताया तो अच्छा किया। सम्भव है, उस समय बता दने पर भी मेरी समझ में न आता।

संसार में ऐसे भी लोग हैं जो खा जाते हैं और लात भी मार जाते हैं। जिस झाड़ से छाया लेते हैं, उसी झाड़ को काट डालते हैं। जिसकी सहायता पाकर बढ़े हैं, उसी को मिटाने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसे कृतघ्नों की कमी नहीं है। इस प्रकार की कृतघ्नता आने पर प्रामाणिकता नष्ट हो जाती है। आप किसी अध्यापक से पढ़े होंगे, पर आज आपको उसका स्मरण है? मां–बाप ने आपका पालन–पोषण किया, उनका उपकार याद आता है?

जब आप में शक्ति नहीं थी, आप जमीन पर बैठ भी नहीं सकते थे, उस समय अगर मां–बाप आपको न उठाते तो आपकी क्या दशा होती? अगर आप माता–पिता के उपकार को याद नहीं करते, तो इससे बड़ी कृतघ्नता और क्या हो सकती है?

जब आप चल नहीं सकते थे, खा नहीं सकते थे, अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते थे, और लाज भी नहीं थी, उस समय मां–बाप न होते तो कौन रक्षा करता? मां–बाप में दया थी, इसलिए उन्होंने पाला–पोसा। जिस दया के कारण आप पल–पुस कर इस अवस्था में आये हैं, वही दया करते आज आपका माथा ठनकने लगता है। मां–बाप में दया का लेश भी न होता तो वे बच्चे को मार क्यों नहीं डालते? या क्यों न जीवित ही गाड़ देते? मगर उनमें दया थी, इसी कारण आप पले हैं। जिस दया से आप जीवित रह सके, उसे अगर भूल जाएं तो यह बड़ी भारी कृतघ्नता होगी।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर से कहा था– आप सामायिक आदि नही जानते। 'लोहे की छुरी पारस को काटने चली पर वह सोने की बन गई।' यही कहावत इन मुनि पर चरितार्थ हुई। मुनि ने आक्षेप किया था, मगर बोध पाया।

मुनि कहते है– आपने जो अर्थ कहा, उसे पहले न जानने का कारण यह नही था कि मुझ पर गुरुजी की कृपा नही थी। किन्तु उन्होंने जितनी मेरी

शक्ति देखी, उतना बोध दिया। मगर आज मुझे जो विशेष बोध मिला है, उसका कारण गुरुजी का दिया हुआ सामान्य बोध है। उस सामान्य बोध के प्रताप से ही आज मैं विशेष बोध प्राप्त कर सका हूं।

लोग विशेष वस्तु मिलने पर सामान्य चीज देने वाले को भूल जाते हैं। उदाहरणार्थ, माता ने सामान्य भाषा सिखाई थी और जब मदरसे में गये तो वहां व्याकरण से परिमार्जित भाषा पढ़ने को मिली। क्या उस समय माता को इसलिए मूर्ख कहना उचित होगा कि उसने इस प्रकार की भाषा नहीं सिखाई? उस समय यही विचार होना चाहिए कि आज मैं जो विशिष्ट भाषा सीख रहा हूं, वह माता की दी हुई सामान्य भाषा की ही बदौलत है। अगर माता ने साधारण भाषा न सिखाई होती तो आज विशेष शिक्षा कैसे पा सकता था?

एक बगीचे में तेज धूप पड़ रही है। उस समय वृक्षों को संभाला न जाय तो वृक्ष सूख जाएंगे। माली ने करुणा करके उन वृक्षों को लोटा-लोटा जल दिया, जिस से वृक्ष जलने से बच गये और जीवित रह सके। फिर सावन-भादों आये। उस समय पानी की झड़ी लग गई। उन्हीं वृक्षों के पास से नालियां बहने लगीं। माली यह देखकर कहने लगा- मैंने तो इन वृक्षों को ज्यादा-कुछ दिया नहीं था। सिर्फ एक-एक लोटा पानी दिया करता था। परन्तु मेघ कितना उपकारी है कि उसने इतना जल बरसा दिया।

माली का कथन सुनकर वृक्ष बोले- हे माली, तुम ऐसा न सोचो। यह मूसलधार पानी तुम्हारे लोटे-भर जल की समता कदापि नहीं कर सकता। तुमने उस कठिन समय में हमें जल दिया था, जब हम जल रहे थे, मरने की तैयारी में थे। उस समय तुमने लोटा-भर जल न दिया होता तो हम सूख जाते और आज यह पानी हमें सड़ा डालता। वर्षा का पानी सूखे पेड़ को सड़ाता है, हरा-भरा नहीं बनाता। इसलिए हमारे ऊपर तुम्हारा महान् उपकार है। चिन्ता न करो।

यह आलंकारिक दृष्टान्त लौकिक और लोकोत्तर- दोनों पक्षों में घट सकता है। इस दृष्टान्त के अनुसार माता-पिता पहले बालक की शक्ति देखकर शिक्षा देते हैं। मगर आगे विशिष्ट शिक्षा पा करके उस सामान्य शिक्षा के महत्त्व को भूलना नहीं चाहिए। वही आगे की समस्त शिक्षा की नींव है। इसलिए माता-पिता के प्रति कृतज्ञ भी होना चाहिए। शिवाजी एक सिपाही का लड़का था। आगे चलकर वह एक बड़े राज्य का स्वामी बना। उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि 'शिवाजी न होते तो सुन्नत होत हिंद की।' पर मूलभूत

सामान्य शिक्षा देने वाली उसकी माता जीजाबाई का उस पर उपकार है या नहीं? अगर माता की दी हुई सामान्य शिक्षा उसे न मिली होती तो वह कैसे उन्नत बन सकता था? जीजाबाई ने शिवाजी को कुछ ही शिक्षा दी होगी, फिर भी शिवाजी उसका अत्यन्त उपकार मानता था। इसी प्रकार कालास्यवेषिपुत्र अनगार भी स्थविर भगवान् से कह रहे हैं– गुरु की कृपा से मुझे सामानय बोध मिला था, उसी के प्रताप से आज मैं विशेष बोध प्राप्त कर सका हूं। अतएव मैं गुरु का ऋणी हूं।

आपको विशेष ज्ञान देने वाले संत का समागम प्राप्त न हो और सामान्य ज्ञान देने वाले संत पुरुष ही मिलें, तब भी आपको उस सामान्य ज्ञान से अरुचि तो नहीं होनी चाहिए। आपको समझना चाहिए कि सामान्य ज्ञान देने वाले संत होने पर भी वे तीर्थंकर भगवान् की ही वाणी सुनाते हैं। बड़े संत के मिलने पर आप जैसे सामान्य संत को भूल जाते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर मिल जाने पर आप आचार्य को भी भूल जाएंगे! तात्पर्य यह है कि विशेष ज्ञान प्राप्त होने पर सामान्य ज्ञान और सामान्य ज्ञान देने वाले को न भूलें। सन्तों की बात सदा कल्याणकारी है।

मुनि कहते हैं– मैंने इन पदों के एक–एक अंश का अर्थ नहीं सुना था। मुझे गुरु ने इन पदों का अर्थ विशेष खुलासा करके नहीं समझाया था। उन्होंने सामान्य अर्थ समझाया था, जिसकी बदौलत आज विशेष अर्थ समझ सका हूं।

वस्तु को समझाने के दो तरीके हैं। प्रथम तो इस तरह समझाया जाता है कि स्वपक्ष की स्थापना करके विपक्ष को हटाया जाय और दूसरा तरीका यह है कि सिर्फ स्वपक्ष का स्थापन करके ही समझाया जाय। दोनों में मूल वस्तु एक ही होती है, मगर पहला तरीका विपक्ष से सावधान कर देता है और दूसरा तरीका स्वपक्ष ही बतलाता है। जैसे जौहरी अपने लड़के को सच्चे और झूठे, दोनों प्रकार के रत्न बतलाता है, जिससे वह ठगाई से बचा रहे। जब लडका सच्चे रत्नों में से झूठे को अलग छांट देता है और झूठे रत्नों में से सच्चे को अलग कर लेता है, तब जौहरी समझता है कि अब लड़का होशियार हो गया और कहीं ठगा नही जा सकेगा। इसी प्रकार उपदेश भी दोनों प्रकार का होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि कहते हैं– गुरु ने मुझे स्वपक्ष समझाया था। पहले–पहल शिष्य को स्वपक्ष ही समझाया जाता है और विशेष बुद्धि होने

पर विपक्ष का निरस्त करना बतलाया जाता है। उस समय गुरु ने मुझमें विशेष बुद्धि नहीं देखी थी, अतएव विपक्ष का निराकरण नहीं समझाया था, मैं केवल स्वपक्ष की स्थापना ही सीख सका था।

कोई भी बड़ी चीज खाना हो तो सारी की सारी मुंह में नहीं ठूंसी जाती। टुकड़े करके खानी पड़ती है। इसी प्रकार सारा ज्ञान एकदम नहीं दिया जा सकता। ज्ञानरूपी महासागर का थोड़ा-थोड़ा ही अंश लिया जा सकता है। माता, बालक के मुंह में बड़ा कौर नहीं देती, छोटे-छोटे कौर देती है। इसी प्रकार गुरु भी शिष्य को एक साथ बहुत-सा ज्ञान नहीं दे सकता। ग्रहण करने की शिष्य की शक्ति के अनुसार ही ज्ञान दिया जाता है। कालास्यवेषिपुत्र मुनि कहते हैं– मुझे अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा-थोड़ा ज्ञान ही मिला था, इस कारण मैंने इन पदों का विशेष अर्थ नहीं जाना।

साधारण आदमी ज्ञान प्राप्त कर सके, इस अभिप्राय से ज्ञान, टुकड़े-टुकड़े करके समझाया जाता है। जैसे भगवान् की महासागर-सी वाणी में से दशवैकालिक आदि सूत्र उद्धृत किये गये। लेकिन वे बड़े हैं, इसलिए उनमें से भी कुछ और उद्धृत किया जाता है। मुनि कहते हैं – गुरु ने मुझे उस महासागर के समान ज्ञान में से कुछ हिस्सा समझाया था, उस सबके अलग-अलग हिस्से करके नहीं समझाए थे– बड़ी बात की विशेष व्याख्या नहीं समझाई थी। इस कारण इन पदों का मैं यह अर्थ, जो आपने अभी बताया है, नहीं समझ सका था। यही कारण है कि आपके बताये अर्थ को पहले मैं धारण नहीं कर सका था। यही कारण है कि आपकी प्ररूपणा में मुझे श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं हुई थी।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि को जिन-भगवान् के वचन पर श्रद्धा तो पहले ही थी, किन्तु जिन-वचन का जो वर्णन उन्होंने स्थविर भगवान से सुना, वह पहले नहीं सुना था। इसी कारण उन्हें इन वचनों पर श्रद्धा नहीं हुई थी।

प्रत्येक कार्य श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से हुआ करता है। बीमार को दवा देने से पहले, वैद्य का कर्तव्य है कि वह दवा के विषय में बीमार की श्रद्धा पैदा करे। बीमार को दवा देने के प्रति श्रद्धा न होगी तो दवा ठीक काम नहीं करेगी। बीमार को यह श्रद्धा होना आवश्यक है कि इस वैद्य की दवा मेरा रोग मिटा देगी। तभी दवाई अपना पूरा असर दिखलाएगी। जिस बीमार को दवा पर श्रद्धा नहीं है, वह प्रथम तो उसका सेवन ही नहीं करना चाहेगा, अगर सेवन करेगा भी तो विशेष लाभ नहीं उठा सकेगा।

कालास्यवेषिपुत्र कहते हैं– मुझे पहले आपके वचन पर श्रद्धा नहीं हुई, प्रतीति भी नहीं हुई और रुचि भी नहीं हुई।

जिन–वचन कैसे होते हैं, इस विषय में कहा है –

जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।

अर्थात् जिन–वचन वह है, जिन्हें सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा की प्राप्ति होती है।

भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए लोग अपने कल्पित वचनों को ही जिन–वचन कह दते हैं। लेकिन आप जिन–वचन की विशेष परीक्षा न कर सकें तो कम से कम इतना तो देख लिया करें कि जिन से तप, दया, क्षमा और इन्द्रियों का जीतना आवे, वे जिन–वचन हैं, और जिनसे यह न आवे, वे जिन–वचन नहीं हैं। इस प्रकार की परीक्षा से जब आप जिन–वचन का निश्चय कर लें तो उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि भी अवश्य लावें।

ज्ञानप्राप्ति के लिए कुछ अधिक नहीं करना पड़ता, केवल अपना विकार मिटाना होता है। ज्ञान का अर्थ केवल पोथी पढ़ना नहीं है, किन्तु विकारों का नाश ही ज्ञान का अर्थ है। जो रोग बहुत दवा से जाते हैं, वही अगर थोड़ी दवा से चले जाएं तो क्या हर्ज है? इसी प्रकार, जो विकार बड़े ज्ञान से जाते हैं, वही अगर तप, दया, क्षमा और इन्द्रियनिग्रह से जाते हैं तो क्या बुरा है? इसलिए जिन वचनों से तप, दया, क्षमा इन्द्रियनिग्रह आदि गुण पैदा हों, उन्हें जिन–भगवान् का वचन समझना चाहिए और उन पर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचि लानी चाहिए। ऐसा करने पर ही उन वचनों से लाभ उठाया जा सकता है।

दवा रोग मिटाती है, रोग पर काम करती है, लेकिन ज्ञान किस रोग पर काम आता है? पहले उस रोग को पहचानो। किसी पर राग होना, किसी पर द्वेष होना, किसी को देखकर क्रोध आना इत्यादि आत्मा के विकार, रोग है। दया, क्षमा आदि से इन रोगों की चिकित्सा होती है। जब क्रोध आए तो क्षमा का सेवन करो, काम उत्पन्न हो तो तप करो और किसी को दुःखी देखो तो दया की दवा लो। बस, आपके ये रोग मिट जाएंगे।

जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनकी आदत ही कुछ और हो जाती है। वे किसी ऊपरी बात से प्रभावित नहीं होते, वरन् तत्त्व का विचार करते है। वे अपनी भूल को सहजभाव से स्वीकार कर लेते हैं। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने ऐसा ही किया। वे कहने लगे– आर्य! आपने जो बातें बतलाईं, वे मैंने पहले नहीं जानी थी, अब आप से सुनकर मैं उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि

करता हूं। अब मैं आपके बताये अर्थ का पूर्ण विश्वासी हुआ हूं। आपका बताया अर्थ मेरी रग–रग में रम गया है।

कालास्यवेषिपुत्र की वात सुनकर स्थविर ने कहा– आर्य! अगर ये बातें तुम्हें ठीक लगी हों तो इन पर श्रद्धा करो, प्रतीति करो और रुचि करो। हमने आपके ऊपर दवाव डालने के लिए कुछ भी नहीं कहा है। न अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए ही कहा है। मैंने आत्मकल्याण की ही बात कही है और वही बात कही है, जिसके विषय में हमें आत्मसाक्षी से विश्वास हुआ है। अगर आपको भी मेरी वातों पर विश्वास हुआ है तो उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करो।

बहुत–से लोगों को इतनी ही श्रद्धा होती है कि यह वात महात्मा कहते हैं, इसलिए इसे सुन लो। मगर जिस बात पर विश्वास हो जाय, उस पर उन महात्मा की तरह श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखनी चाहिए। जिसमें वह बात सुनी है, उसका हृदय बन जाना चाहिए। व्याख्याता के लिए भी उचित है कि जब वह किसी बात पर स्वयं श्रद्धा, प्रतीति और रुचि कर ले तब वह दूसरों को बतावे। आज के उपदेशकों में यह कमी है। लेकिन यह बात आज के उपदेशकों की कही हुई नहीं, बल्कि शास्त्र की कही हुई है। अतएव इस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि लाओ। अगर मुझमें विकार होंगे तो मैं भोगूंगा, पर ये वचन तो ज्ञानियों के हैं। स्थविर भगवान् ने ये सब बातें कालास्यवेषिपुत्र मुनि से ही नहीं कही हैं, बल्कि हम सबसे भी कही हैं। अतएव इन पर विश्वास हुआ हो तो इन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करो।

स्थविर की बात सुनकर कालास्यवेषिपुत्र अनगार को यह विचार कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि कहां तो मेरा आक्षेपपूर्ण बोलना और कहां इनका अनुग्रह! ऐसे महात्मा को छोड़कर मुझे अलग रहना उचित नहीं है। ऐसा विचार कर मुनि ने स्थविर भगवान् को वन्दन–नमस्कार किया और कहा– हे स्थविर! आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। मुझे नया तत्त्व सिखलाया। मैंने तो आपसे यह कहा था कि आप सामायिक नहीं जानते, लेकिन अब मालूम हुआ कि आप ही सामायिक आदि का ठीक अर्थ समझते हैं। आपने मुझे भी इनका अर्थ समझाया और कहा, आर्य! यदि तुम इस अर्थ को ठीक समझते हो तो इस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि लाओ। मैंने चार महाव्रत–रूप अप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया है। अब मेरी इच्छा है कि उसे बदल कर पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण–रूप धर्म स्वीकार करूं।

प्रश्न उठ सकता है कि जब चार महाव्रतों से काम चल सकता है, तब पांच महाव्रतों की प्ररूपणा करने की क्या आवश्यकता थी? अगर पांच महाव्रतों से ही काम होता है तो क्या चार महाव्रत वाले मुनि मोक्ष नहीं जाते? क्या भगवान् पार्श्वनाथ यह नहीं जानते थे कि पांच महाव्रतों से ही मोक्ष मिलता है, मै चार ही महाव्रत किस प्रकार बतलाता हूं?

इस प्रश्न का विशेष विचार उत्तराध्ययन सूत्र के केशी–गौतम संवाद में है। उसी के अनुसार यहां भी कुछ विचार किया जाता है। पहले यह देखना चाहिए कि महाव्रत किसे कहते हैं? जो अणुव्रत की अपेक्षा बड़े हों, वे महाव्रत कहलाते हैं। महाव्रत कहने से यह स्पष्ट है कि छोटे भी व्रत होते हैं। अणुव्रत हैं, तभी महाव्रत हैं और महाव्रत हैं तभी अणुव्रत भी हैं। दोनों में से एक न हो तो दूसरा भी नहीं हो सकता।

छोटे व्रत हैं तो सही, मगर अत्यन्त वैराग्य होने पर उनसे बढ़कर जो व्रत स्वीकार किये जाते हैं, उन्हें महाव्रत कहते हैं। महाव्रत व्यापक हैं। किसी वर्ण, जाति या वर्ग का इन पर आधिपत्य नहीं है। किसी भी जाति का, किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, वहीं इन्हें धारण कर सकता है और इनका पालन कर सकता है।

महाव्रत पांच हैं, लेकिन भगवान् पार्श्वनाथ के समय में चार ही महाव्रत थे। यद्यपि उस समय संख्या में महाव्रत चार थे, मगर वे चार भी पांच के समान ही थे। जब कोई आदमी 'चार पच्चीसी' कहने से नहीं समझता तो उसे 'पांच बीसी' कहकर समझाया जाता है। यही बात महाव्रत के विषय में हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह– ये चार महाव्रत बताये थे। भगवान् ने सोचा, जब परिग्रह का ही निषेध कर दिया तब साधु स्त्री को भोग ही कैसे सकते हैं ? परिग्रह के बिना स्त्री नहीं भोगी जा सकती। जब परिग्रह ही नहीं रखता है तो स्त्री कैसे भोगी जा सकती है?

ऐसा विचार कर भगदान् पार्श्वनाथ ने चार ही महाव्रत बताये थे। वह समय ऐसा था कि जो बात बताई जाती, उसमें गली नहीं निकाली जाती थी। लेकिन भगवान् महावीर के समय में वक्र–जड़ काल आ गया। इससे साधु लोग यह कहने लगे कि परिग्रह रखने का निषेध है, स्त्री भोगने का निषेध कहां है? ममता रखना पाप है, निर्ममत्व भाव से स्त्री को भोगने में क्या पाप है? इस प्रकार की विचारधारा देखकर भगवान् ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया और चौथे महाव्रत में स्त्री का त्याग बतलाया तथा पांचवें में परिग्रह का त्याग बतलाया। इस प्रकार चार महाव्रतों से भी काम चलता था–

चार महाव्रत पालने वाले भी मुक्त होते थे, पर जमाना पलटा तो पांच महाव्रत बताने पड़े। स्त्री–त्याग को स्पष्ट कर देना पड़ा।

प्रश्न होता है, जब चार महाव्रतों से काम होता है, तब कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने चातुर्याम धर्म को क्यों त्यागा? पांच महाव्रतों का धर्म क्यों अंगीकार किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने सोचा, स्थविर ने मुझे वह बात बतलाई है, जो पहले मैं नहीं जानता था। एक तो इसी कारण मुझे इनके साथ मिल जाना चाहिए। दूसरे, जिस काल में जो बात उपयुक्त होती है, उस काल में वही करना उचित है। जाड़े के दिनों में गर्मी के मौसम के कपड़े उपयुक्त नहीं हो सकते। समय बदलने पर कपड़े भी बदलने ही पड़ते हैं। काल पलटने पर भी जो अभिमान में चूर रह कर योग्य परिवर्तन नहीं करता, वह खतरा उठाता है।

भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक ऋजु–प्राज्ञ पुरुषों का काल था। मगर भगवान् महावीर के समय वक्र–जड़ लोगों का काल आया। इस कारण भगवान् महावीर ने जो व्यवस्था की है, उस व्यवस्था को न मानना भगवान् महावीर की आसातना करना है।

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य अप्रतिक्रमण धर्म पालते थे। दोष लगने पर वे प्रतिक्रमण करते थे, दोष न लगता तो प्रतिक्रमण नहीं करते थे। लेकिन भगवान् महावीर ने काल की विशेषता को ध्यान में रखकर यह नियम बनाया कि प्रत्येक साधु को देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। अगर कोई साधु यह प्रतिक्रमण न करे तो उसे दोष होगा। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने सोचा, जब भगवान् महावीर ने यह नियम बनाया है, तो मुझे भी इस नियम का पालन करना ही चाहिए। ऐसा सोचकर उन्होंने स्थविर से कहा – मैं पांच महाव्रतों वाला सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करना चाहता हूं।

मुनि की बात सुनकर स्थविर भगवान् ने उनसे कहा– हे आर्य! जिस तरह तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो।

स्थविर भगवान् की स्वीकृति मिल जाने पर कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने उन्हें नमस्कार किया और चार महाव्रत वाले तथा अप्रतिक्रमण धर्म के बदले पांच महाव्रत वाला और सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार कर लिया।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि की मुक्ति तो चार महाव्रतों से भी नहीं रुकती थी, परन्तु उन्होंने भगवान् महावीर के शासन का सम्मान रखने के लिए पांच महाव्रत का धर्म अंगीकार किया। उन्हें मर्यादा के पालन का पूरा ध्यान था।

जिस प्रकार कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने मर्यादा का पालन किया, उसी प्रकार आपको भी मर्यादा का पालन करना चाहिए। जाति, समाज और धर्म की जो मर्यादाएं हैं, उनका उल्लंघन करना हानिप्रद है। अगर कोई नियम बदलना आवश्यक हो तो सबको मिलकर बदलना चाहिए। मगर स्वेच्छाचारिता के साथ नियमों का भंग करना हानिप्रद है। जैसे तालाब की बंधी हुई पाल तोड़ना हानिकारक है, ऐसा करने से कभी–कभी मनुष्यों की हत्या हो जाती है, उसी प्रकार मर्यादा की पाल तोड़ने से भी बहुत हानि है। ढंग के साथ तो तालाब में से भी पानी लिया जाता है, लेकिन बेढंगे तौर पर तालाब की पाल तोड़कर पानी लेना अनर्थकारी है। अतएव जाति, समाज और धर्म की मर्यादाओं का पालन करना महत्त्व की बात है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने पांच महाव्रतों का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया, इस पर यह प्रश्न होता है कि उन्होंने सम्प्रदाय का जो परिवर्तन किया, इस परिवर्तन से पहले की उनकी सब क्रियाएं व्यर्थ गई या नहीं? अगर व्यर्थ नहीं गई तो सम्प्रदाय के परिवर्तन की क्या आवश्यकता थी?

शिक्षा दो प्रकार की होती है– सामान्य शिक्षा और विशेष शिक्षा। विशेष शिक्षा प्राप्त होने पर सामान्य शिक्षा व्यर्थ नहीं जाती। कोई भी विशेष गुण प्राप्त करने से सामान्य गुण का नाश नहीं हो जाता। विशेष शिक्षा मिलने पर अगर सामान्य शिक्षा छोड़ न दी जाय तो वह विशेष शिक्षा में सहायक होती है। लड़की अपनी माता के पास सामान्य शिक्षा पाती है, लेकिन सुसराल जाने पर वह शिक्षा और वृद्धि पाती है। लड़की सुसराल जाने पर सामान्य शिक्षा को भूल जाय तो काम नहीं चल सकता।

यही बात कालास्यवेषिपुत्र अनगार के सम्प्रदाय–परिवर्तन के लिए समझनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान पार्श्वनाथ के धर्म में विशेषता नहीं थी और भगवान् महावीर के धर्म में विशेषता थी। दोनों का मूल धर्म एक ही था। भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म से भी मुक्ति प्राप्त होती थी, लेकिन भगवान् महावीर ने कालप्रत्यय धर्म बतलाया है। जैसे ग्रीष्म ऋतु के कपड़े और होते है तथा शीत ऋतु के कपड़े और होते हैं। मौसम के अनुसार कपड़े बदलने ही पड़ते है। इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का काल और था और भगवान् महावीर का काल और आया। भगवान् महावीर के समय वक्र–जड़ काल आया, तब धर्म का बाह्य अंग भी कालानुसार होना स्वाभाविक था। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने सोचा, इस काल के प्राणियों के कल्याण के लिए कालानुसार भगवान् महावीर ने जो धर्म बताया है, उसे न मानना और अपनी

पुरानी बात पकड़े रहना निरा हठ है। यह सोचकर उन्होंने सम्प्रदाय का परिवर्तन किया।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् को वन्दना–नमस्कार करके प्रार्थना की – मैं धर्म–परिवर्तन करना चाहता हूं। आप मुझे स्वीकृति दीजिए। तव स्थविर ने कहा– तुम्हें जिस तरह सुख मालूम हो, वैसे ही करो।

धर्म में किसी तरह की जवरदस्ती नहीं होती। आन्तरिक श्रद्धा के साथ जो किया जाय, वही धर्म ठीक है। स्थविर ने कालास्यवेषिपुत्र से किसी प्रकार की जवरदस्ती नहीं की। मुनि ने पूछा और स्थविर ने उत्तर दिया। स्थविर के उत्तरों पर मुनि को श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि हुई और वह परिवर्तन करने के लिए तैयार हुए। स्थविर ने सिर्फ यही कहा– जिस तरह तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो।

स्थविर का यह उत्तर सुनकर मुनि को और अधिक आनन्द हुआ। उन्होंने सोचा, स्थविर भगवान् में कितनी समता है। इन्होंने अपनी ओर से दबाव नहीं डाला और जब मैंने प्रार्थना की तब भी यही कहते हैं– 'जैसे सुख उपजे, वैसा करो !' मेरा कल्याण ऐसे ही समभावी महात्मा की शरण स्वीकार करने में है। ऐसा विचार कर उन्होंने स्थविर भगवान् को फिर वन्दना की और नमस्कार किया।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् को वन्दना–नमस्कार करके चार महाव्रत और अप्रतिक्रमण वाला धर्म त्याग कर पांच महाव्रत का प्रतिक्रमण वाला धर्म स्वीकार किया और वे विचरने लगे।

पार्श्वनाथ भगवान् के साधु नियमित रूप से प्रतिक्रमण क्यों नहीं करते थे? और भगवान् महावीर के साधु के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक क्यों है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं– यह अन्तर कालप्रत्यय है, अर्थात् इस भेद का कारण काल है। जब आंधी चलती है तब घर में रेत–धूल आदि घुसती है और उस समय घर झाड़ना ही पड़ता है। लेकिन जब आंधी नहीं चलती तब कचरा देखा तो झाड़ू लगाया, कचरा नहीं देखा तो नहीं लगाया। यही बात प्रतिक्रमण के विषय में है। भगवान् पार्श्वनाथ के समय के साधु सरल स्वभाव के थे। दोष लगा देखते थे तो प्रतिक्रमण कर लेते थे, नहीं तो प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं था। लेकिन भगवान् महावीर के समय में काल वक्र–जड़ आया। इस काल के प्रभाव से मन में विकार आ ही जाता है। उस विकार को दूर करने के लिए भगवान् महावीर ने पांच प्रतिक्रमण आवश्यक बतलाये हैं। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने

सोचा, काल तो ऐसा आया है, फिर भी मैं अप्रतिक्रमण धर्म में ही रहूंगा तो मेरी हानि ही होगी और अन्य साधु भी मेरा अनुकरण करेंगे। ऐसा विचार कर उन्होंने अप्रतिक्रमण धर्म त्याग कर सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया। कालास्यवेषिपुत्र मुनि पहले दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे, अब वे नियमित रूप से प्रतिक्रमण करने लगे। पहले प्रतिक्रमण करना उनके लिए आवश्यक नहीं था, अब आवश्यक हो गया।

प्रश्न हो सकता है – क्या गौतम जैसे ज्ञानी महर्षि को भी प्रतिक्रमण करना पड़ता था? और उन्हें भी क्या दोष लगता था? इसका उत्तर यह है कि यों तो उस समय भी अनेक वीतराग महात्मा थे, लेकिन जब तक वे छद्मस्थ थे, उनके लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक था। क्योंकि –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

अर्थात उत्तम पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही आचरण साधारण लोग भी करते हैं। अतएव श्रेष्ठ पुरुष, साधारण लोगों का खयाल करके ही आचरण करते हैं।

आजकल क्रिया में ढीलापन आ गया है। इसका कारण यह है कि कई लोग कहने लगे हैं कि मन को शुद्ध रक्खो, फिर बाह्य क्रिया करो या न करो। इस प्रकार कहकर वे बाह्य क्रिया को एक प्रकार से व्यर्थ बतलाते हैं। मन शुद्ध है या नहीं, यह बात ज्ञानी के सिवाय और कौन जान सकता है? ऐसा कहने वालों का मन शुद्ध होगा या नहीं, यह कौन कह सकता है? मगर ऐसा कहने वाले लोग क्रिया को अनावश्यक बतलाकर जनता को धोखे में डालते हैं। उनकी देखादेखी और लोग भी बाह्य क्रिया छोड़ बैठे हैं। इस प्रकार बाह्य क्रिया के कारण जो शुद्धि होती थी, वह भी रुक गई है। केवल मानसिक शुद्धि का आश्रय लेकर बाह्य क्रिया को अनावश्यक बताने वाले लोगों के ही कारण आज क्रिया में शिथिलता आ रही है।

काल के अनुसार की जाने वाली क्रिया से ही ठीक काम होता है। पहले धार्मिक शिक्षा के लिए किसी विशेष प्रबंध की आवश्यकता नहीं होती थी। साधुओं से ही लोग सामायिक–प्रतिक्रमण सीख लिया करते थे। उस समय लौकिक शिक्षा भी आज के समान बढ़ी हुई नहीं थी। अब लौकिक शिक्षा इतनी अधिक बढ़ गई है कि लोग उससे बहुत प्रभावित हो जाते हैं और धार्मिक शिक्षा को भूल जाते हैं। इस कारण धार्मिक शिक्षा के लिए भी विशेष प्रबंध की आवश्यकता हो गई है। यदि लौकिक शिक्षा के बढ़ जाने पर भी धार्मिक शिक्षा का विशेष प्रबंध न किया जाय, तो धार्मिक शिक्षा का हृदय से

जरा भी स्थान नहीं रहेगा। इसलिए आजकल इस बात का बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है कि धार्मिक शिक्षा का अधिक से अधिक प्रचार हो। यदि धार्मिक शिक्षा की ओर से सावधान न रहे, तो लौकिक शिक्षा धार्मिक शिक्षा को दबा लेगी और फिर धार्मिक शिक्षा का कोई प्रभाव न होगा। अगर काल को न देखकर और उसके प्रभाव से बचने का उपाय न करके प्राचीनता को ही लिए बैठे रहोगे तो फिर यह काल डुबा देगा। इसलिए प्रत्येक काम विवेक से करो। गफलत से बचना चाहिए। आपको गफलत से जगाने के लिए ही कहते हैं :–

गाफिल! तू देख क्या तेरा स्वरूप है।
नजदीक यार है मगर नजर न आता है।
गफलत से जाग देख क्या लुत्फ की बात है।
दुई की गर्द से चश्म की वो रोशनी गई।
महबूब के दीदार की ताक नहीं रही।
इस वास्ते दुनिया के फंद में फंसता है।।

यह आध्यात्मिक बात है। इसमें गाफिल उसे कहा है जो 'मैं–तू' के द्वैत की गफलत में पड़ा हुआ है। इस द्वैत को भूलना ही गफलत से जागना है। तू बाहर परमात्मा को ढूंढ़ता फिरता है, पर वह तो नजदीक ही है। जो नजदीक है उसे खोजते फिरना वैसी ही बात है कि 'कांख में छोरा और गांव में पुकार।'

बाहर का खोजना छोड़कर अपने पास ही खोजो तो वह मिलेगा। आज लोग ऐसी गफलत में पड़े हुए हैं कि धर्म को निमित्त बना करके भी अपनी नासमझी के कारण कर्मबंध करते हैं। तात्पर्य यह है कि काल के अनुसार, सावधान होकर धर्म का उद्योत करने में आपका और जगत् का कल्याण है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने विचार किया कि भगवान् महावीर ने काल के अनुसार जो धर्म बतलाया है, वह उत्तम है। उसे स्वीकार करने में कल्याण है। यह सोचकर उन्होंने सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया। अब वे दोनों समय नियमित रूप से प्रतिक्रमण करने लगे। उन्होंने अपनी नियमित प्रतिक्रमण नहीं करने की परम्परा से चिपटे रहना उचित नहीं समझा। आज तो साधुओं को अपनी परम्परा छोड़ना कठिन मालूम होता है और कोई–कोई तो यह भी कहते हैं कि 'वे अमुक कार्य करें तो हम भी करें।' ऐसा कहना भी क्या कोई धर्म का मार्ग है? यह तो देखादेखी मात्र है। इसमें विवेकशीलता नहीं है।

परम्परा में जकड़े लोग ही ऐसा कहते हैं। ज्ञानी के लिए धर्म का मार्ग सदा ही खुला हुआ है। धर्म के काम में आत्मा को स्वतंत्र ही रखना चाहिए। जिसे सत्य समझा है, उसे स्वीकार करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। अगर उससे डिगाने के लिए देवता भी प्रयत्न करे तो भी नहीं डिगना चाहिए। इस तरह की दृढ़ता रखने वाले ही उत्कृष्ट धर्म का पालन कर सकते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि स्थिर चित्त से संयम का पालन करते हुए नग्न–भाव से विचरने लगे। कालास्यवेषिपुत्र मुनि जिनकल्पी नहीं थे, फिर भी वे नग्न–भाव से रहने लगे। यहां यह समझ लेना चाहिए कि दिगम्बर रहने वाले ही नग्न नहीं कहलाते, किन्तु अल्प वस्त्र रखने वाला भी नग्नभाव वाला कहलाता है। मर्यादित और श्रृंगारहीन वस्त्र पहनने को भी नग्नभाव कहते हैं। व्यवहार में देखने से भी ज्ञान होगा कि अल्प वस्त्र रखने वाले या अल्प वस्त्र पहनने वाले को नग्न कहते हैं। किसी गरीब आदमी ने दर्जी की दुकान पर कपड़े सीने दिये। वह गरीब फटे–पुराने कपड़े पहने हुए है, नग्न नहीं है। फिर भी वह दर्जी से कहता हैं– हमारे कपड़े जल्दी सिल दे, हम नंगे फिरते हैं। वह गरीब आदमी नग्न न होने पर भी अपने को नग्न कहता है। इसका कारण यही है कि उसके पास अल्प वस्त्र हैं। इसी प्रकार मर्यादा से अधिक वस्त्र न रखने के कारण मुनि को नग्नभाव में रहना कहा है। मर्यादित वस्त्रों पर भी उन्हें ममत्व नहीं होता। नग्न कहने का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भगवान् कहते है– हे मुनियो! मैंने तुम्हें नग्नभाव में रहना कहा है। इसलिए ऐसा न हो कि तुम वस्त्र का पोटला बांधकर ममता करो।

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के लिए कहा जाता है : –

हुकम मुनि दीपे जग माहीं,
शूरवीर हो रह्या मुनीश्वर तपस्या के माहीं।
बेले बेले करे पारणा जाव जीव तांई,
एक पछोड़ी ओढ़े बारा मास माहीं।।

हुकम मुनि बेले–बेले पारणा करते थे और तप से दुर्बल होने पर भी एक ही वस्त्र ओढ़ने के लिए रखते थे। उसे भी बारह महीने तक चलाते थे। ऐसे मुनि को नग्नभावी न कहा जाएगा तो क्या वस्त्र का पोटला रखने वाला कहा जाएगा? जो साधु अल्प वस्त्र और अल्प मूल्य के वस्त्र रखकर उनसे भी ममत्व नहीं करते, उन्हें भी नग्नभावी कहा गया है। कालास्यवेषिपुत्र का नग्नभाव भी ऐसा ही था।

कालास्यवेषिपुत्र ने नग्नभाव क्यों धारण किया था? जिस मतलब से उन्होंने संयम लिया था, उसकी सिद्धि के लिए ही नग्नभाव धारण किया था। यह बात नहीं है कि लोकदिखावे के लिए या वस्त्र न मिलने के कारण उन्होंने नग्नता धारण की हो, उन्होंने मोक्ष प्राप्त करने के लिए नग्नभाव धारण किया था। उन्होंने नग्नभाव से मोक्ष की आराधना की।

केवल नग्नभाव तो वह दरिद्र भी रखता है, जिसे वस्त्र नहीं मिलते। लेकिन इस तरह के नग्नभाव से मुक्ति नहीं मिलती। नग्नभाव की सार्थकता तभी है, जब उसके साथ मुंडभाव हो। मुंडभाव का मतलब मस्तक मुंडाना है, लेकिन सिर्फ सिर सफाचट करा लेने से काम नहीं चलता। सिर मुंडाने वाले बहुत हैं, परन्तु उन सबको मोक्ष नहीं मिलता। शास्त्र में दस प्रकार के मुंडनभाव बताये हैं। पांच इन्द्रियों को और चार कषायों को मूंड लेने (जीत लेने) के पश्चात् सिर का मुंडन होना ही सच्चा मुंडभाव है। इसी प्रकार का मुंडभाव मुक्ति में सहायक हो सकता है।

प्रश्न होता है— इन्द्रियों का और कषायों का मुंडन करना तो ठीक है, लेकिन केशों ने क्या अपराध किया है, जो उनका मुंडन किया जाता है? जो मनुष्य इन्द्रियों और कषायों को मूंडे बिना सिर का मुंडन करता है, वह तो सिर की खुजली मिटाने के लिए सिर मुंडवाता है। लेकिन कालास्यवेषिपुत्र मुनि के लिए जो मुंडभाव बताया है, वह सिर की खुजली मिटाने के लिए नहीं है। इस मुंडभाव में तो सिर के केश उखाड़ने पड़ते हैं।

कहा जा सकता है कि साधु दयाशील होता है, फिर अपने केश उखाड़ कर वह अपने—आप को कष्ट में क्यों डालता है? इसका उत्तर यह है कि दया रखने में बहुत कष्ट भोगने पड़ते हैं। बिना कष्ट उठाये दया नहीं हो सकती। माता कष्ट न उठाती तो आपकी दया नहीं कर सकती थी और उस दशा में आपकी रक्षा भी नहीं हो सकती थी। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कष्ट सहने पर दया नहीं होती। दया के लिए ही बाल उखाड़े जाते हैं। इसीलिए मुंडभाव धारण करना पड़ता है।

बहुत—से लोग बाल रखाकर उनमें तेल आदि लगाते हैं, लेकिन साधु ऐसा नहीं कर सकते। वे तेल नहीं लगा सकते और उस दशा में बालों में जीव—जन्तु पैदा हो जाना स्वाभाविक है। इस हिंसा से बचने के लिए मुंडभाव स्वीकार करना आवश्यक है।

आज हिन्दुओं की चोटी सिर के बीच से आगे की ओर आ गई है। ऐसा करने वाले लोग बाबू बनना चाहते हैं। लेकिन होता यह है :—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

ऐसे लोग न बाबू हो पाते हैं, न हिन्दू ही रह जाते हैं। कहीं के भी नहीं रहते। हिन्दुओं ने भगवान् ऋषभदेव की चोटी धारण की है। सिद्धान्त में कहा है कि अन्य तीर्थंकरों का तो पंचमुष्टि लोंच है, लेकिन भगवान् ऋषभदेव चार मुष्ठि लोंच करके जब पांचवीं मुष्ठि लोंच करने लगे तब इन्द्र ने प्रार्थना की कि आपकी सन्तान के लिए आपका कुछ चिह्न चाहिए। इसलिए आप एक मुष्टि बाल रहने दीजिए। इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान् ने एक मुष्टि बाल रहने दिये, जो चोटी नाम से कहलाए। इस प्रकार चोटी भगवान् ऋषभदेव की सन्तान का चिह्न है। यह हिन्दुओं की पहचान है। कभी मुसलमान और हिन्दू शामिल होकर लड़े और मारे गये तब उन मरे हुए लोगों की पहचान चोटी के न होने से ही होती थी। जिसके चोटी होती, उसे हिन्दू समझकर हिन्दू ले जाते। जिसके चोटी न होती, उसे मुसलमान मान कर मुसलमान उठा ले जाते।

आज कुसंस्कार के कारण लोग चोटी कटा डालते हैं। लोकमर्यादा की स्थापना करने वाले सबसे पहले राजा ऋषभदेव हैं। उन्होंने जो मर्यादा बनाई है, वह आपके कल्याण के लिए ही है। फिर उनकी बताई हुई चोटी को रखने में कोई हानि न होने पर भी कटवा डालना कैसे उचित कहा जा सकता है?

मुनि को मुण्डभाव धारण करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि केशों का स्वभाव बढ़ने का है। अगर बढ़े हुए केशों का यत्न न किया जाय तो उनमें जीव उत्पन्न होते हैं। अगर तेल आदि लगाया जाय तो श्रृंगार की वृद्धि होती है। इस कारण भगवान् ने केशलोंच करना बतलाया है।

कहा जा सकता है कि केशों का लोंच करने के बदले अगर उस्तरे से बाल बना डाले जाएं तो क्या हानि है? ऐसा करने से कष्ट नहीं होगा। मगर यह उपाय करने से प्रथम तो उस्तरा रखना पड़ेगा, दूसरी बात यह है कि उस्तरे से बने हुए बाल बहुत बढ़ते हैं। तीसरे, उस्तरे से बाल बनवाने वाले के सिर में तो उस्तरा लगने से घाव के चिह्न भी देखे जा सकते हैं, लेकिन लुंचन करने से घाव नहीं हो सकता। चौथी बात यह है कि केशलुंचन करना वीरता का काम है। एक बार थोड़ी देर के लिए भले ही कष्ट हो, मगर अन्त में तो आनन्द ही होता है।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने जिस प्रयोजन की पूर्ति करने के लिए मुंडभाव धारण किया था, वह प्रयोजन पूर्ण हो गया।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने पांच महाव्रत का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया और अनेक वर्षों तक संयम का यतना के साथ पालन किया। यहां यह भी बतलाया गया है कि यह मुनि किस प्रकार अप्रमादी बने और किस तरह संयम पालने के लिए किन–किन बातों का यत्न किया? शास्त्र का यह वर्णन हमारे लिए भी मार्गदर्शक है।

नग्नभाव और मुण्डभाव का वर्णन किया जा चुका है। उन्होंने मोक्ष–रूप प्रयोजन को साधने के लिए नग्नता और मुण्डता धारण की थी, इसलिए वे अन्तिम श्वास तक अपना यह कार्य करते रहे। यों तो बहुत–से लोग संसार में नग्नभाव और मुण्डभाव रखते हैं, लेकिन इस प्रकार का नग्नभाव और मुण्डभाव और है तथा मुनि का नग्नभाव और मुण्डभाव कुछ और है।

आगे बतलाया गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि स्नान नहीं करते थे। उन्होंने अस्नान व्रत भी धारण किया था।

आपको यह मालूम ही है कि साधु स्नान नहीं करते। दूसरे लोग हम साधुओं के विषय में यह कहते हैं कि जैन साधुओं में और–और बातें तो ठीक हैं, लेकिन स्नान न करने की बात अच्छी नहीं है। दूसरे लोग कहें तो कहें, पर कई जैन कहलाने वाले भी हमारे ऊपर यह आक्षेप करते हैं कि हम नहाते–धोते नहीं हैं। कोई कुछ भी कहे, मगर शास्त्र में कहा है कि मुनि मोक्ष के लिए स्नान नहीं करते।

प्रश्न हो सकता है, क्या मुक्ति के लिए स्नान न करना उचित है? पर इसका समाधान तो सरल ही है। उचित न होता तो वे स्नान करते क्यों नहीं? स्नान करने में कोई कष्ट नहीं होता, बल्कि स्नान न करने में ही कष्ट होता है। स्नान करने से तो और आराम मिलता है। साफ–सुथरे होते हैं और तबीयत हलकी हो जाती है। अगर साधु को स्नान करना वर्ज्य न होता तो साधु स्नान क्यों न करते? स्नान करने में कष्ट न होने पर भी, बल्कि आराम मिलने पर भी साधु स्नान नहीं करते, इसका कोई विशेष कारण तो होना ही चाहिए। विशेष कारण के बिना स्नान छोड़ने में हर्ज ही क्या था ? यह बात तो थोड़ी बुद्धि वाला भी समझ सकता है।

साधुओं के लिए स्नान करना निषिद्ध क्यों है, इसका कारण बताते हुए कहा है :–

स्नानं मददर्पकरं, कामांगं प्रथम स्मृतम्।
तस्मात् कामं परित्यक्तुं, न यः स्नाति दमे रतः।।

स्नान, मद और दर्प उत्पन्न करने वाला है और स्नान करना काम का प्रथम अंग है। स्नान करना शृंगार का प्रथम अंग माना गया है। अगर स्नान करना कामांग न होता तो इसे शृंगार में क्यों गिनते? शृंगार में यह सबसे पहला है और कामत्यागी को शृंगार करना निषिद्ध है। साधुओं ने शृंगार का त्याग किया है, इसलिए वे स्नान भी नहीं करते। अगर काम सम्बन्धी अन्यान्य बातें त्यागकर स्नान को रहने दिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि काम का सर्वथा त्याग कर दिया है। एक रुपये में सोलह आने होते हैं। सोलह आनों में से एक आने में भी कुछ शक्ति तो है ही। अगर कोई पुरुष रुपया छोड़ दे, मगर एक आना रक्खे तो उसके लिए यही कहा जायगा कि वह पूर्ण त्यागी नहीं है। इसी प्रकार स्नान सोलह शृंगारों में पहला है। स्नान रखने पर भी यही कहा जायगा कि स्नान करने वाले ने काम को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ा है। ऐसी अवस्था में स्नान न करके काम का सर्वथा त्याग करने में हानि क्या है? स्नान करने से मद भी होता है। तात्पर्य यह है कि काम का पूर्ण रूप से त्याग करने और इन्द्रियदमन करने के लिए साधु स्नान का त्याग करते हैं।

साधु के लिए स्नान करना मना है, इसका यह अर्थ नहीं कि गृहस्थ के लिए भी स्नान करना निषिद्ध है। गृहस्थ ने काम सम्बन्धी और बातें नहीं छोड़ी हैं। उसने विवाह करना और शृंगार करना नहीं छोड़ा है। ऐसी दशा में केवल स्नान न करके साधु का अनुकरण कैसे कर सकता है? हां, गृहस्थ जिस समय धर्मक्रिया में हो, उस समय उसके लिए भी अस्नान से रहना उचित है। किन्तु साधारणतया साधु के लिए स्नान का निषेध होने का मतलब गृहस्थ के लिए स्नान का निषेध होता नहीं है।

संयम पालन करने वाले साधु काम को सर्वथा त्यागने के लिए स्नान नहीं करते, यह बात शिवपुराण में भी कही है। स्नान से काम की वृद्धि और उत्पत्ति होती है। इसलिए साधु लोग काम से बचने के लिए स्नाान नहीं करते और शरीर के प्रति ममत्वरहित होते है। साधु स्नान नहीं करते, यह बताने के लिए ही शास्त्र में कालास्यवेषिपुत्र मुनि के विषय में यह कहा गया है कि वे अस्नानव्रतधारी थे।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि अस्नान रहने के साथ ही दन्तधावन भी नहीं करते थे। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्नान और दन्तधावन का निषेध किया

गया है। यह बात सौरिपुराण में भी कही है। मगर जिन्हें ब्रह्मचर्य का ही पालन नहीं करना, वे इन बातों को भूल रहे हैं। डाक्टरों के मत से भी स्नान करना हानिप्रद है। उनका कथन है कि स्नान करने से चमड़े की आघात सहन करने की शक्ति मारी जाती है। चमड़ी में बाहर के आघातों को सहन करने का गुण है। स्नान करने से रक्त गरम हो जाता है, जिससे कामादिक विकार उत्पन्न होते हैं।

दांत साफ करने के विषय में डाक्टर कहते हैं– 'दांत गंदे होने से मुंह में मवाद पैदा हो जाता है। वह पेट में जाकर हानि उत्पन्न करता है और रोगों का जनक होता है। इसलिए दांत साफ रखना आवश्यक है।' इस पर आप यह कह सकते हैं कि डाक्टरों का यह मत है और शास्त्र में मुनियों के लिए दन्तधावन का निषेध है। तो क्या दांत साफ न करके रोगी बनना चाहिए? मगर रोगी होने की मनाही तो भगवान् ने भी की है। शास्त्र में कहा है –

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्मई।
थम्भा कोहा पमायेणं, रोगेणालस्सएण य।।

इस प्रकार रोगी को धर्म के आयोग्य बतलाया है और दांत साफ न रखने से रोग होता है। इसलिए दातौन तो करना ही चाहिए।

दातौन के विषय में जो दलील दी गई है, वही स्नान के विषय में भी दी जा सकती है। कहा जा सकता है कि स्नान रोग से बचाता है।

इस प्रकार रोग की शक्ति को तो समझते हैं, लेकिन ब्रह्मचर्य की शक्ति आपको मालूम नहीं है। इसी कारण आप रोग की शक्ति को रोकने के लिए स्नान और दन्तधावन को आवश्यक समझते हैं। मगर पूर्ण ब्रह्मचारी के पास रोग फटक ही नहीं सकते। लोग भूख न होने पर भी खाते हैं। बिना भूख के खाने के लिए ही तरह–तरह के मसालों का उपयोग किया जाता है। लेकिन ब्रह्मचारी साधु सबसे पहले खाने–पीने पर ही नियंत्रण रखते हैं। ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों में सरस भोजन और अधिक भोजन करने की मनाही की गई है। ऊनोदर तप का विधान भी इसीलिए किया गया है। जब अधिक नहीं खाया जायगा तो दांतों में रोग भी नहीं होगा। इस पर भी कदाचित् रोग हो जाय तो उसके शमन के लिए उपवास करने का विधान किया गया है। दांतों का कैसा भी रोग क्यों न हो, उपवास से मिट सकता है। मेरे मसूड़े फूल जाते थे, तब उपवास कर लेता था। उपवास करने से

मसूड़ों की फूलन न जाने कहां गायब हो जाती थी। दांतों के रोग पेट की खराबी से होते हैं और तप की शरण लेने से तमाम रोग मिट जाते हैं।

अगर तप से सब रोग मिट जाते हैं तो सदा कुछ–न–कुछ तपस्या करने वाले साधुओं को रोग क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि नियमित खान–पान होने पर तो रोग होते ही नहीं हैं, लेकिन साधुओं को कभी–कभी विवश होकर नियम के विरुद्ध खाना–पीना पड़ता है। साधुओं का खान–पान श्रावकों पर निर्भर है और श्रावकों के यहां ऐसा भोजन बनता है कि ब्रह्मचर्य के अनुकूल भोजन मिलना कठिन हो जाता है। इसके सिवा साधु आप लोगों में से ही निकल कर होते हैं। हमारी आदत आपकी–सी ही थी। उसे पूर्ण रूप से पलटना कठिन हो जाता है। इन सब कारणों से खान–पान का निमय भंग होता है और नियमभंग से रोग होते हैं। जब रोग होते हैं तब दवा भी लेनी पड़ती है, लेकिन यह अपवाद है। यह अपवाद हमारी कमजोरी से ही होता है। अगर हम नियमपूर्वक रह सकें तो रोग हो नहीं सकते। हममें चाहे कमजोरी हो, मगर कालास्यवेषिपुत्र मुनि सब नियम पालते थे। उन्हें रोग का कोई भय नहीं था।

अस्नान और अदन्तधावन व्रत का कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने भलीभांति पालन किया। इसका उत्कृष्ट फल पूर्णावस्था प्राप्त करना है। यह फल उन्हें प्राप्त हुआ।

रोग से बचने के लिए खाने–पीने का नियम रखना आवश्यक है और ज्यादा तो कभी खाना ही नहीं चाहिए। आप लोग भोजन की अधिक तैयारी इसीलिए कराते हैं कि जिससे अधिक खाया जाय। पहले आवश्यकता से अधिक खाते हैं, फिर ऊपर से चूर्ण आदि खाते हैं। लेकिन ऐसा खाना रोग और विकार को आमंत्रण देना है इसलिए अधिक खाने से बचना चाहिए और विधवाओं को तो विकारवर्द्धक भोजन से खास तौर पर बचना चाहिए।

आपके लिए यह समय अपूर्व कल्याणकारी है। अतएव आपको शारीरिक, मानसिक खराबियां दूर कर देनी चाहिए, जिससे आत्मा का कल्याण हो। आप सोचते होंगे कि यह संसार ही सुख पहुंचाने वाला है। और यही मान कर संसार के काम में किसी तरह का विघ्न आने पर दुःख मानने लगते हैं। मगर आप यह क्यों नहीं देखते कि बाहर का दुःख तो भीतर के दुःख से है। भीतर का दुःख मिट जाय तो बाहर का दुःख रह ही न जायगा। कहा है –

खयाल आता है मुझे दिल जान तेरी बात का,
फिकर तुझको है नहीं आगे अंधेरी रात का।
जोबन तो कल ढल जायगा दरियाव है बरसात का,
बोर कोई न खायगा उस रोज तेरे हाथ का।
जीना तुझे दिन चार है तेरे कजा सिर पर खड़ी,
हंस बोल ले जग में भलाई भलाई ही है बड़ी।
तू तो निकल जायगा कल रह जायगी मिट्टी पड़ी,
नित हरी रहती नहीं नादान फूलों की छड़ी।।

प्रकृत बात यह है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि अस्नान और अदन्तधावन व्रत का पालन करते थे। कालास्यवेषिअनगार अछत्र भी रहते थे। वे किसी भी समय छाता नहीं लगाते थे। कितनी ही धूप पड़े या वर्षा हो, साधु छाता नहीं लगाते। छत्र धारण न करना साधु का धर्म है। छत्र से उपाधि भी बढ़ती है और शारीरिक हानि भी होती है। लोग शरीर पर धूप सहना भले ही दुःख समझते हों, लेकिन ज्ञानी इससे नहीं घबराते। क्योंकि धूप शरीर का नाश नहीं करती। वैसे तो अति सब जगह हानि करती है, लेकिन साधारणतया सूर्य की धूप से शरीर को ताजा खून मिलता है। शरीर में धूप के जो परमाणु घुसते हैं वे जीवन देते हैं और शक्ति बढ़ाकर रोग से बचाते हैं। प्रत्यक्ष देखो, उस वृक्ष का विकास वैसा अच्छा नहीं होता जिसे धूप न लगती हो। इसके विरुद्ध जिस वृक्ष को धूप लगती है, उसका विकास अच्छा होता है। जैसे वृक्ष की वृद्धि और विकास में धूप की जरूरत है, उसी तरह मनुष्य के लिए भी जरूरत है। संसार के लोग प्रकृति से लड़ाई करके प्रकृति को रोकना चाहते हैं, लेकिन साधु प्रकृति से लड़ाई नहीं करते और इसी कारण विहार के समय वे छत्र आदि नहीं लगाते। छत्र का उपयोग न करने से उनमें तेज बढ़ता है। सूर्य की किरणें लगने से तेज की वृद्धि होती है। यह बात दूसरी है कि जिसका जैसा तेज है, उसका वैसा ही तेज बढ़े। सूर्य की किरणों से आक के पेड़ में आक के फल लगते हैं और आम्रवृक्ष में आम्रफल लगते हैं। चोर को चोर की–सी शक्ति मिलती है और साधु को साधु की–सी शक्ति मिलती है।

छत्र धारण करने से एक हानि और है। वह यह कि छत्र लगाने से अहंकार बढ़ता है। इस अहंकार से बचने के लिए भी साधु छत्र नहीं लगाते।

प्रश्न होता है कि जब सामान्य साधु को भी छत्र धारण करने की मनाही है तो अरिहंत भगवान्, जो साधु ही हैं, तीन छत्र के धारक क्यों कहलाते हैं? अष्ट प्रातिहार्य का वर्णन करते हुए कहा है –

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरमासनंच।
भामंडलं उन्दुभिश्चातपत्रं, अष्ट प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।

बड़े–बड़े आचार्यों ने अरिहन्त भगवान् का गुणगान करते हुए कहा है :–

छत्रत्रयं तव विमाति शशांक कान्त–
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकर जाल विकृद्ध शोभम्,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।

अर्थात् हे प्रभो ! चन्द्रमा के समान सुन्दर और सूर्य की किरणों को भी स्थगित कर देने वाले तीन छत्र आपके त्रिलोकीनाथपन को प्रकट करते हैं। आपके वे तीनों छत्र आकाश में रहते हैं और आपके ऊपर छाया किये रहते हैं। उनमें मोतियों की झालर लगी हुई है, जिनसे उनकी शोभा और भी बढ़ गई है। वे तीन छत्र प्रकट करते हैं कि भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं।

इस प्रकार जब अरिहंत भगवान् के भी छत्र होते हैं, तो उनके साधुओं के लिए छत्र लगाना क्यों माना है?

भगवान् के इन छत्रों का आश्रय लेकर ही यतियों, श्रीपूज्यों ने भी छत्र लगाना आरंभ कर दिया। वे कहने लगे– जब भगवान् के छत्र थे, तब हम उनकी गादी पर बैठकर छत्र क्यों न लगावें? लेकिन हमें यह देखना चाहिए कि भगवान के छत्र का उदाहरण लेकर साधुओं के लिए छत्र लगाना ठीक हो तो फिर गौतम और सुधर्मा आदि मुनियों ने भी छत्र क्यों नहीं लगाया? उन्हें अछत्र कहा गया है, फिर भगवान् के छत्र का नाम लेकर छत्र लगाना कैसे उचित कहा जा सकता है?

अब यह भी देखना चाहिए कि भगवान् अरिहंत के छत्र क्यों थे? इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यो का कथन है कि तीर्थकर पद किसी का दिया हुआ नहीं है। बीस स्थानकों का सेवन करने से यह पद प्राप्त होता है। भगवान् महावीर ने कहां–कहां और कैसा–कैसा तप किया था, इसके लिए कहा गया है कि उन्होंने कौटिल्य मुनि के भव में एक करोड़ वर्ष तक मास–मास खमण का तप किया था। फिर नन्द राजा के भव में लाख वर्ष तक मास–मास खमण तप किया था। इस प्रकार बीस बोलों में उत्कृष्ट रसायन आने से तीर्थकर पद की प्राप्ति हुई। उनके लिए कहा है –

पूरव भव वर थानक तप करि, तेणे बांध्यौ जिन नाम।
चौंसठ इन्द्र--पूजित ते जिनवर करिये तास प्रमाण।
रे भवियन! सिद्धचक्र पद वन्दौ।।

इस तरह का तप आदि करने के कारण वे तीर्थंकर हुए हैं और छत्र धराते हैं। वे छत्र धराते हैं, इसी तरह चौंसठ इन्द्र उनकी सेवा करने के लिए भी आते हैं, लेकिन उनका उदाहरण लेकर दूसरे जो जोग छत्र धराते हैं, उनकी सेवा करने के लिए कितने इन्द्र आते हैं? इसके अतिरिक्त तीर्थंकर तीन ज्ञान सहित उत्पन्न होते हैं, अतः उनके सब काम नियमित होते हैं। कितने दिन घर पर रहना, कब दीक्षा लेना आदि सब काम समय पर ही होते हैं। क्या और किसी छत्र धारण करने वाले के काम भी इसी तरह नियमित हो सकते हैं? गौशालक ने भी आर्द्रकुमार से इसी तरह कहा था कि महावीर छत्र धराते हैं। उसके इस कथन का जो उत्तर दिया गया उसका तथा इस सम्बन्ध की अन्य बातों का वर्णन सूयगडांग सूत्र में है।

तीर्थंकर जब केवलज्ञानी होते हैं तब छत्रादि स्वयं प्रकट होते हैं। केवलज्ञानी हो जाने पर भी पुण्य का जो फल भोगना शेष रह गया, उसके कारण ही छत्रादि प्रकट होते हैं। लेकिन भगवान् को छत्र की चाह नहीं होती। उनके पुण्य के प्रताप से ही वे छत्रादि प्रकट होते हैं, जिससे सारा जग यह जानता है कि ये छत्रादि तप का प्रभाव हैं। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान् किसी का दिया छत्र धारण नहीं करते। किसी का दिया छत्र धारण करने से तो धारण करने वाला बड़ा नहीं कहलाता, किन्तु देने वाला ही बड़ा कहलाता है। आज भी साधु यदि विहार कर रहा हो और कोई बादल का टुकड़ा आकर उस पर छाया कर दे तो साधु को दोष नहीं लगता। हां, घाम से बचने के लिए वह कृत्रिम छाया करे तो दोष होगा। जैसे अकृत्रिम छत्र भगवान् के ऊपर था, उसी तरह का यदि किसी के ऊपर प्रकट हो जाय तो हम उसे साधु ही नहीं, किन्तु त्रिलोकीनाथ मानने को तैयार हो जाएं।

साधुजन छाया आदि के लिए कृत्रिम छत्र से बचे रहें, यह बताने के लिए ही शास्त्र में कहा गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि अछत्र रहते थे। वे मुक्ति प्राप्त करने के लिए अछत्र रहते थे। शास्त्र के इस वर्णन से समझना चाहिए कि जो मुक्ति का इच्छुक होगा, वह छत्र धारण नहीं करेगा। छत्र न लगाना जैन साधु की बाह्य पहचान भी है। आप किसी को छाता लगाये देखकर सरलता से जान सकते हैं कि यह जैन साधु नहीं है। जो जैन साधु होगा, वह छाता नहीं लगाएगा।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि के लिए आगे कहा गया है कि वे अनुपानह रहते थे, अर्थात् जूता नहीं पहनते थे। वे चमड़ा, रबर, वस्त्र आदि किसी भी चीज का बना हुआ जूता नहीं पहनते थे। आज कई साधु कहलाने वाले भी कपड़े का जूता पहन कर कहते हैं कि इनसे जीव थोड़े ही मरते हैं! फिर इन्हें पहनने में क्या हानि है? उन्होंने यही समझ रखा है कि जूता पहनना सिर्फ इसीलिए मना है कि उससे जीव मरते हैं! लेकिन सिर्फ जीवहिंसा से बचने के लिए ही जूता पहनने का निषेध नहीं है, वरन् और भी अनेक दृष्टियों से निषेध है।

पहली बात तो यह है कि जूता पहनना बन्धन में पड़ना है। जूता पहनने वाले को किसी समय जूता न मिले तो कितना कष्ट होगा? इसके अतिरिक्त सरलता जूता पहनने से रहती है, या जूता न पहनने से? यह बात उस समय देखो जब भागने का काम पड़े। किसी चोर आदि के आने पर आपको भागना पड़े तो आप जूता पहने हुए ठीक तरह से भाग सकते हैं या बिना जूता ! इस प्रकार वास्तव में जूता पहनने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी लोग जबरदस्ती जूता पहन कर अपनी शक्ति को रोकते हैं। रही कांटा लगने की बात, सो आप जूते के भरोसे बेफिक्र हो जाते हैं, इसलिए देखकर नहीं चलते। और इसी आदत के कारण जूता पहनने पर आपको भले ही कांटे न लगते हों, लेकिन साधु तो ईर्या समिति से चलते हैं। उन्हें जूता न पहनने के कारण कांटे कैसे लग सकते हैं?

जूता पहनना शारीरिक दृष्टि से हानिकारक है। इस विषय के अनुभवियों का कथन है कि जूता पहनने से पैर में जो पसीना होता है, वह बहुत दुर्गंध वाला होता है और हवा न लगने के कारण वह सूख नहीं पाता। अतएव वह फिर पैर में ही प्रविष्ट होता है और सिर तक उसका असर पड़ता है। परिणामतः रोग होते हैं। खुले पैर रहने वाले के पैर में पसीना नहीं होता। कदाचित् होता है तो हवा लगने से सूख जाता है। वह पैर में प्रविष्ट नहीं होता।

जूता पहनने से एक हानि और भी है। वैज्ञानिकों का कथन है कि पृथ्वी में एक तरह की बिजली होती है। नंगे पैर रहने से वह बिजली शरीर को लाभ पहुंचाती है। जूता पहनने वाले उस लाभ से वंचित रहते हैं। पृथ्वी की बिजली न मिलने के कारण जैसा चाहिए, वैसा स्वास्थ्य नहीं रहता। नंगे पैर रहने में लाभ ही है, मगर माता-पिता इस बात को न समझ कर बच्चे को मोजे, जूते आदि पहनाकर उसके पैर को इस प्रकार ढक देते हैं कि हवा भी

नहीं लगने पाती। इस प्रकार माता–पिता अपने बच्चे को खुली हवा से वंचित रखकर उसका स्वास्थ्य खराब करते हैं। अगर जूता पहनने से कोई वास्तविक लाभ होता तो साधु को जूता पहनने की मनाही न होती।

जूता पहनने से अभिमान भी होता है। साधु अभिमान बढ़ाने वाली सभी चीजें त्याग चुके हैं, इसलिए जूते भी नहीं पहनते।

पहले के लोग सादे जूते पहनते थे, लेकिन आजकल 'बूट' चल गये हैं। बूट पहनने पर सादे जूतों की अपेक्षा अधिक अभिमान होता है। पहले का सादा जूता भी खुली एड़ी का होता था, जिससे पैरों में उतना पसीना नहीं आता था, जितना आजकल के जूते पहनने पर आता है। लोग उलटी प्रगति कर रहे हैं!

आजकल कतिपय साधु कहलाने वाले भी विगड़ कर कहते हैं– अगर कपड़े के जूते पहन लिये तो क्या हानि है? यद्यपि कपड़े के जूतों में कुछ हवा लगती रहती है, लेकिन साधु के लिए तो किसी भी प्रकार के जूते पहनने का निषेध है। चाहे उससे जीवहिंसा न होती हो, मगर परतंत्रता से बचने के लिए भी साधु जूता नहीं पहन सकता। जूता पहनने या न पहनने में मुख्य प्रश्न कीड़ी–मकौड़ी की हिंसा का नहीं है; क्योंकि साधु तो सदा ही ईर्या देखकर चलता है। अगर ईर्या समिति से न चले और जीवहिंसा हो, तो भी वह विराधक माना जाता है। अगर ईर्या समिति से चल रहा हो, फिर भी अकस्मात् कोई जीव आकर पैर के नीचे दबकर मर जाय तो साधु विराधक नहीं माना जाता।

इस प्रकार जैन साधु की एक प्रकट पहचान छाता–जूता न होना है। अर्थात् जैन साधु छाता भी नहीं लगाते और जूता भी नहीं पहनते। किसी छाते या जूते वाले को देखकर आप सहज ही समझ सकते हैं कि यह जैन मुनि नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिन चीजों से अहंकार उत्पन्न होता है, उनका त्याग करना चाहिए। आपको भी अभिमान बढ़ाने वाली वस्तुओं का त्याग करना चाहिए। अभिमान त्यागने के लिए आप अपने गुरुओं की चर्या पर ध्यान दीजिए। उन्होंने अभिमान छोड़ने के लिए छाता त्यागा, जूता पहनना छोड़ दिया। आप उनके शिष्य होकर क्या तनिक भी अभिमान नहीं त्याग सकते?

कालास्यवेपिपुत्र मुनि ने भूमिशय्या स्वीकार की थी। शान्ति प्राप्त करने के लिए बड़े–बड़े राजा–महाराजा भी दीक्षित होकर पलंग आदि की कोमल सेज छोड़कर भूमिशय्या स्वीकार करते थे। कहा भी है –

रंग–महल में पोढ़ता कोमल सेज बिछाय।
अब सोवे वे भूमि पर कंकर गड़े तन मांय।
वे गुरु मेरे उर वसो।

जो लोग फूलों की सेज पर सोते थे और फूल की एक पंखुड़ी भी ऊंची–नीची रह जाती तो जिन्हें चुभती थी, वही साधु होने पर भूमि पर सोते हैं। बल्कि फूलों की शय्या पर सोने में जितना आनन्द मानते थे, उससे भी अधिक आनंद उन्हें भूमि पर सोने में और कंकर चुभने में मालूम होता है।

अपने–आप को ढीला बनाना चाहोगे तो ढीले बन जाओगे और मजबूत बनाना चाहोगे तो मजबूत बन जाओगे। मजबूत बनाने पर आत्मा वज्र के समान बन जाता है। यह बात प्रायः सभी अपने–अपने अनुभव से समझ सकते हैं।

तरावली गढ में एक धनवान् महाजन थे। वे अफीम खाते थे। संयोगवश किसी सरकारी जुर्म में आ गये। जेल जाना पड़ा। घर पर रहते थे तो अफीम का कसुंबा बनाकर पीते और ऊपर से कुछ खाते–पीते। लेकिन जेल में अफीम नहीं दी जाती थी। अफीम न मिलने से उनके हाड़ टूटने लगे। उन्होंने जेल के जमादार से कहा– मेरे हाड़ टूट रहे हैं। किसी भी तरह अफीम ला दो। जमादार ने कहा– आज मैं चोरी से ला दूं तो भी हमेशा कहां मिलेगी? कदाचित् तुम्हारे घर से आती भी रही, लेकिन कभी पकड़े गये तो क्या हालत होगी? इसलिए जिस प्रकार हो सके, अफीम को भूल ही जाओ। सेठ ने कहा– यह कैसे हो सकेगा? बहुत पुरानी आदत है। जमादार ने कहा– बस, मन को मजबूत कर लो। मन को समझालो। मन को समझा लेने से अफीम की याद भी नहीं आएगी।

सेठ ने जमादार की बात मान ली और मन मजबूत बना लिया। वह अढ़ाई या तीन वर्ष तक जेल में रहा। वहां के सब काम भी करता रहा, मगर फिर अफीम याद न आई। लेकिन जैसे ही जेल से छूटा और घर पहुंचा कि कहा– लाओ अफीम! जेल में मन को दृढ़ किये रहा तो अफीम के बिना काम नहीं रुका। जेल से बाहर निकलते ही मन ढीला हो गया तो अफीम की आवश्यकता पड़ गई।

मन की दृढ़ता और शिथिलता के लिए यह उदाहरण है। जैसे जेल में उस महाजन ने मन को मजबूत कर लिया था, उसी तरह कोमल सेज पर सोने वालों ने भी मन को मजबूत बना लिया था। इसी कारण भूमिशय्या में और कंकर चुभने में भी वे आनन्द मानते थे।

आप भी उन महात्माओं की तरह मन को समझाओ। मन को दृढ़ करने पर किसी प्रकार की अशान्ति नहीं रह सकती। कालास्यवेषिपुत्र मुनि भी जब घर में होंगे तो कोमल सेज पर सोते होंगे, लेकिन अव वे भूमि पर सोते हैं और कंकर–पत्थर चुभने पर आनन्द का अनुभव करते हैं।

यह शरीर पृथ्वी का बना है, पार्थिव है। इसमें मिट्टी का भाग अधिक है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है– 'सरीरं पाढवं हिच्चा' अर्थात् यह शरीर पृथ्वी का बना हुआ है। जब यह पृथ्वी से बना है तो पृथ्वी से ही वैर करना कहां तक ठीक है?

आप साधु के लिये बढ़िया पलंग ला सकते हैं, जिस पर सोने से न कंकर–पत्थर चुभें, न और किसी प्रकार की तकलीफ हो। लेकिन महात्मा सोचते हैं कि जब हम गृहस्थावस्था में थे, तब हमने पृथ्वी से वैर किया। अपने और पृथ्वी के बीच में खाट का व्यवधान रक्खा। पृथ्वी से दूर पड़े रहे। यह पाप अब मिटाना चाहिये। जिससे शरीर उत्पन्न हुआ है और अन्त में जिसमें मिल जायगा, उससे दूर–दूर रहने की क्या आवश्यकता है? उससे यह वैरभाव क्यों रक्खा जाय? हमारे लिये तो 'यही रम्या शय्या' अर्थात् भूमि ही उत्तम और रमणीय शैया है। पृथ्वी ही सबसे मधुर है। संसार के समस्त मधुर पदार्थ इसी से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार का विचार करके साधुजन भूमि पर सोते हैं और कंकर–पत्थर चुभने पर आनन्द मानते हैं।

'आरोग्यदिग्दर्शन' पुस्तक में पढ़ा है कि किसी को सांप का विष चढ़ा हो और उसे मुंह खुला रहने देकर ताजा मिट्टी में दबा दिया जाय तो विष उतर जाता है। मिट्टी सांप का विष भी खींच लेती है। सांप के विष को इस प्रकार उतारने का प्रयोग किया गया है या नहीं, यह मालूम नहीं, मगर बिच्छू के विष को उतारने का प्रयोग तो किया गया है।

जिस मिट्टी में ऐसा गुण है, उस मिट्टी से वैर क्यों? साधु सोचते हैं कि जिससे यह शरीर बना और पला, उसी से वैर क्यों? महात्मा पुरुष शरीर और पृथ्वी के बीच का ही पर्दा दूर करने के लिये नहीं, बल्कि आत्मा और परमात्मा के बीच का पर्दा हटाने के लिये भी भूमिशयन करते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि भूमि पर सोते थे। भूमिशय्या के सिवाय वे फलकशय्या यानी पाट पर भी सोते थे।

प्रश्न हो सकता है कि सोने के लिये भूमि है तब पाट पर सोने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो कहीं की भूमि के

परमाणु खराब भी होते हैं, कहीं कीड़े–मकोड़े बहुत होते हैं। उन जीवों को पीड़ा से बचाने के लिये पाट पर सोना आवश्यक हो जाता है। पहली शय्या पृथ्वी ही है; मगर सब जगह की पृथ्वी एकसी नहीं होती। इसलिये उत्सर्ग और अपवाद, दोनों मार्ग कहे हैं। कहीं की पृथ्वी के परमाणु ऐसे बिगड़ जाते हैं कि वहां सोने पर निमोनिया आदि रोग हो सकते हैं। इस कारण कभी–कभी पाट पर सोना पड़ता है।

साधु फलकशय्या के सिवा काष्ठशय्या पर भी सोते हैं। विशेष तौर से गढ़े हुए काठ को फलक कहते हैं और जो काठ बिना गढ़ा होता है, उसे सोने के काम में लेना काष्ठशय्या है। मुनिजन बिना गढ़े, बिना छिले, काठ को भी बिछा कर सो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य के लिये कठोर शय्या बतलाई गई है। कठोर शय्या पर सोने से ब्रह्मचर्य के पालन में सुविधा होती है। कोमल शय्या ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य का घात करने में सहायक होती है।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार कभी भूमि पर सोते, कभी फलक (पाट) पर सोते और कभी–कभी काठ पर सोते थे। वे उस शान्ति को प्राप्त करने के लिये ऐसा करते थे, जिसके मिलने पर कभी अशान्ति होती ही नहीं है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ब्रह्मचर्य पालते थे। पहले जिन बातों का वर्णन किया गया है, वे सब ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायक हैं। पृथ्वी या पाट पर सोना, स्नान न करना, दातौन न करना, अछत्र और बिना जूते के विचरना, ये सब ब्रह्मचर्य के लिए ही करते थे। इनसे ब्रह्मचर्य की रक्षा और वृद्धि होती है। इसी वर्णन से ब्रह्मचर्य की शक्ति का भी पता लग जाता है। मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य की शक्ति होने पर कठिन बात भी सरल हो जाती है और कठोर वस्तु भी कोमल बन जाती है।

'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य का लाभ होता है। वीर्य शरीर का राजा और सब गुण देने वाला है। वीर्यवान पुरुष के लिए कोई वस्तु असाध्य नहीं रहती। वीर्यशाली पुरुष संसार में विजय प्राप्त करता है। वीर्यहीन जिंदे भी मरे हुए हैं।

आज बहुत–से लोग ब्रह्मचर्य का महत्त्व भूल गये हैं। इसी कारण बाल–विवाह आदि की रूढ़ियां उत्पन्न हुई हैं। संसार की अधिकांश बुराइयां ब्रह्मचर्य का महत्त्व न समझने के ही कारण हैं। लोग कहते हैं– भारत गरीब और दुःखी है। उसके पास धन नहीं है। उसे खाने को नहीं मिलता, मगर

ज्ञानी सब दुःखों के मूल में ब्रह्मचर्य की कमी देखते हैं। ब्रह्मचर्य होने पर ये सब दुःख मिट जाते हैं। ब्रह्मचर्य की शक्ति प्रकट करते हुए कहा गया है –

देव–दाणव–गंधव्वा, जक्ख–रक्खस–किन्नरा।
बंमयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति ते।।

देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं और कहते हैं– जो काम हमसे नहीं हो सकता, वह आप–ब्रह्मचारी करते हैं। इस प्रकार वीर्य की रक्षा करके ब्रह्मचारी बनना देवों के सामर्थ्य से भी बाहर है।

लोग देवों की पूजा करके उनकी शरण में जाते हैं, लेकिन शास्त्र कहता है– तुम ब्रह्मचर्य पालो तो देव तुम्हें नमस्कार करेंगे। तुम ब्रह्मचर्य को भूल गये, इसीलिए देव की शरण लेनी पड़ती है। तुम्हें देखकर देव हंसते हैं। सोचते हैं– कैसा पामर है यह! अगर इस ने ब्रह्मचर्य का पालन किया होता तो हम इसकी शरण में जाते और अब यह हमारी शरण में है!

ब्रह्मचर्य पालने के दो प्रकार हैं– व्यावहारिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य अर्थात् निश्चय नय का ब्रह्मचर्य। व्यावहारिक ब्रह्मचर्य में स्त्री का संग त्यागना पड़ता है और स्त्री–संग त्यागने के साथ ही उसकी सहायता एवं संरक्षा के लिए अमुक तरह के विकारजनक खान–पान का भी त्याग करना पड़ता है। लेकिन इस तरह का ब्रह्मचारी यह नहीं जानता कि इन सब का त्यागना कब ठीक है? यह न जानने के कारण कई तो स्वर्ग–सुख को ध्येय बनाकर त्यागते हैं, कोई संसार के और अधिक सुख भविष्य में पाने के विचार से त्यागते हैं, कोई–कोई मान–सम्मान एवं पूजा–प्रतिष्ठा पाने के खयाल से त्यागते हैं और कोई स्त्री–पुत्र आदि से होने वाली झंझटों से बचने के लिए त्यागते हैं। इस प्रकार के ब्रह्मचारी को शास्त्रकार 'अकाम ब्रह्मचारी' कहते हैं। मोक्ष के लिए जो ब्रह्मचर्य पाला जाता है वह सकाम ब्रह्मचर्य कहलाता है और मोक्ष के अतिरिक्त किसी भी दूसरी इच्छा से पाला जाने वाला ब्रह्मचर्य अकाम ब्रह्मचर्य कहलाता है। अकाम ब्रह्मचर्य से चौसठ हजार या कुछ कम–ज्यादा वर्षों के लिए कोई देव भले ही हो जाय, पर मोक्ष नहीं पा सकता। मोक्ष तो सकाम ब्रह्मचर्य से ही मिलता है।

कालास्यवेपिपुत्र मुनि सकाम ब्रह्मचर्य पालते थे और जिस प्रयोजन के लिए वे ब्रह्मचर्य पालते थे, उस प्रयोजन के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखने वाले सब नियमों का पालन किया।

आत्मा के ब्रह्म में चरने यानी विचरने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला निश्चय–रूप ब्रह्मचर्य पालता है। आत्मा के स्वरूप में रमण करने के लिए पाला जाने वाला ब्रह्मचर्य ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। इस तरह से ब्रह्मचर्य पालने वाले का चित्त शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श की ओर जाता ही नहीं है। ऐसा ब्रह्मचारी वासना को ही मार डालता है। उसका चित्त किसी प्रकार की वासना की ओर नहीं दौड़ता। उसका चित्त निश्चल हो जाता है। कल्पना कीजिए कि कोई यह निश्चय करले कि मैं जूठा नहीं खाऊंगा, तो फिर उसके सामने कैसे भी जूठे पदार्थ आवें और उनका कुछ भी न बिगड़ा हो, तब भी उसका मन उन्हें खाने का नहीं होगा। वह उन पदार्थो को अखाद्य समझेगा और कुत्तों एवं कौओं का ही खाद्य समझेगा। चाहे कोई उसे कितना ही मारे, पीटे, कष्ट दे, परन्तु वह जूठे पदार्थ नहीं खाएगा। उसमें व्यवहार की यह उत्तम प्रकृति है, इसी से वह नहीं खाता। ज्ञानी पुरुष की निश्चय में ऐसी ही उत्तम प्रकृति बन जाती है। इसलिए वे सोचते हैं, 'ये सांसारिक पदार्थ मेरे और दूसरों के जूठे हैं, वमन किये हुए हैं, इसलिए मैं इन्हें नहीं खा सकता।' जैसे जूठे या वमन किये हुए पदार्थ को न खाने का निश्चय करने वाले की तबीयत उन पदार्थों की ओर नहीं जाती, उसी प्रकार ज्ञानी की तबीयत भी संसार के किसी पदार्थ की ओर नहीं जाती। वे आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों को वमन–रूप मानकर उनसे विमुख ही रहते हैं। इस भावना के साथ ब्रह्मचर्य पालने वाले निश्चय ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार इसी तरह का ब्रह्मचर्य पालते हैं और ब्रह्मचर्य पालने के साथ ही परघर–प्रवेश भी करते हैं। वे अनगार हैं, उन्होंने अपना घर छोड़ दिया है, लेकिन भिक्षा के लिए पराये घर में प्रवेश करते हैं। स्वमानधनी के लिए अपना घर छोड़कर पर के घर में भिक्षा के लए जाना बहुत कठिन मालूम होता है और इस कठिनाई को न सह सकने के कारण कई आत्मा संयम–मार्ग त्याग कर भ्रष्ट हुए हैं। मगर ज्ञानीजनों का कहना है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य को जान लिया है और आत्मा को संयमी बना लिया है, उन्हें भिक्षा के लिए दूसरे के घर में प्रवेश करने में लज्जा, भय या संकोच नहीं होता। संयम के लिए परगृह–प्रवेश करने में और असंयम के लिए परगृह–प्रवेश करने में आकाश–पाताल का अन्तर है। चोरी, जारी आदि किसी लालसा से पराये घर में जाना संसार में भ्रमण करना है। इससे जीव संसार में अनेक योनियों में भटकता है। लेकिन संयम के लिये परकीय में

प्रवेश करना संसार का अन्त करना है। वैसे तो आत्मा को शरीर–प्रवेश भी त्यागना है, लेकिन पूर्वोपार्जित कर्मों के मल को धोने के लिये पर घर में प्रवेश करना पड़ता है। कोई किसी से कर्ज मांगता हो और देनदार उसके घर जाकर कर्ज चुका आवे तो वह इज्जतदार समझा जाता है। जिसके घर जाकर कर्ज चुकाया जाता है, वह भी चुकाने वाले को प्रतिष्ठित समझता है। इसी प्रकार महात्मा लोग कर्मरूपी कर्ज चुकाने के लिये पराये घर में प्रवेश करते हैं। वे कहते हैं– मैं खुली रीति से दूसरों के घर में जाऊंगा, फिर चाहे कोई रोटी दे या थप्पड़ मारे।

श्रावक लोग हम से कहते हैं। :–

ओ स्वामी! कोई वेरावे थाने लाड़वा, ऊपर बूरा ने खीर।
ओ स्वामी! कोई वेरावे सूखा टुकड़ा, थें तो मत होजो दिलगीर।
ओ स्वामी! अरज सुनो श्रावक तणी।।

किसी घर में जाने पर भिक्षा मिले या न मिले, मगर साधु को हर्ष–विषाद नहीं करना चाहिये। उन्हें विचारना चाहिये कि 'मैं केवल रोटी के टुकड़े के लिये ही परघर में प्रवेश नहीं कर रहा हूं। रोटी तो शरीर निभाने के लिये चाहिये। शरीर को नष्ट नहीं करना है। लेकिन नहीं मिली तो भी क्या हर्ज है? अपनी तो सहज ही तपस्या हो गई।'

साधु की परीक्षा भिक्षा में हो जाती है। जैसे व्यापारी के लड़के की परीक्षा परदेश में होती है, उसी तरह साधु की पहचान परघर–प्रवेश में हो जाती है। इसी अवसर पर स्त्री के परीषह का सामना करना पड़ता है। उसी समय दुराचारिणी स्त्री का कष्ट हो सकता है। क्षुधा और तृषा परीषह सहने की क्षमता भी उसी समय मालूम होती है। भूख से पेट की आंतें कुनमुना रही हैं, प्यास से गला सूख रहा है, तब समभाव से इन कष्टों को सहना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन होता है। आक्रोश परीषह भी परगृह–प्रवेश के समय होता है। किसी के यहां भिक्षा के लिये गये। वह कहने लगा– ऐसा हट्टा–कट्टा मुस्टंडा है, कमा कर क्यों नहीं खाता? भीख मांगते लाज नहीं आती? कोई–कोई तो लकड़ी आदि भी मार देते हैं। सुना है कि पंजाबी साधु केशरीसिंहजी एक सिक्ख के घर भिक्षा के लिये गये। वे उसके घर में प्रवेश कर रहे थे कि उसे बड़बड़ाते सुनकर लौट पड़े। यद्यपि वे वापस लौट पड़े थे, फिर भी उस सिक्ख ने उन्हें कुल्हाड़ी मार दी। यह बात अलग है कि संयोगवश वे कुल्हाड़ी से बच गये और सिर्फ साधारण चोट आई। इस प्रकार

का परीषह भिक्षा के लिये जाने पर ही होता है। भिक्षा के लिये न जाने पर यह कैसे मालूम हो कि मुनि में इन परीषहों को सहन करने की क्षमता है या नहीं?

अर्जुनमुनि अगर भगवान् महावीर के पास ही बने रहते, भिक्षा के लिये न जाते तो उन्हें उतने परीषह क्यों होते? उन्हें जो विकट परीषह सहने पड़े, वे भिक्षा के लिये जाने पर ही हुए। भगवान् महावीर के पास रहते हुए नहीं। भिक्षा में होने वाले परीषह सहने के लिये ही वे भिक्षा के लिये गये थे। ऐसा करके उन्होंने पांच महीने और तेरह दिन में जो तीव्र कर्म बांधे थे, उन्हें छह माह में ही क्षय कर दिया। वे अगर परघर में प्रवेश न करते, लाभ और अलाभ में सन्तोष मानते, तो कर्म खपाने में न जाने कितना काल लगाना पड़ता।

भिक्षा सम्बन्धी नियम और–और ग्रंथों में भी बतलाये गये हैं। परन्तु वे केवल ग्रंथों में ही हैं, आचरण में नहीं देखे जाते। भर्तृहरि के गीत में इस प्रकार गाते हैं –

रहो तो राजाजी रसोई करूं जमता जाओ स्वामी नाथ।
खीर के निपजाऊं क्षण एक सी जमिये आपण साथजी।।
जंगल जगायो रे जोगिये तजी तनड़ा नी आस।
बात न गमे आ विश्वनी आठों पहर उदास।।
जंगल बसायो रे जोगिये।
आहार कारण ऊभो रहे कहां एक नी आस।
ते जोगी नहीं भोगी जाणजो अंत होसी विनास।।जंगल।।

भर्तृहरि का यह गीत गाया तो जाता है, परन्तु पाला नहीं जाता। इसमें कहा गया है कि भर्तृहरी अपने महल में भिक्षा के लिये गये थे। उनकी रानी पिंगला ने उन्हें पहचान लिया और कहा– आप ठहरो, मैं आपके लिये रसोई बनाती हूं। जीम कर जाना। आप यहां से भूखे जाएं, यह अच्छा नहीं। मैं आपके लिये उत्साह से खीर बनाऊंगी और रुचि के अनुसार दूसरा भोजन तैयार करूंगी। देर नहीं लगने दूंगी। आप जीम कर जाइये।

गीत में कहा है– पिंगला की इस अभ्यर्थना के उत्तर में भर्तृहरि ने कहा– जो एक के घर के आहार की आशा में खड़ा रहता है कि यह भोजन बनाए तब मैं ग्रहण करूं, तो वह जोगी नहीं, भोगी है। ऐसे जोगी का अन्त में अकाज होता है, अर्थात् वह संसार में फिर फंस जाता है। इसलिए मैं तुम्हारी अभ्यर्थना स्वीकार नहीं कर सकता।

जो लोग खान–पान के लालच में पड़ जाते हैं, वे थोड़े ही दिन में गिर जाते हैं। इसीलिये कहा है कि परघर–प्रवेश करके मिलने या न मिलने पर जो समान आनन्द मानते हैं, वही साधु ठीक रह सकते हैं। जो लोग सिर्फ भिक्षा के लिये ही फिरते हैं, वे भिक्षा न मिलने पर अड़ भी जाते हैं। कहते हैं– जब भी भिक्षा मिलेगी, लेकर ही जाऊंगा! लेकिन इस प्रकार की भिक्षा मोक्ष के लिये नहीं है।

साधुओं को भिक्षा लेने में कष्ट होता है, लेकिन आप अपना घर छोड़कर परदेश जाते हैं, वहां आपको भी कष्ट सहने पड़ते होंगे। किसी तरह की खुशामद भी करनी पड़ती होगी। लेकिन वह सब लोभ के लिए है। किसी भी अवस्था में क्यों न हो, लाभ–अलाभ में समान भाव रखना सीखो। अलाभ होने पर यह विचार करना चाहिए कि हमारे गुरु तो लाभ–अलाभ में समता रखते हैं, तो हम भी समता क्यों न रखें? ऐसा विचार कर संतोष रखने को सहज संतोष कहते हैं। कल्पना कीजिए, किसी के यहां किसी की मौत हो गई। वह घर वाला उसका मरना नहीं चाहता था, लेकिन मृत्यु हो गई। ऐसे समय में यह विचार कर सन्तोष करना चाहिये कि मरना–जीना अपने हाथ की बात नहीं है। जब ऐसा प्रसंग आ ही गया है तो शोक, विलाप या संताप करने से क्या लाभ है? मृत जीव वापस तो लौट नहीं सकता। ऐसा सहज संतोष रखने से ज्ञान होगा। भाग्य में होगी तो गई हुई चीज संतोष वाले को मिल जायगी, लेकिन रोने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। बल्कि रोने से सात या आठ कर्म चिकने बंधते हैं और संतोष करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अतएव सहज संतोष लाने से आनन्द ही होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने पंच महाव्रत का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करके जिस प्रयोजन के लिये नग्नभाव और मुण्डभाव ग्रहण किया था, वह प्रयोजन सिद्ध किया। जिस कार्य को सिद्ध करने के लिये उन्होंने बाहर की पूर्वोक्त क्रिया–विधि स्वीकार की थी, वह कार्य सिद्ध हो गया।

यों तो अस्नान और अदन्तधावन आदि के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन ऊपरी बातों में क्या रखा है? मुक्ति के साथ इनका क्या सम्बन्ध है? लेकिन शास्त्र कहता है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने मुक्ति के लिये ये सब क्रियाएं पाली थी। वैसे तो यह बात शास्त्र की है, लेकिन किसी जिज्ञासु–बुद्धि वाले के सामने युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करके बताना कठिन होता है कि इन बातों से मुक्ति का क्या सम्बन्ध है? यों अदन्तधावन और अस्नान आदि बाहरी बातें छोटी हैं, लेकिन इन व्यावहारिक बातों का

पालन करने से निश्चय में भी सिद्धि होती है। जो लोग कहते हैं कि इन साधारण, ऊपरी बातों में क्या धरा है, उन्होंने इनका महत्त्व नहीं समझा। जो इन बातों का महत्त्व समझेंगे, वे ऐसा नहीं कहेंगे। अगर कोई बात अधिक समझ में न आवे तो इतना ही समझ रक्खो कि जो बात भगवान् ने कही है और सुधर्मा स्वामी ने शास्त्र में गूंथी है, वह सत्य है। यह बात अलग है कि भगवान् की कही बात का पालन न हो सके, यह मेरी निर्बलता है, मगर उनकी कही हुई बात असत्य नहीं हो सकती। ऐसा विचार करने में भी कल्याण है। ऐसा विचार करने वाले आज नहीं तो कल, सन्मार्ग पर आ जाएंगे।

परगृह–प्रवेश और लाभालाभ के पश्चात् कहा गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि उच्च–नीच ग्रामकंटक रूप बाईस परीषह सहन करते हुए भ्रमण करते हैं।

टीकाकार ने उच्च–नीच का अर्थ अनुकूल–प्रतिकूल किया है। उनका कथन है कि जो परीषह अनुकूल होते हैं, वे उच्च परीषह हैं और जो प्रतिकूल हैं, वे नीच कहलाते हैं। किसी राजा ने आकर साधु के सामने अनेक प्रकार की विभूति रखी और उसे स्वीकार करने की अभ्यर्थना की, यह अनुकूल परीषह है। जैसे श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि से कहा –

अहो वण्णो अहो रूवो अहो अजस्स सोमया।
अहो खंती अहो मुत्ती अहो भोगे असंगया।।

अनाथी मुनि का रूप देखकर श्रेणिक राजा भी आश्चर्य में पड़ गया था। आश्चर्य तभी होता है, जब कोई अनोखी बात देखी या सुनी जाय। जिस श्रेणिक का रूप देखकर दुनिया चकित रह जाती थी, वह श्रेणिक भी उन मुंडे सिर वाले, बिना मुकुट–कुंडल वाले मुनि को देखकर उनके रूप पर आश्चर्य प्रकट करता है। मुनि के यह कहने पर कि मैं अनाथ था, वह मुनि से कहता है– ऐं, आपके नाथ नहीं! अगर आपके नाथ नहीं था, आपकी बात सही है तो चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूं। अब और क्या बाकी है?

होमि नाहो भयंताणं, भोगं भुंजाहि संजया!
मित्त–नाइयरि बुडो माणुस्सं खु सुदुल्लहं।।

श्रेणिक ने कहा– हे भयभंजक! हे संयत! मैं आपका नाथ बनता हूं। आप अनाथ थे, और आपका कोई रक्षक नहीं था तो यह मगध–नरेश आपका नाथ बनता है। मैं आपसे सेवा लेने के लिए नाथ नहीं बनता, किन्तु आपका सुन्दर शरीर भोग भोगने योग्य है। अगर ऐसे–ऐसे पुरुष भी भोग न भोगें तो इस सौन्दर्य–रत्न के होने से लाभ ही क्या हुआ? आपका शरीर जैसा सुन्दर

जो लोग खान–पान के लालच में पड़ जाते हैं, वे थोड़े ही दिन में गिर जाते हैं। इसीलिये कहा है कि परघर–प्रवेश करके मिलने या न मिलने पर जो समान आनन्द मानते हैं, वही साधु ठीक रह सकते हैं। जो लोग सिर्फ भिक्षा के लिये ही फिरते हैं, वे भिक्षा न मिलने पर अड़ भी जाते हैं। कहते हैं– जब भी भिक्षा मिलेगी, लेकर ही जाऊंगा! लेकिन इस प्रकार की भिक्षा मोक्ष के लिये नहीं है।

साधुओं को भिक्षा लेने में कष्ट होता है, लेकिन आप अपना घर छोड़कर परदेश जाते हैं, वहां आपको भी कष्ट सहने पड़ते होंगे। किसी तरह की खुशामद भी करनी पड़ती होगी। लेकिन वह सब लोभ के लिए है। किसी भी अवस्था में क्यों न हो, लाभ–अलाभ में समान भाव रखना सीखो। अलाभ होने पर यह विचार करना चाहिए कि हमारे गुरु तो लाभ–अलाभ में समता रखते हैं, तो हम भी समता क्यों न रखें? ऐसा विचार कर संतोष रखने को सहज संतोष कहते हैं। कल्पना कीजिए, किसी के यहां किसी की मौत हो गई। वह घर वाला उसका मरना नहीं चाहता था, लेकिन मृत्यु हो गई। ऐसे समय में यह विचार कर सन्तोष करना चाहिये कि मरना–जीना अपने हाथ की बात नहीं है। जब ऐसा प्रसंग आ ही गया है तो शोक, विलाप या संताप करने से क्या लाभ है? मृत जीव वापस तो लौट नहीं सकता। ऐसा सहज संतोष रखने से ज्ञान होगा। भाग्य में होगी तो गई हुई चीज संतोष वाले को मिल जायगी, लेकिन रोने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। बल्कि रोने से सात या आठ कर्म चिकने बंधते हैं और संतोष करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अतएव सहज संतोष लाने से आनन्द ही होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने पंच महाव्रत का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करके जिस प्रयोजन के लिये नग्नभाव और मुण्डभाव ग्रहण किया था, वह प्रयोजन सिद्ध किया। जिस कार्य को सिद्ध करने के लिये उन्होंने बाहर की पूर्वोक्त क्रिया–विधि स्वीकार की थी, वह कार्य सिद्ध हो गया।

यों तो अस्नान और अदन्तधावन आदि के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन ऊपरी बातों में क्या रखा है? मुक्ति के साथ इनका क्या सम्बन्ध है? लेकिन शास्त्र कहता है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने मुक्ति के लिये ये सब क्रियाएं पाली थी। वैसे तो यह बात शास्त्र की है, लेकिन किसी जिज्ञासु–बुद्धि वाले के सामने युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करके बताना कठिन होता है कि इन बातों से मुक्ति का क्या सम्बन्ध है? यों अदन्तधावन और अस्नान आदि बाहरी बातें छोटी हैं, लेकिन इन व्यावहारिक बातों का

पालन करने से निश्चय में भी सिद्धि होती है। जो लोग कहते हैं कि इन साधारण, ऊपरी बातों में क्या धरा है, उन्होंने इनका महत्त्व नहीं समझा। जो इन बातों का महत्त्व समझेंगे, वे ऐसा नहीं कहेंगे। अगर कोई बात अधिक समझ में न आवे तो इतना ही समझ रक्खो कि जो बात भगवान् ने कही है और सुधर्मा स्वामी ने शास्त्र में गूंथी है, वह सत्य है। यह बात अलग है कि भगवान् की कही बात का पालन न हो सके, यह मेरी निर्बलता है, मगर उनकी कही हुई बात असत्य नहीं हो सकती। ऐसा विचार करने में भी कल्याण है। ऐसा विचार करने वाले आज नहीं तो कल, सन्मार्ग पर आ जाएंगे।

परगृह–प्रवेश और लाभालाभ के पश्चात् कहा गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि उच्च–नीच ग्रामकंटक रूप बाईस परीषह सहन करते हुए भ्रमण करते हैं।

टीकाकार ने उच्च–नीच का अर्थ अनुकूल–प्रतिकूल किया है। उनका कथन है कि जो परीषह अनुकूल होते हैं, वे उच्च परीषह हैं और जो प्रतिकूल हैं, वे नीच कहलाते हैं। किसी राजा ने आकर साधु के सामने अनेक प्रकार की विभूति रखी और उसे स्वीकार करने की अभ्यर्थना की, यह अनुकूल परीषह है। जैसे श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि से कहा –

अहो वण्णो अहो रूवो अहो अजस्स सोमया।
अहो खंती अहो मुत्ती अहो भोगे असंगया।।

अनाथी मुनि का रूप देखकर श्रेणिक राजा भी आश्चर्य में पड़ गया था। आश्चर्य तभी होता है, जब कोई अनोखी बात देखी या सुनी जाय। जिस श्रेणिक का रूप देखकर दुनिया चकित रह जाती थी, वह श्रेणिक भी उन मुंडे सिर वाले, बिना मुकुट–कुंडल वाले मुनि को देखकर उनके रूप पर आश्चर्य प्रकट करता है। मुनि के यह कहने पर कि मैं अनाथ था, वह मुनि से कहता है– ऐं, आपके नाथ नहीं! अगर आपके नाथ नहीं था, आपकी बात सही है तो चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूं। अब और क्या बाकी है?

होमि नाहो भयंताणं, भोगं भुंजाहि संजया!
मित्त–नाइयरि बुडो माणुस्सं खु सुदुल्लहं।।

श्रेणिक ने कहा– हे भयभंजक! हे संयत! मैं आपका नाथ बनता हूं। आप अनाथ थे, और आपका कोई रक्षक नहीं था तो यह मगध–नरेश आपका नाथ बनता है। मैं आपसे सेवा लेने के लिए नाथ नहीं बनता, किन्तु आपका सुन्दर शरीर भोग भोगने योग्य है। अगर ऐसे–ऐसे पुरुष भी भोग न भोगें तो इस सौन्दर्य–रत्न के होने से लाभ ही क्या हुआ? आपका शरीर जैसा सुन्दर

है, वैसे ही सुन्दर भोग भोगने को आप पा सकेंगे। आपका शरीर जैसे उत्तम है, उसी तरह भोग भी उत्तम हैं और जैसे भोग उत्तम हैं, वैसे ही आपका शरीर भी उत्तम है। घोड़ा और सवार, दोनों उत्तम हों तभी मणि–सुवर्ण संयोग कहलाता है। गधे के समान छोटे घोड़े पर उत्तम सवार भी शोभा नहीं पाता।

मेवाड़ में कहावत है– 'जैसे राणा प्रताप, वैसा ही उनका चेटक घोड़ा।' श्रेणिक कहता है, जैसे भोग हैं वैसे ही आप भोग भोगने योग्य हैं। अगर आप जैसे योग्य पुरुष भी भोग न भोगेंगे तो कौन भोगेगा? इसलिए आप मेरे राज्य में चलिये। मैं आप को उत्तम भोगों की सामग्री प्रस्तुत कर दूंगा और मित्र, जाति आदि भी सब ठीक कर दूंगा। मगध–नरेश आपका नाथ बनता है तो फिर किस बात की कमी रह सकती है?

राजा श्रेणिक का यह कथन और उत्तम भोग–सामग्री प्रस्तुत करने के लिये तैयार होना, मुनि के लिये अनुकूल परीषह है।

प्रश्न होता है कि श्रेणिक ने जो बातें कहीं, वे उसके लिये चाहे अनुकूल रही हों, वह इन बातों को चाहे उच्च समझता हो, लेकिन मुनि के लिये तो वे नीच ही हैं। अगर किसी मुनि के गले में रत्नों का कण्ठा डाल दो तो मुनि को वह सांप के समान लगेगा। मुनि के सामने कोई स्त्री हाव–भाव दिखलाती हो तो मुनि सोचेंगे कि आग में जलना अच्छा है, मगर ये हाव–भाव देखना अच्छा नहीं। अतएव मुनि के लिये ये सब बातें नीच ही हैं, फिर इनके द्वारा होने वाले परीषह को उच्च या अनुकूल परीषह क्यों कहा है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि महात्मा पुरुषों ने उच्च–नीच का भेद मिटा दिया है। उनके नजदीक न कोई उच्च है, न कोई नीच है। यह उच्चता एवं नीचता तो सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से कही है। मुनिजन कंचन और पत्थर को समान समझते हैं, लेकिन व्यवहार में तो ऊंच–नीच का भेद बताना ही पड़ता है। परीषहों के विषय में व्यावहारिक दृष्टि से ही भेद किया गया है।

किसी–किसी वस्तु में मन को आकर्षित करने की शक्ति होती है। जैसे, चन्दन से मन आकर्षित होता है और अशुचि से आकर्षित नहीं होता। इस प्रकार मन को आकर्षित करने वाली वस्तु का सामने आना, प्रलोभन उपस्थित होना उच्च परीषह है।

साधु पर कभी उच्च परीषह आते हैं, कभी नीच परीषह आते हैं। गजसुकुमार मुनि के सिर पर अंगार रख दिये गये थे और स्कन्धक मुनि की खाल उतार ली गई थी। इनसे बड़ा परीषह और क्या होगा? लेकिन उन

महापुरुषों ने उन परीषहों का भी निरादर नहीं किया। उन्होंने घोर कष्ट को भी सन्मान के समान समझा। इस प्रकार जिनकी ओर मन आकर्षित नहीं होता, फिर भी साधु के सन्मुख आते हैं, साधु को सहने पड़ते हैं, उन्हें प्रतिकूल परीषह कहते हैं।

उच्च–नीच का दूसरा अर्थ असमंजस भी है। असमंजस के अनेक प्रकार हो सकते हैं। विचारों का मूढ़ हो जाना भी एक प्रकार का असमंजस है। क्या करें, क्या न करें– इस बात का निश्चय न होना असमंजस है। असमंजस का परीषह भी बहुत बड़ा होता है।

जब मनुष्य किंकर्तव्यमूढ़ हो जाता है, उस समय कितना कष्ट होता है! यह बात वही जानता है, जिस पर बीतती है। लोक–व्यवहार की दृष्टि से महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन के सामने ऐसा ही असमंजस था। एक ओर वह सोचता था कि मेरे सामने लड़ने के लिए जो आये हैं, वे सब मेरे सम्बन्धी हैं, सब मेरे सज्जन हैं, दूसरी ओर ये सब दुर्योधन के साथी हैं। सज्जन होने के कारण ये सब मेरे द्वारा मारे नहीं जाने चाहिये, लेकिन दुर्योधन के साथी होने के कारण मारे जाने चाहिये। इस समय मेरा कर्तव्य क्या है? मुझे क्या करना चाहिए? यह समझ न सकने के कारण उसने धनुष्य फेंक दिया और रोने लगा। उसने कृष्ण से कहा– हे कृष्ण! चित्त की दुर्बलता से विचारमूढ़ हो गया हूं। मेरी वीरता–धीरता नष्ट हो गई है। इसलिए मैं आपसे धर्म पूछता हूं। आप बताइए, इस समय मेरा क्या धर्म है?

कृष्ण ने अर्जुन से कहा– हे अर्जुन! इस प्रकार की कायरता, क्षुद्रता और दुर्बलता तुझे नहीं सोभती। इन सब का त्याग कर उठ, खड़ा हो।

महाभारत के इस असमंजस के उदाहरण को हम भौतिक युद्ध में न ले जाकर इसके द्वारा यह बतलाना चाहते हैं कि इस प्रकार का असमंजस साधु के सामने भी उपस्थित हो जाता है। क्षुधा–तृषा आदि सहन करना इतना कठिन नहीं है, जितना असमंजस के समय किसी बात का निश्चय करना कठिन है।

ऐसे असमंजस के समय शान्त होकर महापुरुष की शरण में जाना उचित है। यदि बुद्धि शान्त और निर्मल होगी तो महापुरुषों के सिद्धान्त में से ही कोई ऐसी बात निकल आएगी, कोई ऐसा मार्ग दिखाई दे जाएगा, जिससे असमंजस दूर हो जाय। अथवा किसी योग्य सज्जन की शरण में जाकर निरनिमान भाव से उनके कथन को स्वीकार करना चाहिये। असमंजस दूर

करने के यही मार्ग हैं। असमंजस के समय परमात्मा की सहायता चाहने के लिये ही परमात्मा की स्तुति की जाती है।

यह विनती रघुवीर गुसाईं।
कठिन कर्म ले जाहिं मोहिं जहं तहं अपनी विरियाई।
तहं तहं जाति छिन छोह छाकिए कमठ अंड की नाईं
।यह वि.।
और आस विश्वास भरोसो हरौ जीव जड़ताई।
चाहौं न सुगति सुमति सम्पत्ति कछु रिधि–सिद्धि विपुल बड़ाई।।

भक्त कहते हैं– प्रभो! मैं तुम से सुगति, सुमति आदि कुछ नहीं चाहता। सिर्फ यह चाहता हूं कि कर्म की विचित्रता से मैं जहां कहीं भी जाऊं, वहां आपकी दृष्टि मुझ पर रहे।

कहा जाता है कि मगर और कच्छप अपनी दृष्टि से ही अपने अंडे पालते हैं। उनकी दृष्टि में न मालूम कैसा अमृत रहता है कि उनके अंडे उनकी दृष्टि से ही पल–पुस जाते हैं। अगर अंडों पर उनकी दृष्टि न रहे तो अंडे पोचे पड़ जाएं।

भक्त कहते हैं– प्रभो! जिस प्रकार मगर और कच्छप की दृष्टि उनके अंडों पर रहती है, उसी प्रकार मुझ पर आपकी दृष्टि रहे। मैं जहां– कहीं असमंजस में पड़ूं, आपकी दृष्टि से मुझे मार्ग मिल जाय।

असमंजस का परीषह कभी–कभी अनायास आ जाता है और कभी–कभी जान–बूझकर पैदा किया जाता है। जो काम आप ही असमंजस पैदा कर लेता है और उसे मिटाता नहीं है, उसके लिये समझना चाहिये कि जैसे मकड़ी अपने फंसने के लिये जाल फैलाती है, उसी तरह वह आप ही असमंजस पैदा करके अपने–आप को उसमें फंसाने का उपाय करता है। अनायास उत्पन्न असमंजस तो ज्ञानी के सिद्धान्त की शरण में जाने से, किसी सज्जन की कृपा से मिट ही जाता है, परन्तु जो जानबूझ कर उत्पन्न किया जाता है और जिसे मिटाने की इच्छा ही नहीं है, उस असमंजस का मिटना कठिन है। जिसमें इस प्रकार का असमंजस है, वह अपने को पतन की ओर ले जाता है। अतएव समझदार को इस असमंजस से बचना चाहिये और कभी कोई असमंजस उत्पन्न हो जाय तो उसे मिटाना चाहिये।

उच्च–नीच, ग्रामकंटक का वर्णन करते हुए कहा था कि असमंजस का परीषह भी बड़ा है। उच्च–नीच के आगे 'ग्रामकंटक' कहा है। इसका अर्थ क्या है, यह देखना है। शास्त्र के शब्दों का अर्थ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना

से होता है। आज अशिक्षा के प्रभाव से सब लोग लक्षणा और व्यंजना को नहीं समझते। इसी से बहुत–से लोग 'ग्रामकंटक' शब्द का सीधा अर्थ 'गांव का कांटा' लगाते हैं। मगर यह अर्थ यहां संगत नहीं है। अतएव यहां संगत अर्थ का विचार करना आवश्यक है।

'ग्रामकंटक' का अर्थ यहां लक्षणा वृत्ति से लिया जाए तभी संगत हो सकता है। जैसे 'गंगायाम् घोषः' इसका साधारण अभिधावृत्ति से अर्थ हुआ– गंगा में घोषियों की बस्ती है। लेकिन गंगा में बस्ती नहीं हो सकती, क्योंकि वहां गांव होगा तो बह जाएगा, रह नहीं सकेगा। अतएव इस असंगति को मिटाने के लिए लक्षणावृत्ति से अर्थ लिया जाता है– 'गंगा के किनारे घोष है।' अथवा 'मंचा क्रोशन्ति'। इसका अभिधावृत्ति से अर्थ होता है– 'मांचे चिल्लाते हैं।' लेकिन वास्तव में मांचे चिल्ला नहीं सकते, क्योंकि वे अचेतन हैं। अतएव लक्षणा से इस वाक्य का अर्थ यह होगा कि मांचे पर बैठे हुए लोग चिल्लाते हैं। इसी प्रकार 'ग्रामकंटक' शब्द का अर्थ भी लक्षणावृत्ति से ही समझना चाहिये। ग्राम का अर्थ इन्द्रियां हैं और उनके लिए जो कांटे के समान हो, वह 'ग्रामकंटक' कहलाता है। कांटा जहां चुभता है वहां खटकता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों को कांटे की तरह चुभता है, वह 'ग्रामकंटक कहलाता है। प्रतिकूल परीषहों को यहां 'ग्रामकंटक' कहा है। जिनकी ओर मन का आकर्षण नहीं होता, वे परीषह ग्रामकंटक हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है :–

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटगा, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेररणुबंधीणि महब्भयाणि।।

हे मुनियो! कांटे को सहना सरल है, लेकिन शब्द को सहना कठिन है। कैसा भी कांटा क्यों न लगा हो, ऐसी दवाएं मौजूद हैं कि मुहूर्त–भर में उसका दुःख मिट जाता है और शांति हो जाती है। यहां तक कि लोहे के बाण का कांटा लगा हो तो उसके लिये भी ऐसी दवा है कि उसे लगाने से मुहूर्त–भर में ही उसका घाव भर जाता है। इस प्रकार कांटे का कष्ट सहना कठिन नहीं हैं, लेकिन वचन का कष्ट सहना बहुत कठिन है। वचन के कांटे से उद्धार पाना मुश्किल है। वचन के कांटे को निकालना और उसका घाव पूरा करना बहुत कठिन है। वचन का कांटा नहीं निकलता तब वैर का अनुबंध करता है और न जाने कितने भवों तक वह चालू रहता है।

आज के बहुत–से लोग वचन के कांटे को नहीं समझते। आप लोग तो किसी पक्षी को भी एक कांटा नहीं लगाएंगे, कोई रुपया देने लगे तो भी

किसी को कांटा न चुभाओगे, लेकिन यह तो पूर्व–संस्कार का प्रताप है। यह आपके पूर्वजों के संस्कार का फल है। किसी मांसाहारी से किसी पक्षी को कांटा चुभाने के लिए कहा जाय तो वह बिना पैसे ही चुभा देगा और आनन्द मानेगा; लेकिन आप में इतनी दया है कि आप इस तरह कांटा नहीं चुभाएंगे। परन्तु बहुत–से लोग कांटा न चुभा करके भी वचन का कांटा इस तरह चुभा देते हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। संसार के वहुतेरे झगड़े शब्द के कांटे की बदौलत ही हैं। अगर शब्द के कांटे चुभाना वन्द हो जाय तो अधिकांश झगड़े मिट जाएं।

शब्द के कांटे चुभाना, एक प्रकार का लोगों की परंपरा का संस्कार बन गया है। दो लड़कियां लड़ती हैं। एक–दूसरी को रांड कहती हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि रांड किसे कहते हैं? लेकिन उनकी मां उन्हें रांड कहती है, इसलिये वे समझती हैं कि रांड कोई दुःख पहंचाने वाला शब्द है, तभी तो मेरी माता नाराज होने पर मुझे रांड कहती है। कदाचित् लड़की रांड का अर्थ नहीं जानती, पर मां तो जानती है कि जिसका पति मर जाता है, उसे रांड कहते हैं। जब मां रांड का अर्थ जानती है तब वह अपनी लड़की से ऐसा क्यों कहती है? माता कहेगी कि यह तो यों ही मुंह से निकल जाता है। मगर यों ही मुंह से निकल जाने का अर्थ यह है कि इस तरह कहना उनकी आदत हो गई है। इसी कारण मां अपनी लड़की को रांड, डाकिन रांड आदि कहती है!

इसी तरह लड़के गाली देना गर्भ में ही सीखकर नहीं आते, किन्तु घर में सीखते हैं। अपने बाप आदि के मुख से जैसी गालियां सुनते हैं, उन्हें याद कर लेते हैं और दूसरों को देने लगते हैं। वही गालियां आगे जाकर लोहे के बाण से भी भयंकर रूप धारण कर लेती हैं। अतएव अपनी और अपनी सन्तान के लिये गालियां देना छोड़ो। मुंह पर संयम रक्खो तो सभ्य भी कहलाओगे और करुणा का भी लाभ होगा। संसार का काम गाली देने से ही नहीं चलता है, वरन् बिना गाली दिये भी चल सकता है, और अच्छी तरह चल सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है :–

छप्पय (कवित)

जीभ जोग अरु भोग जीभ से रोग बढ़ावे,
जिभ्या से यश होय जीभ से आदर पावे।
जीभ करे फजहीत जीभ से जूता खावे,
जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुंठ पठावे।

अदल तराजू जीभ है गुण अवगुण दोउ तोलिये।
वैताल कहे विक्रम सुनो जीभ संभाल कर बोलिये।।

कोई देवता आपको स्वप्न दे कि तेरे दाहिने हाथ की ओर रत्नों की खान है और बाएं हाथ की ओर कोयले की। मान लीजिए, आपके हाथ में कुदाली भी आ गई। अब आप किस ओर कुदाली चलाने की इच्छा करोगे? रत्न की खान की ओर कुदाली मारना चाहोगे या कोयले की खदान की ओर? कोयलों की ओर कुदाली चलाई तो मुंह काला होगा। विज्ञान की दृष्टि से कोयले और हीरे के मूल परमाणु एक हैं, इसी तरह शब्द की दृष्टि से अच्छे और बुरे शब्द भी एक ही हैं। मगर एक जाति के होने पर भी जैसे कोयले और हीरे में अन्तर है, उसी तरह अच्छे शब्द और बुरे शब्द में भी अन्तर है। अच्छे शब्द रत्न के समान हैं और बुरे शब्द कोयले के समान हैं। भगवान् महावीर के शब्द देव के स्वप्न (शब्दों) के समान हैं। बल्कि देव छोटे होते हैं और भगवान् देवों के भी देव हैं। फिर क्या उनकी वाणी पर विश्वास नहीं करोगे? अपशब्दों का उच्चारण करना भी क्या श्रावकपन है? श्रावक के लिये पहले बोल में थोड़ा बोलना कहा है और दूसरे बोल में विचारपूर्वक बोलना बतलाया है। इस प्रकार बोलने में संयम रखना श्रावक का पहला कर्तव्य है। मगर आज यह भी सिखलाना पड़ता है।

मतलब यह है कि साधु को ग्रामकंटक भी सहने पड़ते हैं। ग्रामकंटक को उन्हें फूल बना लेना चाहिए। कालास्यवेषिपुत्र अनगार ग्रामकंटक को समभाव से सहते हुए विचरते थे। उन्होंने आत्म–ज्योति जगाने के लिये उच्च–नीच ग्रामकंटक रूप परीषह सहन किये।

जैसे लोगों को अपने पूर्वजन्म की बातें याद नहीं रहतीं, उसी तरह साधु को साधु होने से पहले की बातें याद नहीं रहनी चाहिये। ऐसा होने पर ही साधुपना रह सकता है। साधु को सभी प्रकार के कष्ट सहने के अनेकानेक प्रसंग उपस्थित होते हैं। उन्हें कभी भूखा रहना पड़ता है, कभी प्यासा रहना पड़ता है। ऐसे अवसर पर उन्हें वीर की भांति सोचना चाहिये कि मैं क्षुधा–तृषा पर विजय प्राप्त करूंगा। इसी तरह शीत–ताप का परीषह भी सहन करना चाहिये।

शीत पड़े कपिमद झड़े, दाझे सब वनराय।
ताल–तरंगिनी के निकट ठाड़े ध्यान लगाय।
वे गुरु मेरे उर बसो।

इतना पाला पड़ रहा है कि जंगल भी जल जाते हैं, वन्दरों का मद झड़ जाता है और सब जीव कष्ट पा रहे हैं। उस शीत के समय में भी जिनकल्पी मुनि किसी तालाब या नदी के तट पर ध्यान लगाकर खड़े हुए हैं। इस प्रकार के उच्च कोटि के महात्मा का साधु ध्यान रखें तो उन्हें शीत का परीषह पराभूत नहीं कर सकता।

शीत–ताप की तरह दंश–मशक, आक्रोश आदि के भी परीषह साधु को सहने पड़ते हैं। कई लोगों को साधु का वेष देखते ही ऐसा द्वेष उपजता है जैसे हाथी देखकर कुत्ते को। लेकिन जैसे हाथी, कुत्ते के भौंकने का विचार नहीं करता और अपनी मस्त चाल से चलता चला जाता है, उसी तरह साधु भी आक्रोश परीषह को जीतते हुए संयम–मार्ग पर चलते रहते हैं। अनेक मुनियों ने इस प्रकार के परीषह बहुत धैर्यपूर्वक सहन किये हैं। यहां तक कि शरीर नष्ट कर दिया गया, खाल खींच ली गई, मस्तक पर आग भी रखी गई, मगर उन्होंने उफ तक नहीं किया। 'चाहत जीव सबै जग जीवन' की भावना भाते रहे।

इस प्रकार की सहनशीलता रखने पर ही परीषह जीता जा सकता है। जो स्वयं परीषहों से पराजित नहीं होता, वही सच्चा साधु है।

पूज्य उदयसागरजी महाराज एक बार रतलाम में विराजते थे। वहां के एक मुसलमान ने सोचा कि ये महात्मा कहलाते हैं। इनकी परीक्षा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर वह पूज्यश्री को गालियां देने लगा। उसने पेट–भर गालियां दी। पूज्यश्री उस समय स्वाध्याय कर रहे थे। उस मुसलमान की गालियां सुन कर मुस्कराते ही रहे। जब वह गालियां देता–देता थक गया और पूज्य महाराज के चेहरे पर उसने एक भी सिकुड़न न देखी, तब वह उनके पैरों पर गिर पड़ा। कहने लगा– 'आप सच्चे महात्मा है।' उस समय रतलाम में सेठों का बहुत प्रभाव था। वे दूसरे राजा के समान थे। अगर पूज्यजी महाराज जरा–सा इशारा कर देते तो उस मुसलमान को मुसीबत में पड़ना पड़ता। महात्मा स्वयं सह लेते हैं, मगर दूसरे को कष्ट नहीं होने देते। कैसा भी घोर परीषह क्यों न आ पड़े, मुनि संवेग के साथ उसे सहन करते हैं। वे परीषह–जयी हैं।

साधारणतया परीषह को ही उपसर्ग कहते हैं, क्योंकि वे धर्म से च्युत होने के कारण बन जाते हैं, मगर विशेष की विवक्षा से परीषह और उपसर्ग को अलग–अलग भी गिन सकते हैं। परीषह बाईस होते हैं और उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं– देवकृत उपसर्ग, मनुष्यकृत उपसर्ग और तिर्यंचकृत

उपसर्ग। देव भी संयम से विचलित करना चाहते हैं, मनुष्य भी विचलित करना चाहते हैं और तिर्यंच भी विचलित करना चाहते हैं। लेकिन उनके दिये हुए उपसर्गों को वीर-धीर भाव से सहन करना ही साधुत्व है।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने जिस प्रयोजन के लिये परीषह और उपसर्ग सहन किये थे, अन्त तक उस प्रयोजन को पूरा किया। यह सब मोक्ष के लिए ही उन्होंने सहन किया था और वह मोक्ष अन्त में उन्हें प्राप्त हो ही गया। ऐसे महात्मा धन्य हैं।

मोक्ष कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता। मोक्ष आत्मा में ही है और आत्मा की ही एक अवस्था है। लेकिन आत्मा अज्ञान और बहम के कारण उसी तरह बन्धन में पड़ रहा है, जिस तरह स्वप्न में आदमी सर्प, सिंह आदि से दुःख पाता है। जब स्वप्नकाल का बहम मिट जाता है, तब वह दुःख भी नहीं रहता। अतएव मोक्ष-दशा प्राप्त करने के लिये पहले-पहल अज्ञान को दूर करना चाहिये। बहम का होना अनादि काल का अभ्यास है, इसलिये न मालूम कब छूट सकता है, लेकिन महात्माओं ने इसे मिटाने का उपाय संयम को अपनाना बताया है। मोक्ष के लिये ही महात्मा पुरुष संयम धारण करके कष्ट पाते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने कितने दिन संयम पाला और मुक्त होने से कितने दिन पहले केवलज्ञानी हुए, यह बात शास्त्र में नहीं बताई है, लेकिन यह बताया कि उन्होंने अन्तिम श्वास तक कार्य सिद्ध किया।

प्रत्येक मरने वाला अंतिम श्वास लेता है और हम लोग भी लेंगे। मनुष्य का नाम ही 'आदम' है। जब तक दम आता है तभी तक आदम है। दम न आने पर बेदम है। इसलिए अन्तिम श्वास तो सभी मनुष्य लेंगे, मगर अन्तिम श्वास किस प्रकार लेनी चाहिए, यह बात कालास्यवेषिपुत्र मुनि के जीवन से सीखनी चाहिए। उन्होंने अन्तिम श्वास ऐसा खींचा कि मोक्ष प्राप्त किया। मरने के समय स्थूल शरीर तो छूट जाता है, लेकिन तैजस, कार्मण या सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर नहीं छूटता। इस कारण फिर जन्म लेना पड़ता है। जैसे बड़ के पेड़ से बीज अलग गिर जाता है, फिर भी बीज में वृक्ष का संस्कार रहता है, इस कारण उससे फिर वृक्ष उग जाता है। ऐसे ही तैजस और कार्मण शरीर में संस्कार रह जाते हैं। वे संस्कार पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु के कारण बनते हैं।

लोग कहते हैं, आत्मा को परलोक में कौन ले जाता है? उन्हें जानना चाहिये कि ले जाने वाला और कोई नहीं है? तैजस और कार्मण शरीर में जो

संस्कार हैं, वही परलोक ले जाते हैं। यदि अन्तिम श्वास में उन संस्कारों को मिटा दिया जाय तो जैसे जला हुआ बीज फिर नहीं उगता, इसी प्रकार फिर जन्म–मरण भी नहीं होता। अन्तिम श्वास में उन संस्कारों को मिटा देना ही मोक्ष है। कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने ऐसा ही किया। उन्होंने अन्तिम श्वास ऐसा खींचा कि सब संस्कार नष्ट हो गये और वे मुक्त हो गये।

यहां कालास्यवेषिपुत्र का प्रकरण समाप्त होता है। मैंने आपके समक्ष इतने विस्तार से यह प्रकरण रखा है तो आप में इसका कुछ–न–कुछ संस्कार रहना ही चाहिये। अगर और कुछ भी याद न रहे तो कालास्यवेषिपुत्र अनगार तो याद रहेंगे ही। आपको किसी आढ़तिया से माल मंगाना होता है तो उसका नाम याद रहता है। इसी प्रकार कालास्यवेषिपुत्र अनगार का नाम याद रहेगा तो कल्याण हो जायगा। आपको याद रहे या न रहे, हमें तो याद रखना ही होगा, हमने तो इसीलिए धर–द्वार छोड़ कर संयम लिया है।

मरते तो सभी मनुष्य हैं, मगर मरने के बाद दो बातें छोड़ जाते हैं – भलाई और बुराई। मनुष्य दो मार्ग बता जाता है। कोई भला मार्ग बता जाता है, कोई बुरा मार्ग बता जाता है। लेकिन हमें किस मार्ग पर जाना चाहिये? किस मार्ग को ग्रहण करना चाहिये? यह बात हमें महापुरुष बतला गये हैं। महापुरुष के मार्ग पर चलने से हमारा कल्याण हो सकता है कहा भी है :–

महाजनो येन गतः स पन्था।

जिस पथ पर महापुरुष गये हैं, उसे न छोड़ते हुए चला जाय तो वह अपने ठीक लक्ष्य पर पहुंच जाएगा।

अप्रत्याख्यान क्रिया

मूलपाठ–

प्रश्न – भंते! त्ति भगव गोयमे समणं भगवंतं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वदासी–णे णूणं भंते! सेट्ठीयस्स य, तणुयस्स य, किवणस्स य, खत्तियस्स य, समं चेव अप्पच्चक्खाणकिरिया कज्जइ?

उत्तर – हंता, गोयमा! सेट्ठियस्स य, जाव – अप्पच्चक्खाणकिरिया कज्जइ।

प्रश्न – से केणट्ठेण भंते?

उत्तर – गोयमा! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–सेट्ठियस्स य, तणुयस्स अ, जाव–कज्जइ।

संस्कृत छाया –

प्रश्न – 'भदन्त!' इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा, ननस्यित्वा एवमवादीत्–तदनूनं भगवन्! श्रेष्ठिकस्य च, तनुकस्य च, कृपणस्य च, क्षत्रियस्य च, समयेव अप्रत्याख्यान क्रिया क्रियते?

उत्तर – हन्त, गौतम! श्रेष्ठिकस्य च, यावत् प्रत्याख्यानक्रिया क्रियते।

प्रश्न – तत् केनार्थेन भगवन्?

उत्तर – गौतम! अविरतिं प्रतीत्य। तत् तेनार्थेन गौतम। एवमुच्यते – श्रेष्ठिकस्य च तनुकस्य च यावत्–क्रियते।

शब्दार्थ

प्रश्न – 'भगवन्!' ऐसा कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार किया। वन्दना–नमस्कार करके इस प्रकार बोले– 'भगवन्' एक सेठ, एक दरिद्र, एक कृपण और एक क्षत्रिय (राजा), ये सब एक साथ ही अप्रत्याख्यान क्रिया करते हैं?

उत्तर – हे गौतम! हां, सेठ यावत् ये सब एक साथ अप्रत्याख्यान क्रिया करते हैं।

प्रश्न – भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर – गौतम! अविरति की अपेक्षा ऐसा कहा है कि एक सेठ, दरिद्र और ये सब यावत् एक साथ अप्रत्याख्यान क्रिया करते हैं।

व्याख्यान

इस शास्त्र का नाम यद्यपि 'भगवती सूत्र' बहुत प्रचलित है, मगर इसका एक वास्तविक नाम 'विवादप्रज्ञप्ति' है। यानी इसमें विविध विषयों की प्रज्ञापना (प्ररूपणा) की गई है। इसमें नाना विषयों को लेकर प्रश्नोत्तर हैं। इसलिये उन प्रश्नोत्तरों में परस्पर कोई खास सम्बन्ध नहीं है, परन्तु विद्वान टीकाकारों ने उनमें परस्पर सम्बन्ध बतलाया है। इस शास्त्र में कालास्यवेषिपुत्र मुनि के मोक्ष का वर्णन करने के पश्चात् अब क्रिया का प्रश्न आता है। पहले कालास्यवेषिपुत्र मुनि के मोक्ष जाने का वर्णन है, फिर क्रिया का वर्णन है। इन दोनों वर्णनों का आपस में क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं– कालास्यवेषिपुत्र अनगार यों ही मोक्ष नहीं गये, किन्तु प्रत्याख्यान क्रिया करने से मोक्ष गये। उन्होंने प्रत्याख्यान द्वारा सब पाप त्याग दिये और ऐसे त्याग दिये कि फिर पाप की वासना भी नहीं हुई। उनका पाप–प्रत्याख्यान चरम सीमा तक पहुंच गया था, इसी कारण वे मोक्ष गये।

प्रत्याख्यान करने से मोक्ष हुआ, मगर प्रत्याख्यान न करने से क्या होता है, अब यह बतलाया जा रहा है। अर्थात् पाप के त्यागी को क्या फल होता है, यह बताने के अनन्तर यह बतलाते हैं कि पाप के अत्यागी को क्या फल होता है? इससे प्रत्याख्यान का महत्त्व भी प्रकट हो जाता है।

इस सूत्र का उपोद्घात करते हुए कहा है कि भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूतिजी थे। उनका गोत्र गौतम था। वे प्रायः गौतम नाम से ही प्रसिद्ध थे। अधिकांश लोग उन्हें गोत्र से ही जानते थे। भगवान् ने भी उन्हें गौतम नाम से ही सम्बोधन किया है। शास्त्रकार उन गौतम स्वामी को 'भगवान्' कहते हैं।

'भगवान्' शब्द का मूल रूप 'भयवं' है। भव और भय का अन्त करने वाले को भगवान् कहते हैं। भव का अर्थ जन्म–मरण करना है। जन्मना, मरना और वृद्ध होना, भव है। इनसे छूट जाने की क्रिया करना भव का अन्त करना है। जो भव से निकल जाता है वह भगवान् है। फिर चाहे वह किसी भी लिंग का, किसी भी जाति का या किसी भी वर्ग का क्यों न हो। उसके भगवान्

होने में कोई मर्यादा नहीं है। भव का अन्त करने के साथ ही जो भय का अन्त करे, वह भी भगवान् है। जो किसी से डरे नहीं और किसी को डरावे नहीं, वह भगवान् है।

प्रश्न होता है कि जो भगवान् है, वह किसी से क्यों नहीं डरता? इस सम्बन्ध में कई बार कह चुका हूं कि जो आदमी सोने को जानता है, वह सोने के बने हुए सांप या सिंह या और किसी चीज को देखे तो वह उसके घाट को नहीं, किन्तु सोने को ही देखता है। सोने का ग्राहक सोने से बने हुए घाट को गौण मानता है और सोने को ही मुख्य समझता है। इसी प्रकार आत्मा का ग्राहक शरीर को नहीं देखता, आत्मा को देखता है।

ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जगजीव चराचर योनि, है चेतन गुण एक रे प्राणी।।
श्री महावीर नमो वरनाणी।।

सांप बनने से पहले भी सोना था, जब सांप बना है तब भी सोना है और सांप न रहेगा, सांप का घाट मिट जायगा, तब भी सोना रहेगा। मतलब यह है कि सोना सांप या सिंह बना हुआ है, फिर भी उससे आप भयभीत नहीं होते। आप सोने को देखते हैं, उसका घाट नहीं देखते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ऊपर का घाट देख कर भयभीत नहीं होते। वे तो आत्मा को देखते हैं। और आत्मा को देखने के कारण किसी भी अवस्था में उन्हें भय नहीं होता। चाहे कोई उनका शरीर नष्ट करने के लिये आए, तब भी वे यही समझते हैं कि जैसे सोने का घाट बिगड़ जाने पर भी सोना, सोना ही बना रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी सदा अमर है, वह कभी मिट नहीं सकती। चौदह राजू लोक में आत्मा ने अनेक घाट बनाये हैं। उनमें से एक घाट मिटता है, तो भले ही मिट जाए। इसमें चिन्ता या भय करने की क्या बात है!

इस प्रकार जो भय का अन्त कर देते हैं– स्वयं भय नहीं पाते और दूसरे को भी भय नहीं देते, वही भगवान् कहलाते हैं। गौतम स्वामी ने भय का अन्त कर दिया था, इसीलिये शास्त्रकार ने उन्हें 'भगवान् गौतम' कहा है।

शास्त्रकार कहते हैं– भगवान् गौतम ध्यान में बैठे थे। उन्होंने सोचा कि इस संसार में विचित्रता दिखाई देती है। एक धनवान् है, दूसरा गरीब है। किसी के पास लाखों की सम्पत्ति है, किसी के पास एक बार खाने को भी नहीं है। ऐसी दशा में क्या इन सबको अव्रत की क्रिया एक–सी लगती है?

सामान्य रूप से विचार करने पर यही मालूम होगा कि धनवान् और राजा लोग बहुत आरम्भ करते हैं, अतएव इन्हें ज्यादा पाप लगता है और

गरीब कम आरम्भ करता है, इसलिए उसे कम पाप लगता है। लेकिन वास्तव में किसे कम पाप लगता है और किसे अधिक लगता है, यह बात गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से तय करवा रहे हैं। यद्यपि गौतम स्वामी स्वयं ही यह निर्णय दे सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा न करके भगवान् महावीर से निर्णय कराया। ऐसा करने में एक तो उन्होंने अपने गुरु का बड़प्पन रक्खा, दूसरे, उस निर्णय में सर्वसाधारण के समक्ष अधिक प्रामाणिकता आ गई। अगर गौतम स्वामी या सुधर्मा स्वामी स्वयं ही निर्णय कर देते तो आगे के लोग यही समझते कि यह तो गौतम या सुधर्मा स्वामी का कथन है, भगवान् का नहीं। उस निर्णय पर भगवान् महावीर की मुहर न होती। इसके अतिरिक्त गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी उस समय केवलज्ञानी नहीं थे। उनका किया हुआ निर्णय यद्यपि सत्य ही होता, फिर भी वह छद्मस्थ का निर्णय कहलाता। भगवान् महावीर का दिया हुआ निर्णय केवलज्ञानी का निर्णय है।

इस प्रकार विचार कर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर को 'भंते!' (भदन्त) सम्बोधन करके प्रश्न पूछा। 'भदन्त' शब्द भद् कल्याणे धातु से बना है। उसका अर्थ है– कल्याण करने वाला। गौतम स्वामी ने विनयपूर्वक भगवान् महावीर से कहा– हे भदन्त! अर्थात् हे जगत् का कल्याण करने वाले! (गौतम स्वामी ने भगवान् को जगत् का कल्याण करने वाला मानने के कारण भदन्त कहा या भगवान् गौतम के गुरु थे, इसलिए गुरु को सम्बोधन करने के लिये नम्रताद्योतक इस पद का प्रयोग किया।)

विनयपूर्वक वन्दना–नमस्कार करके गौतम स्वामी ने पूछा– 'हे भगवान्! सेठ का और गरीब का अथवा कृपण का और उदार पुरुष का अव्रत बराबर है?'

टीकाकार कहते हैं कि जिस पर लक्ष्मी की कृपा हो, लक्ष्मी जिसके घर लीला करती हो, और जो लक्ष्मीपति हो, वह सेठ कहलाता है। लेकिन लक्ष्मी का अधिपति तो मूर्ख भी हो सकता है। मूर्ख के पास भी लक्ष्मी का ठाट हो सकता है। मगर सिर्फ लक्ष्मी होने मात्र से कोई सेठ नहीं हो जाता, जिसे राजा और प्रजा ने सेठ का पद दिया हो और स्वर्णपट्ट प्रदान किया हो, जिसके सिर पर राजा और प्रजा का दिया हुआ स्वर्णपट्ट सुशोभित रहता हो तथा जो पुरजनों का नायक हो, वह सेठ कहलाता है।

सेठ राजा और प्रजा के बीच का पुरुष होता है। राजा अगर अन्याय करता है तो उसे भी प्रजा की सहायता से ठिकाने लाने की क्षमता वाला होता

है। सेठ प्रजा को अपने हाथ में इस प्रकार रखता है कि अन्याय करने वाले राजा का राज्य पर रहना कठिन हो जाता है। इस तरह एक ओर वह राजा को अन्याय करने से रोकता है और दूसरी ओर प्रजा को समझा–बुझाकर राजा के प्रति विद्रोह करने से भी रोकता है। ऐसा मध्यस्थ और न्यायप्रिय व्यक्ति, शास्त्र के अनुसार सेठ कहलाता है।

सेठ क्या कर सकता है और सेठ के हाथ में कितनी शक्ति होती है, इसके लिए उदयपुर के सेठ चम्पालालजी की सेठाई प्रसिद्ध है। सारी प्रजा सेठ के पक्ष में थी। राणा के पक्ष में कोई नहीं था। एक बार ऐसा मालूम होता था कि प्रजा सेठ की है, राणा की नहीं है। राजमहल का चौक झाड़ने के लिये मेहतर की आवश्यकता होती और मेहतर से कहा जाता तो वह उत्तर देता कि सेठ से आज्ञा दिलवा दीजिए। उनकी आज्ञा होने पर ही हम आ सकते हैं। पानी भरने वालों ने पानी भरना बन्द कर दिया। सौदा बेचने वालों ने सौदा बेचना बन्द कर दिया। सब सेठ के इशारे की राह देखने लगे। आखिर राणा को झुकना पड़ा और तभी सब काम यथावत् चालू हो सका।

उदयपुर के एक नगरसेठ प्रेमचन्दजी को राणा जागीर देने लगे। उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा– मैं जागीर लेने के बाद सेठ नहीं रह सकूंगा। गुलाम हो जाऊंगा। जागीर के लोभ के कारण मुझे आपकी हां में हां मिलानी होगी। प्रेमचन्दजी की ऐसी उदारता देखकर ही गरीब होने पर भी राणा स्वरूपसिंहजी ने सेठ की पदवी उन्हें प्रदान की थी।

मतलब यह है कि सिर्फ लक्ष्मी होने के कारण ही कोई सेठ नहीं कहलाता, किन्तु जो प्रजा का नायक भी हो, वही सेठ है। शास्त्र में सेठ का वर्णन करते हुए कहा है –

आलंबणं, चक्खू, मेढ़ी, पयाणभूए, आहारे।

पहले जमाने में कुएं के ऊपर जो पेड़ होता था, उसमें एक रस्सी बांधकर उसे कुएं में लटका दिया जाता था। इसका प्रयोजन यह था कि कदाचित् कोई अचानक कुएं में गिर पड़े तो उसका सहारा ले ले। जैसे वह रस्सी गिरने वाले के लिए सहारा हो जाती थी, उसी प्रकार सेठ प्रजा का आलम्बन होता है। सेठ प्रजा को गिरने नहीं देता। इसी प्रकार सेठ प्रजा के लिए मेढी है। अनाज के खलिहानों में दावन चलाने के लिए बीच में एक लकड़ी गाड़ दी जाती है। बैल कतार में उसी लकड़ी के सहारे घूमते हैं। इसी प्रकार सेठ भी प्रजा के लिए इस तरह का आलंबन होता है कि प्रजा उसके सहारे घूमती रहती है। अर्थात् सेठ के भरोसे पर सारा काम करती है। सेठ

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ का ऊपर वर्णन किया है, उसी प्रकार के क्रोध आदि होने पर तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। परन्तु जैसे पर्वत के बीच की दरार यों तो नहीं मिट सकती, लेकिन यदि पर्वत ही परमाणु या छोटे स्कंधों के रूप में परिणत हो जाय तो वह दरार भी मिट ही जाएगी। संसार में आघात है तो प्रत्याघात भी है। लोहे के दो टुकड़े, कितना भी प्रयत्न किया जाय, एक नहीं हो सकते; लेकिन दोनों को गला दिया जाय तो दोनों मिल जाते हैं। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय वाला अगर उसी स्थिति में रहे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। क्योंकि उस का कषाय चिकना है, लेकिन किसी धर्मात्मा पुरुष की संगति मिलने पर और अपूर्व क्रिया करने पर वे क्रोध आदि गलकर दूसरे ही सांचे में ढल जाते हैं। अर्थात् महापुरुष निमित्त बन कर, उन्हें गला कर दूसरे सांचे में ढाल देते हैं।

महापुरुष के मिलने पर कोई जीव तत्त्व की बात समझ लेता है, मान लेता है, उस पर पूरी आस्था भी रखने लगता है, लेकिन उससे त्याग नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में अप्रत्याख्यान की क्रिया लगती ही रहती है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य संयम लेना अच्छा समझता है, लेकिन उससे संयम लेने को कहिए तो वह घर–संसार छोड़ नहीं सकता।

यहां मिथ्यात्व और परिग्रह आदि की क्रियाओं को छोड़ कर केवल अव्रत की क्रिया के विषय में प्रश्न किया गया है, अर्थात् मध्य की बात पूछी है। यह एक न्याय है कि मध्य की बात लेने पर आदि और अन्त की बातों का भी ग्रहण हो जाता है। व्यवहार में कहते हैं– कमर कस ली। यह कोई नहीं कहता कि सिर कस लिया या पांव कस लिये। कमर कसने से सिर और पैर का कसना भी आ जाता है। इसी प्रकार अव्रत की क्रिया को लेने पर मिथ्यात्व और परिग्रह आदि की क्रिया का भी ग्रहण हो जाता है। जो अव्रत की क्रिया जीत लेगा, वह मिथ्यात्व आदि की क्रिया भी जीत लेगा। इसीलिए शायद अव्रत की क्रिया पर जोर दिया है। इसके अतिरिक्त और भी कोई कारण हो तो ज्ञानी जानें।

अप्रत्याख्यानी क्रिया का उदय होने पर किसी भी वस्तु का त्याग नहीं होता। इस क्रिया वाले से कहा जाय कि काक–मांस ही त्याग दे, तो वह कहेगा– क्या मालूम, कभी वही खाने का काम पड़ जाय। ऐसा कहकर वह कौए का मांस भी नहीं त्यागता।

एक ओर विशाल वैभव वाला सेठ है, जिसने कुछ भी त्याग नहीं किया है और दूसरी ओर एक दरिद्र है। उसने भी कुछ त्याग नहीं किया है। धनी सेठ से कहा जाता है– 'तेरे पास तो बहुत हो गया है, अब तृष्णा छोड़, अधिक का त्याग कर दे। अब सम्पत्ति की मर्यादा कर ले कि इससे अधिक नहीं रखूंगा,' इसके उत्तर में वह कहता है– 'करोड़ के दो करोड़ होने में क्या देर लगती है? शायद दो करोड़ हो जाएं! इसलिए अभी कैसे मर्यादा कर लूं?' अगर दरिद्र से कहा जाता है– 'तुझे खाने को ही नहीं मिलता है, तू क्या धनवान् बनेगा! इसलिए ममता क्यों नहीं त्याग देता?' तो वह कहता है– 'शायद कभी भाग्य खुल जाय और मैं धनवान् बन जाऊं।' इस प्रकार दोनों ही अधिक की तृष्णा के फेर में पड़े हैं। गौतम स्वामी कहते हैं– इन दोनों, त्याग न करने वालों को बराबर क्रिया लगेगी या कम–ज्यादा?

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर दिया– हे गौतम! दोनों को बराबर क्रिया लगती है। ममता छूटे बिना क्रिया लगना बन्द नहीं होता। पास में हो या न हो, तथापि ममता तो दोनों की ही बराबर है। इसलिए क्रिया भी दोनों को बराबर लगती है।

बहुत–से लोग प्रश्न करते हैं– जो चीज हमने देखी नहीं, सुनी नहीं, उसकी क्रिया हमें किस प्रकार लगती है? वास्तव में यह बात किसी ज्ञानी की संगति करने से ही मालूम होती है। एक उदाहरण द्वारा यह बात समझाता हूं। उदयपुर की जेल के सम्बन्ध में एक बात सुनी थी। एक बुढ़िया को जेल में डाला गया। बुढ़िया ने कभी जेल नहीं देखी थी। उसने जेल में रहने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझा। पहरेदार ने सोचा – यह बुढ़िया कहां जा सकती है! ऐसा सोचकर वह तलवार टांग कर निश्चिन्त होकर सो गया। बुढ़िया ने पहरेदार की तलवार उठाई और मरने के इरादे से अपने गले में घुसेड़ ली। मरने का इरादा करना सरल भले ही हो, मगर मरना सरल नहीं है। बुढ़िया ने तलवार घुसेड़ तो ली, मगर मर न सकी। उसका गला घर्र–घर्र करने लगा। इतने में सिपाही जाग उठा और उसने तलवार पकड़ ली। बुढ़िया के गले में घाव हो गया, जो बाद में दवा–दारू करने से ठीक हो गया। आशय यह है कि सिपाही ने तलवार टांगी थी, मगर उसका यह इरादा नहीं था कि इससे बुढ़िया अपना गला काटने का प्रयत्न करे। फिर भी अदालत से उसे कुछ महीनों की सजा हो गई। अब आप सोचें कि सिपाही को सजा मिलना इंसाफ हुआ या बेइंसाफ हुआ? सिपाही ने बुढ़िया को मारना नहीं चाहा था, मगर असावधानी थी। असावधानी के फलस्वरूप उसे सजा मिली।

सिपाही का बुढ़िया को मरने देने का इरादा नहीं था। उसने यह देखा, सुना या विचारा भी नहीं था कि बुढ़िया मेरी तलवार से मरने का विचार करेगी। फिर भी उसे दंड मिला। इसी प्रकार जो वस्तु देखी नहीं है, जिसके विषय में कुछ सुना नहीं है, उसकी भी क्रिया लगती है। अगर आपको क्रिया से बचना है तो जो चीजें रखनी हैं, उनके सिवा शेष सबका त्याग क्यों नहीं कर देते? त्याग न करने पर तो क्रिया लगेगी ही। आपकी जानकारी से ही क्रिया नहीं लगती है। आप ज्ञानी नहीं हैं। जैसे जेल का सिपाही जानता नहीं था फिर भी जेल का नियम भंग करने के कारण उसे दंड मिला, उसी प्रकार ज्ञानी के बनाये हुए नियम न पालने से भी दंड मिलता है। अगर बुढ़िया मरने न लगती तो उसकी गलती की चर्चा न उठती, लेकिन ज्ञानी के पास पूरा हिसाब है। ज्ञानी सब गफलत जानते हैं। इसलिये जिस क्रिया को तू नहीं जानता, वह भी तुझे लगती है।

क्रिया से बचने के लिये त्याग की आवश्यकता है। अगर पूर्ण रूप से संसार के सब पदार्थों का त्याग नहीं हो सकता तो जितना सम्भव हो, त्याग करो। जितने अंश में त्याग करोगे उतने अंश में क्रिया से बचोगे। श्रावक स्थूल त्याग कर सकता है, सूक्ष्म नहीं त्याग सकता। तब भी स्थूल त्याग करने के बाद जो रहा, उसके लिये अव्रत की क्रिया नहीं लगेगी। त्याग होते ही अव्रत की क्रिया हट जाती है। फिर वह भले ही थोड़ा ही क्यों न हो! त्याग के बाद जो–कुछ रहा, उसके लिये परिग्रह की क्रिया मौजूद है। जब तक तनिक भी त्याग नहीं है, तभी तक अव्रत की क्रिया लगती है। थोड़ा–सा त्याग करते ही अव्रत की क्रिया छूट जाती है, मगर उसके लिये प्रमाद की क्रिया लगती है।

प्रश्न हो सकता है कि त्यागने के बाद जो शेष रहा, वह अव्रत में क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि मोती जब तक पूरा है, तभी तक उसकी कीमत मोती की होती है। टूट जाने पर वह मोती की कीमत पर नहीं बिक सकता और न मोती कहलाता है। उसे मोती के टुकड़े भले ही कह दिया जाय! इसी प्रकार थोड़ा भी त्याग कर देने पर अप्रत्याख्यानी क्रिया का सिर टूट जाता है। उसके टुकड़े हो जाते हैं। अतएव उस आंशिक त्यागी को वह क्रिया नहीं लगती। फिर तो उसके त्याग से जो बाकी रहा है, वह परिग्रह की क्रिया में होता है। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य ने हरितकाय का त्याग किया, मगर कुछ हरितकाय की वस्तुएं बाकी रखलीं। तो उसने जो त्याग किया है, उसके पाप से तो वह बच ही गया, लेकिन जो हरितकाय उसने

त्यागा नहीं है, उसका भी रस टूट गया। वह यह बात समझेगा कि मुझे सभी हरितकाय त्यागना उचित है, किन्तु मैं अपनी दुर्बलता के कारण त्याग नहीं कर सका हूं। ऐसी भावना करके वह नहीं त्यागी तो भी त्याज्य समझेगा, उसके विषय में नम्रता धारण करेगा और इस कारण जो लिलोतरी त्यागने से रह गई है, उसका भी रस टूट जायगा। मान लीजिये, आप किसी आदमी पर एक हजार रुपया मांगते हैं। आप उसके यहां मांगने गये। रुपया देना तो दूर रहा, वह उलटा मारने दौड़ा। उस दशा में आप उस पर मुकदमा चलाएंगे तो फौजदारी का चलाएंगे, लेकिन अगर उसने कुछ रुपये जमा करा दिये और बाकी के लिये कहा कि अभी मेरे पास नहीं हैं। होने पर दे दूंगा। तो आप उस पर दीवानी दावा चाहे करें, लेकिन फौजदारी दावा नहीं कर सकते। उसके पास जो–कुछ होगा, सरकार दिलाएगी, न होगा तो क्या दिलाएगी? इस प्रकार कुछ भी त्याग न करना तो फौजदारी केस के समान है और कुछ त्याग कर देने पर जो बाकी रहता है, उसके लिये दीवानी मुकदमे की तरह परिग्रह की क्रिया लगती है। जो त्याग करता है उसका संसार कटता है। अतएव आत्मा को शुद्ध करने के लिए त्याग की शरण लेना चाहिए। आत्मा को सरल और शांत बनाने के लिए जितना भी हो सके, उतना त्याग करने से अव्रत की क्रिया नहीं लगती और आत्मा पवित्र होती है।

जिसके अन्तःकरण में त्याग की भावना आ जाती है, उसका मन पवित्र हो जाता है। वह कहने लगता है :–

मन लागौ मेरो यार फकीरी में, मन लागौ।
जो सुख पायो नाम भजन में, सो सुख नहीं अमीरी में।।मन।।

आपकी नजर में फकीरी बड़ी है या अमीरी बड़ी है? आपको यह विचार कर कुछ कहने में संकोच होगा कि यदि हम अमीरी को बड़ा कहें तो फिर साधुओं के पास आये ही क्यों हैं? खैर, आप कुछ कहें या न कहें, अगर वास्तव में ही आप अमीरी को बड़ा समझते होते तो साधुओं के पास न आते। जिसका दिल फकीरी को बड़ा समझता है, उसी को महापुरुष का चरित सुखदाता हो सकता है। जो भोग के कीड़े बन रहे हैं, उनकी संसार–यात्रा भी कठिन होगी।

चाहे कोई राजा हो या रंक हो, सेठ हो या दरिद्र हो, जब तक उसका ममत्व नहीं छूटा, उसने अप्रत्याख्यानी क्रिया बंद नहीं की, तब तक उसे बराबर क्रिया लगती रहती है। चाहे ऊपर से फर्क दिखता हो, लेकिन दोनों ही तरह के लोगों की ममता न छूटने से अप्रत्याख्यानी क्रिया दोनों को

बराबर लगती है। क्रिया के लिहाज से दोनों बराबर हैं। इसलिये इच्छा को निरोध करो। इच्छा का निरोध करने से अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का निरोध होगा।

यह मत समझो कि जो चीज तुम्हारे पास नहीं है उसकी क्रिया भी तुम्हें नहीं लगती। किसी के हजार रुपये चोरी चले गये। अब उसके पास हजार रुपये नहीं हैं, लेकिन उसकी इच्छा यही है कि मेरे गये हुए रुपये वापस आ जाएं। यह इच्छा बनी रहने के कारण पास में रुपये न होने पर भी क्रिया लगती है। इस प्रकार जो चीज सामने नहीं है, या जिसे देखा और सुना नहीं है, उसकी भी क्रिया लगती है। लोगों के खाने–पीने में तो कम चीजें आती होंगी पर तृष्णा बहुत है और तृष्णा ही कर्मबन्ध का कारण है। नमिराज ऋषि ने कहा था –

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

किसी लोभी के घर में सारा संसार भर दिया जाय तो भी उसे सन्तोष नहीं होता। चौदह राजू लोक, आकाश के एक क्षुद्र अंश में हैं। जब चौदह राजू लोक से भी आकाश न भरा गया तो और किस प्रकार भरा जायगा? वास्तव में वह भरा नहीं जा सकता, क्योंकि आकाश अनन्त है। इच्छा भी आकाश की तरह अनन्त है। इच्छा की पूर्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती और जब तक इच्छा है, तब तक क्रिया भी लगती ही रहती है। अतएव इच्छा को रोकना चाहिए।

एक आदमी ने राजपाट छोड़कर संयम ले लिया और दूसरे का राजपाट छूट गया। जिसने छोड़कर संयम लिया है, उसकी इच्छा रुक गई और इस कारण उसे क्रिया लगना बंद हो गया। जिसका राजपाट छूट गया है, उसमें छूटे हुए राजपाट को वापस पाने की इच्छा बनी हुई है। इसलिये उसकी क्रिया बंद नहीं हुई। हां, अगर वह भी सन्तोष कर ले, इच्छा को रोक ले तो उसे भी क्रिया लगना बंद हो जायगा।

यही बात संसार में किसी के मरने के विषय में भी समझो। दुनिया में जब कोई मरता है तो उसके घर वाले रोते हैं कि हाय! दगा दे गये! लेकिन जो दगा दे गया उसे क्या रोना? मगर तृष्णा यह नहीं देखती कि कोई दगा दे गया है या और कुछ कर गया है। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि तृष्णा को रोको। तृष्णा रुकी होगी और कोई मर भी जायगा तब भी यही कहा जायगा कि गई तो गई, मैं दुःख क्यों करूं?

अगर आप पूरी तरह तृष्णा नहीं रोक सकते तो भी जो चीज चली गई है उसकी तृष्णा तो रोको। ऐसा करने से धीरे-धीरे सब तृष्णा रुक जायगी। जो चीज गई है, रोने से आ नहीं सकती। फिर रोने से क्या लाभ है? सन्तोष करने से तृष्णा रोकने का लाभ होगा। चीज तो रोने वाले की भी जाती है और न रोने वाले की भी जाती है। रोने वाले और न रोने वाले में कितना अन्तर है, यह बात एक घटना से बतलाई जाती है।

लोकमान्य तिलक भारत में ही नहीं, विदेशों में भी प्रसिद्ध हैं। उनके मस्तिष्क की सभी प्रशंसा करते हैं। लेकिन उनके मस्तिष्क में ऐसा क्या था? यह बात इससे मालूम होती है कि उनका एक युवक लड़का प्लेग में आकर मर गया। लोकमान्य 'केशरी' पत्र का सम्पादन करते थे। वे पत्र के लिए लेख लिख रहे थे कि इतने में ही लड़के के मरने की उन्हें खबर मिली। लोकमान्य ने खबर लाने वाले से कहा- 'वह मर गया? अच्छा अन्तिम संस्कार की तैयारी करो। मैं लेख पूरा करके आता हूं।' लोकमान्य का वह लड़का शिक्षित था और लोग कहते थे कि वह लोकमान्य से भी बढ़-चढ़ कर निकलेगा। ऐसे लड़के के मरने की खबर आने पर कितनी चिन्ता हो सकती थी? पर लोकमान्य ने कोई चिन्ता नहीं की। वह जो लेख लिख रहे थे, उसे पूरा किया। लड़के की मृत्यु के कारण उस लेख में आदि से अन्त तक कोई अन्तर नहीं पड़ा।

श्रमण निर्ग्रन्थ और आहार

मूलपाठ –

प्रश्न – आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उवचिणाइ?

उत्तर – गोयमा! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलवंधणवद्धाओ घणियबंधणवद्धाओ पकरेइ, जाव अणुपरियट्टइ।

प्रश्न – से केणट्ठेणं जाव–अणुपरियट्टइ?

उत्तर – गोयमा! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकाइयं णावकंखइ, जावतसकायं णावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहार आहारेइ ते वि जीवे णावकंखइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ, जाव–अणुपरियट्टइ।

संस्कृत छाया

प्रश्न – आधाकर्म भुंजानः श्रमणो निर्ग्रन्थः किं वध्नाति, किं प्रकरोति, किं चिनोति, किं उपचिनोति?

उत्तर – गौतम! आधाकर्म भुंजानः आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलवन्धनवद्धा दृढ़वन्धनवद्धाः प्रकरोति, यावद् अनुपरिवर्तते।

प्रश्न – तत् केनार्थेन यावद् अनुपरिवर्तते?

उत्तर – गौतम! आधाकर्म भुंजानः आत्मनो धर्ममति क्रामति, आत्मनो धर्ममति क्रामन् पृथिवीकायिक नावकाङ्क्षति, यावत्–त्रसकायं नावकाङ्क्षति। येपामपि च जीवानां शरीराणि आहारमाहरति तानपि जीवान् नावकाङ्क्षति। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते–आधाकर्म भुंजानः आयुष्कवर्जाः सप्तकर्मप्रकृतीः, यावत्–अनुपरिवर्तते।

शब्दार्थ

प्रश्न – हे भगवन्! आधाकर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है, क्या करता है, किसका चय करता है और किसका उपचय करता है?

उत्तर – हे गौतम! आधाकर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ (श्रमण निर्ग्रन्थ) आयुकर्म को छोड़ कर सात शिथिल बंधी हुई कर्मप्रवृत्तियों को दृढ़ बन्धन में बंधी हुई करता है, यावत् संसार में बार–बार भ्रमण करता है।

प्रश्न – भगवन्! इसका क्या कारण है कि, यावत् वह संसार में बार–बार भ्रमण करता है?

उत्तर – गौतम! आधाकर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ (श्रमण निर्ग्रन्थ) अपने धर्म का उल्लंघन करता है। अपने धर्म को उल्लंघन करता हुआ वह पृथिवीकाय की परवाह नहीं करता और यावत्–त्रसकाय के जीव की परवाह नहीं करता। और जिन जीवों के शरीरों को वह खाता है, उन जीवों की भी परवाह नहीं करता। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा गया है कि आधाकर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ (श्रमण) आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मो की प्रकृतियों को मजबूत बांधता है, यावत्–संसार में बार–बार भ्रमण करता है।

व्याख्यान –

क्रिया के सम्बन्ध में प्रश्न करने के पश्चात् गौतम स्वामी अब श्रमण निर्ग्रन्थ के आहार के विषय में प्रश्न करते हैं। इसलिए पहले यह देखना चाहिए कि श्रमण निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं? जिसमें समभाव है, किसी पर राग या द्वेष नहीं है, वह श्रमण कहलाता है। साधु के लिये समभाव अत्यावश्यक है। समभाव के बिना कोई भी सच्चा साधु नहीं हो सकता। समभाव प्राप्त करना ही साधु होने का प्रयोजन है। संसार में ऊंच–नीच आदि का विषमभाव भरा है, उसे मिटाने के लिये साधुपद स्वीकार किया जाता है। भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है –

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ।।

अर्थात् लाभ में और अलाभ में, सुख में और दुःख में, जीवन में और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान में और अपमान में समभाव रखने वाला ही सच्चा साधु है।

साधु को संसार की सम्पदा से कोई सरोकार नहीं होता। उसके लाभ और अलाभ का प्रश्न ही साधु के लिये उपस्थित नहीं होता। साधु को शरीर की रक्षा के लिये सिर्फ आहारादि की आवश्यकता होती है। वह कभी मिले अथवा न मिले, तव भी समभाव रखना चाहिए।

साधुओं को सिर्फ आहारादि की आवश्यकता होती है, मगर गृहस्थी में रहने वाले गृहस्थों को वहुत–सी चीजों की आवश्यकता हुआ करती है। जिस समय लाभ की इच्छा होती है, उस समय लाभ के वदले कभी–कभी हानि हो जाती है। वहुत वार कोई राजा विजय की आशा से किसी देश पर चढ़ाई करता है, मगर उसे हार खाकर लौटना पड़ता है। आपमें और साधु में यही अन्तर है कि साधु आहार के लिये गये, परन्तु आहार न मिला तो समभाव रखते हैं। वे सोचते हैं कि मैं लाभ या अलाभ के लिये साधु नहीं हुआ हूं, किन्तु समभाव के लिये साधु हुआ हूं। आहार की उपयोगिता इसी वात में है कि समभाव की आराधना में वह सहायक हो। कदाचित् आहार न मिले तो भी क्या हानि है? मैं आहार के लिये समभाव को कैसे खो सकता हूं?

आप सोचते होंगे कि आहार के निमित्त जाने पर भी अगर आहार न मिले तो दुःख हो ही जाता है। लेकिन दुःख होना अज्ञान और मोह का परिणाम है। जिसका मोह और अज्ञान नष्ट हो जायेगा, उसे दुःख स्पर्श भी नहीं कर सकता। मन को साधने के लिये भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल पर दृष्टि देने की आवश्यकता है। जहां लाभ के वाद अलाभ हो, वहां अलाभ के मूल कारण को खोजना चाहिये। उस कारण को खोजने पर दुःख होगा ही नहीं।

ढंढण मुनि प्रतिदिन गोचरी करने जाते, लेकिन उन्हें आहार न मिलता। वे कृष्णपुत्र थे और भगवान् नेमिनाथ के शिष्य थे। वे द्वारिका नगरी में ही गोचरी के लिये जाते थे। द्वारिका जैसी नगरी – कृष्ण की राजधानी और कृष्ण के पुत्र ढंढण जैसे मुनि! वे भिक्षा के लिये जाते, किन्तु भिक्षा नहीं मिलती थी, यह कितने आश्चर्य की वात है? अगर वे दुःख मानते तो कितना दुःख मान सकते थे? लेकिन नहीं, उन्होंने दुःख नहीं माना। वरन् ज्यों–ज्यों आहार न मिलता, वे आनन्दित होते और सोचते– 'मैं आहार के लिये साधु नहीं हुआ हूं। मैंने पूर्वजन्म में जो अन्तराय कर्म वांधा है, उसे नष्ट करने के लिये साधु हुआ हूं। अगर मुझे आहार मिलता तो मेरे कर्म क्षीण कैसे

होते और मैं कैसे जानता कि मैंने कैसे कर्म बांधे हैं?' इस प्रकार तीनों कालों पर दृष्टि देने से अलाभ भी आनन्ददायक हो जाता है।

ढंढण मुनि ने अभिग्रह किया था कि मैं अपनी लब्धि का मिला हुआ आहार ही लूंगा, दूसरे की लब्धि का ग्रहण नहीं करूंगा। मैं स्वयं आहार की गवेषणा करूंगा और मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा। यह उनका अभिग्रह था। मगर वे जहां–कहीं जाते, उन्हें आहार न मिलता। अगर उनके साथ कोई दूसरे मुनि जाते तो उन्हें भी आहार न मिलता। साथी मुनि उनसे कहते– 'आप विराजिये, हम आपके लिए आहार लाते हैं।' मगर ढंढण मुनि का उत्तर था –'नहीं, मैं आपका लाया आहार नहीं लूंगा। मेरे साथ जाने से आपके आहार में भी अन्तराय पड़ता है, इसलिए मैं अकेला ही जाऊंगा।' इस प्रकार वह अन्य मुनियों के साथ न जाकर अकेले ही जाते और आहार न मिलने पर लौट आते। इस प्रकार आहार की खोज करते–करते महीनों बीत गये, पर आहार नहीं मिला।

एक दिन श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से पूछा– भगवन्! आपके अठारह हजार मुनियों में सबसे उत्कृष्ट तपस्वी कौन मुनि है? कौन सबसे उत्तम क्रिया करता है?

भगवान् ने उत्तर दिया– हे कृष्ण! तुम्हारे वंश के सिवाय इस समय दूसरा उत्कृष्ट तप करने वाला कोई नहीं है। तुम्हारे पुत्र ढंढण मुनि सबसे उत्कृष्ट तप और क्रिया करने वाले हैं। वे महान् तप कर रहे हैं। फिर भी उन्हें दुःख या निराशा तो होती ही नहीं। वे यही सोचते हैं– मैं क्षत्रिय कुल में जन्मा हूं। कर्म–शत्रु को नष्ट करने के लिए तैयार हूं। इसलिए मैं अन्तराय–रिपु की जड़ खोदकर ही दम लूंगा।

भगवान् के मुख से ढंढण मुनि की यह प्रसंशा सुनकर कृष्णजी बहुत आनन्दित हुए। वे भगवान् के पास से उठकर घर जा रहे थे कि सामने से आते हुए ढंढण मुनि मिल गये। कृष्ण ने उन्हें यथाविधि वन्दन–नमस्कार किया और कहा– आप बहुत उत्कृष्ट तपस्वी हैं। भगवान् ने भी आपके उत्कृष्ट तप की प्रशंसा की है।

कृष्णजी ने ढंढण मुनि से जो बात कही, वह एक सेठ ने भी सुनी। उसने सोचा– ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी को तो दान देना ही चाहिये। यह सोचकर उसने कहा – महाराज! पधारिये, मैं आपको आहार देकर कृतार्थ होना चाहता हूं। मुनि उसके घर गये और सेठ ने उन्हें मोदकों का दान दिया। मगर मुनि ने सोचा कि यह आहार मेरी लब्धि का है या नहीं, इस बात का निर्णय

हुए विना मैं उसका उपयोग नहीं कर सकता। भगवान् ज्ञानी हैं, उनसे पूछने पर मालूम हो जायगा कि यह मेरी लब्धि का है या नहीं?

महीनों बाद आहार मिला था। फिर भी ढंढण मुनि ने उसके सम्बन्ध में भगवान से पूछा– प्रभो! मुझे जो मोदक मिले हैं, ये मेरी लब्धि के हैं या किसी और की लब्धि के हैं?

भगवान् ने गंभीरतापूर्वक कहा– हे मुनि! हे वत्स! तूने जो अभिग्रह लिया है, यह लड्डू उसमें वाधक हैं। तूने अपनी लब्धि का आहार लेने की प्रतिज्ञा की है, मगर यह तेरी लब्धि का नहीं है। यह कृष्णजी की लब्धि का है। कृष्णजी ने तेरी प्रशंसा की थी और उसी की बदौलत तुझे ये मोदक मिले हैं।

भगवान् से यह सुनकर ढंढण मुनि ने कहा– तो मैं यह आहार ग्रहण नहीं करूंगा। इसे कहीं एकान्त में परठ दूंगा। न स्वयं खाऊंगा, न किसी और को दूंगा।

इसके बाद उन्होंने एकान्त में जाकर मोदकों का चूरा कर दिया। मुनि ने मोदक क्या चूरे, कर्मों को ही चूर डाला और केवलज्ञान प्राप्त किया।

भगवान् कहते हैं– हे मुनि! तू आहार आदि के न मिलने पर दुःख क्या लाता है, यह सोच कि यह सब मेरा ही किया हुआ है।

मतलब यह है कि इस तरह पहले तो भूतकाल पर दृष्टि देना चाहिये कि मैं जो भोग रहा हूं, वह मेरा ही किया है, किसी और का नहीं। फिर वर्तमान पर विचार करना चाहिये कि आहार मिल गया होता तो उसका उपभोग करता, नहीं तो सहज ही तप हो रहा है। फिर भविष्य की बात सोचनी चाहिये कि किये हुए कर्म आज न भोगता तो आगे कभी–न–कभी भोगने ही पड़ते। अगर उन्हें आज ही भोग रहा हूं तो क्या हानि है? इस प्रकार तीनों पर दृष्टि देने से समभाव की प्राप्ति होती है।

श्रावकों को यथासंभव मुनि की तरह समभाव रखना चाहिये। रोने–कलपने से कोई लाभ नहीं होता। रोने से शरीर क्षीण होता है, बल क्षीण होता है, बुद्धि स्थिर नहीं रहती, मूढ़ता आती है और चिकने कर्मों का बंध होता है।

गौतम स्वामी इस प्रकार समभाव रखने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ के विषय में आधाकर्मी आहार सम्बन्धी प्रश्न करते हैं– भगवन्! श्रमण निर्ग्रन्थ हो जाने पर भी यदि आधाकर्मी आहार न छूटा तो क्या फल होता है?

श्रमण का अर्थ कहा जा चुका है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है, किसी प्रकार की ग्रंथि में न रहना। कहा जा सकता है कि जो पुरुष आधाकर्मी आहार की ग्रंथि में है, वह श्रमण निर्ग्रन्थ कैसे कहला सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक वस्तु पर नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव -- इन चार निक्षेपों से विचार किया जाता है। इन चारों से विचार करने पर ही वस्तु का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान होता है। यहां नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य और भाव के विषय में ही कहा है। इन दो निक्षेपों से ही यहां विचार करना है। भाव–निक्षेप तो वस्तु के वर्तमान स्वरूप को ग्रहण करता ही है, मगर भूत या भविष्यकालीन वस्तु–स्वरूप को ग्रहण करने वाले द्रव्य–निक्षेप के बिना भी काम नहीं चल सकता। आधाकर्मी आहार करने वाला भावसाधु नहीं है, द्रव्यसाधु है और द्रव्यसाधु होने के कारण उसे निर्ग्रन्थ कहा है।

आधाकर्मी आहार करने वाला तो खैर द्रव्य से साधु है भी, वस्तु का व्यवहार तो केवल नाम से भी होता है। किसी का नाम 'इन्द्रचन्द्र' है। उसमें इन्द्र और चन्द्र के गुण मौजूद नहीं हैं, फिर भी उसे 'इन्द्रचन्द्र' कहते हैं। आकार के कारण भी वस्तु उसी नाम से पुकारी जाती है। जैसे एक खिलौना वास्तव में हाथी नहीं है, मगर हाथी के आकार का है, इसीलिए उसे हाथी कहते हैं। इस प्रकार गुण न होने पर भी नाम और स्थापना (आकार) के कारण उस वस्तु का व्यवहार देखा जाता है। इसी तरह कोई पुरुष साधु हुआ है, मगर द्रव्यसाधु है, भावसाधु नहीं है, फिर भी वह साधु ही कहलाता है।

यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिये कि साधु होने का प्रयोजन क्या है? पहले यह कहा जा चुका है कि समभाव रखने वाला ही साधु कहलाता है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी साधुपन का यही प्रयोजन बतलाया गया है। मनुस्मृति में कहा है –

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यो प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य ते जोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः।।

–म. स्मृ., अ. 6, 39

स्थावर और जंगम – सब प्राणियों को अभय देने के लिए साधु हुआ है। गृहस्थ होने पर स्थावर और जंगम – सब प्राणियों पर दया नहीं रख सकता था, सबको अभय नहीं दे सकता था, अतएव प्राणिमात्र पर दया रखने की भावना से साधु हुआ।

जम्बू स्वामी से उनके माता–पिता ने कहा था– हे जम्बू! तूने सन्तों की संगति से दया सीखी है या हिंसा सीखी है? सुधर्मा स्वामी ने तुझे दया सिखाई है या हिंसा सिखाई है? उनकी संगति से तुझमें दया कहां रही? औरों की बात जाने दे, मनुष्यों पर भी तुझे दया नहीं रही! जिन्होंने पाल–पोस कर इतना बड़ा किया, उन मां–बाप पर भी तू दया नहीं करता! तू कहता है– मैं दया करने के लिए जाता हूं; पर तू हम पर दया क्यों नहीं करता? हम जो कहते हैं, क्यों नहीं मानता? हमें क्यों दुखी कर रहा है?

माता–पिता की इस बात के उत्तर में जम्बू स्वामी ने कहा– हे पिताजी और माताजी! आपका कहना सत्य है। वास्तव में जिसके हृदय में दयादेवी का वास नहीं है, वह मनुष्य नहीं, दानव है। मगर मैं प्राणीमात्र पर दया करने के लिये ही संसार त्याग रहा हूं। स्थावर और जंगम प्राणियों पर दया करने के निमित्त ही साधु बनना चाहता हूं। मैं संसार में रहकर दया नहीं कर सकता, इसीलिए साधु हो रहा हूं। संसार में रहते हुए पूर्ण दया होना सम्भव नहीं है। मैं एक लोटा पानी पीता हूं तो उसमें भी मेरे अनेक माता–पिता मौजूद हैं। क्या मैं उन्हें भूल जाऊं ? मैं उन्हें भी आपके समान समझकर उन पर भी दया करना चाहता हूं।

जम्बू स्वामी की बात सुनकर माता–पिता कहने लगे– तुम उन पर किस प्रकार दया करोगे? और वे तुम्हारे माता–पिता किस प्रकार हैं?

यह बात समझाने के लिए जम्बू स्वामी ने जो उत्तर दिया वह एक उदाहरण द्वारा समझाता हूं। किसी सेठ के यहां एक कुलीन मुनीम था। वह मुनीम, सेठ से कहा करता– मैं जैसा कहूं, वही करो तो अच्छा। मगर सेठ ने मुनीम की बात नहीं मानी। सेठ ने धन के लालच में पड़ कर कोई सट्टे जैसा व्यापार किया, जिससे सेठ का दिवाला निकल गया। सेठ के सिर पर कर्ज रह गया। सेठ, मुनीम से कहने लगा– 'आप बहुत चतुर हैं। मैंने आपका कहा माना होता तो आज यह दशा न होती! लेकिन अब पछताने से क्या लाभ है? जो होना था सो तो हो ही चुका।' मुनीम ने सेठ को धैर्य देकर कहा– 'होनहार टलती नहीं। अब चिन्ता करना व्यर्थ है। धैर्य रखना ही उचित है।'

सेठ कुछ दिनों तक मुनीम आदि का खर्च निभाता रहा, लेकिन आमदनी न रहने से आगे चलना कठिन हो गया। तब एक दिन उसने मुनीम को बुलाकर कहा– 'मैं अब आपका खर्च नहीं निभा सकता। लाचार हूं। आप अपने लिये अन्य प्रबन्ध कर लें।' यह कहते हुए सेठजी की आंखों में आंसू आ गये। मुनीम को भी सेठ का काम छोड़ने में बड़ा दुःख था। उसने सेठजी

को धैर्य बंधाया और कहा– 'कोई हर्ज नहीं है। यह तो समय की बात है। अगर मै आपके यहां न रहूं तो भी नौकर तो आपका ही हूं। जब कभी कोई काम आ पड़े, मुझे याद कीजिएगा।' इतना कह कर मुनीम, सेठ के यहां से अलग हो गया। मुनीम घर गया। सब जगह बात फैल गई कि अमुक सेठ का मुनीम छूट गया है।

उसी नगर में दूसरे सेठ को मुनीम की आवश्यकता थी। वह ईमानदार मुनीम की खोज में था। वह सोचता था कि बालक अभी नादान है और ईमानदार मुनीम के बिना किसके भरोसे पर दुकान छोड़ सकता हूं? मैं अब वृद्ध हो गया हूं और मुझ से काम नहीं संभलता। इस सेठ को उस मुनीम की ईमानदारी पर भरोसा था। उसने उसे बुलवाया और कहा– उन सेठ ने तुम्हारे जैसे मुनीम को छोड़ कर अच्छा नहीं किया। तुम इतने पुराने और ईमानदार आदमी थे, फिर भी उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया, यह बहुत बुरा किया। सेठ ने मुनीम की परीक्षा लेने के लिए उस सेठ के विरुद्ध बहुत–कुछ कहा–सुना, मगर मुनीम ने अपने पुराने सेठ के विरुद्ध एक शब्द भी न कहा। उसने सिर्फ यही कहा– जैसा मौका था, वैसा किया। और हो भी क्या सकता था?

आखिर इस सेठ ने मुनीम को अपनी दुकान पर नियुक्त कर लिया। कुछ दिन व्यतीत होने पर सेठ ने मुनीम की परीक्षा करने का विचार किया। उसने मुनीम से एक बही मंगवाई। मुनीम बही लाया। उसमें से एक खाता निकलवाया और उसके संबंध में पूछताछ की। मुनीम ने बतलाया– अमुक सेठ में इतनी रकम बाकी निकलती है। सेठ ने मुनीम से पूछा– जिनमें रकम बाकी है, उन्हें जानते हो? मुनीम ने कहा– जानता क्यों नहीं, वह तो मेरे मालिक ही हैं। तब सेठ ने कहा – तो जाओ, चार आदमियों को साथ लेकर यह रकम वसूल कर लाओ।

मुनीम अपने पुराने सेठ के यहां गया। शिष्टचार की बातें समाप्त होने पर मुनीम ने बही खोलकर सामने रख दी। उसने मुंह से कुछ कहा नहीं। बही देखते ही सेठ समझ गया कि मुनीम रुपये लेने आया है। उसने सोचा कि मुनीम को मेरे घर का सारा हाल मालूम है कि मैं किस प्रकार अपना खर्च निभा रहा हूं। दूसरा होता तो कुछ कहने की आवश्यकता होती। पर इनसे क्या कहूं! हाय, आज यह समझ भी आ गया कि मेरा मुनीम मुझसे ही कर्ज वसूल करने आया है! ऐसा सोचकर सेठ की आंखों से आंसू टपक पड़े। मुनीम ने कहा– आप धैर्य रखिए। घबराते क्यों हैं? मालिक ने आज्ञा दी और मुझे

यहां आना पड़ा। वहीं जवाब देना ठीक नहीं था। मैं सब बात जानता हूं। जाकर समझा दूंगा। मुनीम लौटकर सेठ के पास गया। सेठ ने पूछा– रकम वसूल कर लाये? मुनीम ने कहा– आज उनकी स्थिति देने योग्य नहीं है। मगर नीयत साफ है इसलिए किसी दिन, जब देने को होगा, दे देंगे। सेठ ने लाल आंखें करके कहा– नौकरी हमारी खाते हो और पक्ष उनका लेते हो? आखिर तो उनका बड़ा घर है। गहने–कपड़े, बर्तन–भांड़े कुछ तो होगा ही। वसूल करके लाना था। अगर यों नहीं देते तो नालिश करके वसूल करो। मुनीम ने कहा– उनकी जैसी इज्जत थी, उसके अनुसार गहने–कपड़े होंगे ही; मगर किसी को बेइज्जत करने का काम मुझसे न होगा। इज्जतदार वही है जो दूसरे को बेइज्जत न करे। सेठ कड़क कर बोला– जिसे रोटी की गर्ज होगी उसे सभी–कुछ करना पड़ेगा। मुनीम बोला– मेरे घर जो कुछ है, उन्हीं का दिया हुआ है। जो कुछ आप लेना चाहें, मुझ से ले लें। मैं उनकी इज्जत नहीं बिगाड़ सकता। अगर आपको इससे भी संतोष नहीं है, तो ये चाबियां संभालिये। मैं अपने घर जाता हूं।

सेठ ने मुनीम को बिठला कर कहा– आज ही आपको काम बतलाया और आज ही आप बिगड़ उठे। मुनीम ने धीमे स्वर में कहा– मैं और सब–कुछ कर सकता हूं मगर किसी की बेइज्जती नहीं कर सकता। आज मैं उनकी इज्जत लूं, कल आपकी इज्जत पर भी हाथ डालना पड़ेगा।

मुनीम की बात सुनकर सेठ ने उसे धन्यवाद देते हुए कहा– 'मुझे आपकी परीक्षा करनी थी। आज मैं निश्चय कर सका कि आप एक कुलीन और वफादार आदमी हैं। आज आप उनका दिया हुआ नहीं खाते, फिर भी आपको उनकी प्रतिष्ठा का खयाल है, तो मेरी प्रतिष्ठा का भी आपको ध्यान रहेगा। यह मैं समझ गया। मैं आज से सारा काम आपको सौंपता हूं, तुम जानो और यह काम जाने।' इस प्रकार कहकर सेठ ने सबको बुलाकर कह दिया कि इन्हें मेरी जगह समझ कर सब लोग इनकी आज्ञा का पालन करना।

जम्बू स्वामी कहते हैं– उस मुनीम ने अपने पुराने मालिक की प्रतिष्ठा नष्ट नहीं की, यह अच्छा काम किया। जैसे सेठ ने मुनीम की परीक्षा की थी, वैसे ही आप मेरी परीक्षा कर रहे हैं। इसीलिये आप कहते है कि माता–पिता पर दया न करके उन्हें रोता छोड़ कर जा रहा है। लेकिन मुझमें दया न होती तो संसार क्यों छोड़ता? क्या निर्दय बेटे संसार के सुखों के लिये मां–बाप पर घोर अत्याचार नहीं करते? आप मुझे घर में रहने के लिए कहते है, मगर मैं रहता क्यों नहीं? इसलिये कि एक लोटा पानी में भी मेरे अनेक

मां–बाप हैं। मैं नास्तिक नहीं हूं जो यह समझ लूं कि मैं आज ही हूं, पहले नहीं था। मैं आज ही नहीं जनमा हूं, अनादिकाल से जन्म धारण करता आया हूं। अनेक बार पानी के जीवों का बेटा हुआ हूं और अनेक बार वे मेरे बेटे हुए हैं। मैं आपको इसीलिये छोड़ता हूं कि आपके पास रहकर मैं अपने पुराने मां–बाप के प्रति दया नहीं रख सकता। मैं दया के खातिर ही संसार को त्यागना चाहता हूं।

जो सब जीवों को आत्मा के तुल्य मानता है, वह कभी हिंसा नहीं करेगा। वह किसी की चोरी नहीं करेगा। किसी को झूठ बोलकर नहीं ठगेगा। पराया समझ कर ही कोई किसी के साथ दुर्व्यवहार करता है। जीव–मात्र को आत्मतुल्य समझने वाला कभी किसी के साथ बुरा व्यवहार नहीं कर सकता। जो बुरा काम करता है उसके घट में से दया पहले ही निकल जाती है। अतएव बुरे कामों से बचने के लिये आत्मीयता की भावना धारण करना आवश्यक है।

जो प्राणी–मात्र को आत्मतुल्य मानने के लिये साधु हुआ है, वह आधाकर्मी और औद्देशिक आहार नहीं करता। वह सोचता है– मैं सब जीवों की दया करने के लिये निकला हूं और मेरे निमित्त किसी जीव की हिंसा हो तो ऐसा आहार मैं कैसे खा सकता हूं? आत्मतुल्य मानने के लिये जो श्रमण निर्ग्रन्थ हुआ है, वह अगर आधाकर्मी आहार करता है तो उसे क्या फल भोगना पड़ता है? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

कहने को तो सभी यह कहेंगे कि प्राणीमात्र आत्मवत् है, लेकिन इस भावना को व्यवहार में सदैव पालन करना बहुत कठिन है। अन्य साधु कहलाने वाले लोग भी खाने–पीने में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, लेकिन जैन साधु प्राणीमात्र को आत्मवत् जान कर कभी आधाकर्मी या औद्देशिक आहार नहीं करते। वे किसी जीव को कष्ट पहुंचाना सहन नहीं करते।

जो आहार किसी अमुक साधु के निमित्त बनाया जाता है, वह आधाकर्मी आहार कहलाता है। गृहस्थ तो अपने लिये भोजन बनाते या बनवाते ही हैं, इसलिये यहां गृहस्थ का प्रश्न नहीं है। यहां साधु के संबंध में ही प्रश्न किया गया है। साधु के निमित्त किसी सचित् खाद्य वस्तु को अचित् बनाना भी आधाकर्मी आहार है। जैसे पानी, मिट्टी या वनस्पति आदि सचित् हैं लेकिन गृहस्थ यह सोचकर कि साधु सचित् नहीं लेंगे, सचित् जल को अचित्त करके रख छोड़े, अथवा साधु के लिये पकवान आदि बनाकर रखे, तो यह सब आधाकर्मी आहार है। दूध, चावल और शक्कर जैसे पदार्थ अचित्

हैं, मगर उन्हें मिला कर साधु के लिये कोई पकावे और खीर बनाकर रखे तो वह भी आधाकर्मी आहार है।

यह बात सिर्फ आहार के विषय में ही नहीं, किन्तु मकान के विषय में भी है। साधु जैसे आधाकर्मी आहार नहीं लेते, उसी प्रकार आधाकर्मी मकान में भी नहीं ठहरते। जो मकान साधु के लिए बनाया गया हो, वह आधाकर्मी मकान है। इस प्रकार के मकान में भी साधु नहीं उतर सकता।

इस प्रकार का बारीक विचार अन्य शास्त्रों में नहीं देखा जाता। जो सिद्धान्त माता-पिता की तरह उपकारी है, उसी में इतनी गहराई के साथ विचार किया गया है।

मकान और भोजन के समान वस्त्र भी आधाकर्मी हो सकता है। जो वस्त्र साधु के लिए बनाया गया हो, वह आधाकर्मी वस्त्र है और उसे साधु ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार पात्र आदि भी अगर आधाकर्मी हों, साधु नहीं लेता। यह साधु का आचार है।

कोई पूछ सकता है कि इस तरह का आहार, मकान, वस्त्र, पात्र आदि साधु क्यों अंगीकार नहीं करते? इस प्रश्न के समाधान के लिए यह समझ लेना जरूरी है कि कोई पुरुष साधु क्यों बना है? तप, पढ़ाई, व्याख्यान देना, ख्याति प्राप्त करना इत्यादि काम तो गृहस्थी में रहते हुए सुविधापूर्वक किये जा सकते हैं, फिर साधु होने का प्रयोजन क्या है? जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिये साधु हुआ है, वह प्रयोजन इस प्रकार के आहार आदि लेने पर पूरा नहीं होता। इसी कारण आधाकर्मी आहार आदि का निषेध है।

बहुत-से लोग आजकल साधु होने का विरोध करते हैं और कई लोग उस विरोध में अक्षम्य टीका कर डालते हैं। वास्तव में ऐसी टीका होने का कारण साधु ही हैं। साधुओ ने ही इस प्रकार की टीका होने का अवसर दिया है। कई लोग साधु तो बन गये, किन्तु साधु का आचार ठीक तरह पालन नहीं करते। उन्हें देखकर ही लोग साधुपन का विरोध करते हैं। लेकिन सच्चा साधु इस प्रकार के विरोध से घबराता नहीं है। वह टीका सुन कर अपने आचार में और अधिक दृढ़ होता है। लोग कितना ही विरोध करें, मगर संसार साधुओं से रहित नहीं हो सकता। गृहस्थों में बहुत-से सुधारक हुए, फिर भी साधुओं की सदैव आवश्यकता रही है।

जिसके अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति दया का भाव प्रकट होगा, उसके लिए साधु होने के सिवा और कोई चारा ही नहीं है। बहुतेरे लोग मनुष्य को ही प्राणियों में गिनते हैं, और जीवों को वे जीव ही नहीं समझते! ईसाइयों

ने तो यहां तक कह दिया कि गाय में आत्मा ही नहीं है। उन्हें गाय मारकर खाना है, इसलिए गाय में आत्मा ही नहीं बतलाते। वास्तविक दृष्टि से मनुष्य में ही नहीं, वरन् अन्य प्राणियों में भी आत्मा है। यहां तक कि जंगम जीवों में ही नहीं, स्थावर जीवों में भी आत्मा है। वृक्ष में आत्मा नहीं होती तो वह बढ़ता कैसे? पत्थर भी बढ़ता है, उसमें भी जीव है। वनस्पति और पृथ्वीकाय में आत्मा का अस्तित्व जगदीशचन्द्र बसु ने सिद्ध किया है। जगदीशचन्द्र ने अब यह बात बतलाई, लेकिन शास्त्रकारों ने हजारों वर्ष पहले ही यह बात लिख दी है।

पृथ्वी, पानी आदि के सब जीवों पर दया उत्पन्न होने पर ही साधुत्व अंगीकार किया जाता है। गृहस्थावस्था में जंगम जीवों की ही थोड़ी–बहुत दया पाली जा सकती थी, स्थावर जीवों की नहीं। मगर स्थावर जीवों पर भी दया करने के लिए साधुता धारण की जाती है।

साधु होकर के भी जिसने अपने खुद के लिए बना हुआ आहार, वस्त्र पात्र आदि लिया उसने स्वयं हिंसा न करके दूसरे से करवाई। ऐसा करके वह पाप से नहीं बच सकता। वह प्राणीमात्र पर दया पालने वाला नहीं है। बल्कि ऐसा करके उसने दुगुना पाप किया– एक तो हिंसा का, दूसरा की गई प्रतिज्ञा के भंग का। इसलिए गौतम स्वामी पूछते हैं कि आधाकर्मी आहार लेने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ का कार्य अच्छा है या बुरा है? ऐसा करके वह क्या उपार्जन करता है? क्या विशेष उपार्जन करता है?

बन्ध चार प्रकार का होता है– प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभागबन्ध। इन चारों के विषय में गौतम स्वामी पूछते हैं कि वह क्या बांधता है? यह प्रश्न प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा से किया गया है।

इसके पश्चात् स्थिति की अपेक्षा से प्रश्न किया गया है कि आधाकर्मी आहार करने वाला क्या करता है? अर्थात् कैसी स्थिति वाले कर्म बांधता है? तदनन्तर यह प्रश्न किया गया है कि वह किसका चय करता है, अर्थात् कैसे अनुभाग (रस) वाले कर्म बांधता है? अन्त में प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से अथवा निकाचित कर्म की अपेक्षा से पूछा गया है कि आधाकर्मी आहार करने वाला किसका उपचय करता है?

प्रश्न होता है कि साधु अपने लिए बना हुआ आहार, वस्त्र और मकान नहीं लेता, यह तो ठीक है, क्योंकि गृहस्थों को इन चीजों की आवश्यकता रहती है, इस कारण साधु को भी मिल जाती हैं। लेकिन पात्र

तो गृहस्थ के काम नहीं आते। वे साधु के लिए ही बनाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में साधु पात्र कैसे ले सकते हैं?

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह प्रश्न उठ नहीं सकता, क्योंकि सिद्धान्त में स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु मिट्टी, तूंबा और लकड़ी – तीनों तरह के पात्र रख सकता है। इसलिये लड़की के पात्र रखने में सिद्धान्त संबंधी कोई बाधा नहीं है। साधु तूंबा और मिट्टी के भी पात्र रख सकते हैं। मिट्टी या तूंबे के पात्र हमारे लिये ही बनाये जाते हों, सो भी बात नहीं है। तूंबे लगते ही हैं और मिट्टी के पात्र गृहस्थों के भी काम आते हैं। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। लेकिन आप साधुओं के पास मिट्टी या तूंबे के पात्र कम देखते हैं और लकड़ी के पात्र, जिस ढांचे के साधुओं के पास होते हैं, उस ढांचे के गृहस्थ काम में नहीं लाते। इसी कारण यह प्रश्न उठता है। मगर उसके लिये साधुओं से पूछो कि वे पात्र कहां से लाते हैं? अगर वे साधु के लिये मोल खरीदे हुए पात्र लाते हों तो निस्संदेह दोष के भागी हैं। अलबत्ता दीक्षा लेने वाला वैरागी खुला हुआ है। वह अपने लिये मोल भी ले सकता है। साधु या तो उस वैरागी के पात्र, जब वह दीक्षा लेकर साधु होता है, लेता है या उससे बचे हुए काम में लाता है। साधु अपने लिए खरीदे हुए पात्र काम में नहीं ले सकता।

जो साधु आधाकर्मी आहार आदि का उपभोग करता है, उसे क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं– ऐसा साधु आयुकर्म की प्रकृति को छोड़कर शेष सात कर्मप्रकृतियों को, अगर पहले वे शिथिल बंधी हुई होती हैं तो उन्हें कठिन बांध लेता है। यह उत्तर प्रकृतिबंध की अपेक्षा से समझ लेना चाहिए।

अब स्थितिबंध के सम्बन्ध में कहते हैं। अगर उस मुनि ने पहले ढीली स्थिति का बंध किया है तो आधाकर्मी आहार करने से अब मजबूत स्थिति बांधता है। 'बंधई' और 'पकरई' में यही अन्तर है। 'बंधई' पद प्रकृतिबंध की अपेक्षा से है और 'पकरई' पद स्थितिबंध की अपेक्षा से है।

प्रश्न होता है– 'चिणई' और 'उवचिणई' में क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि 'चिणई' पद रसबंध (अनुभागबंध) की अपेक्षा से है और 'उवचिणई' पद प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से है। मतलब यह है कि पहले जो सामान्य कर्म थे, उन्हें निकाचित भी कर लेता है।

कर्मबंध की चार अवस्थाएं है– स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित। इन चारों का स्वरूप एक उदाहरण से समझने में सुभीता होगा। एक पर एक

सुइयां रक्खी हों तो वह सुई का पुंज है, परन्तु वह जरा–सा धक्का लगते ही बिखर जाता है। उसे स्पृष्ट कर्मबंध कहते हैं। इसी प्रकार जो कर्म थोड़े–से प्रयत्न करने से ही निर्जीर्ण हो जाते हैं, अर्थात् जो सुई के पुंज के समान हैं, उन्हें स्पृष्ट कहते हैं।

अगर उन सुइयों को किसी तागे में बांध दिया जाय तो वे किसी तरह की क्रिया–विशेष से ही खुल सकती हैं। इसी प्रकार जो कर्म थोड़ी क्रिया–विशेष से हट जाते हैं, वे बद्ध कहलाते हैं।

तीसरा निधत्तबंध ऐसा है, जैसे सुइयां भी खुल तो जाएंगी मगर किसी विशिष्टतर क्रिया से खुलेंगी। इसी प्रकार विशिष्टतर क्रिया से नष्ट हो सकने वाले कर्म को निधत्त कहते हैं।

चौथा निकाचितबंध है। सुइयों के पुंज को गर्म करके घन से ठोक दिया जाय, तो वे एकमेक हो जाती है। उनका बिखरना सम्भव नहीं है। फिर से सुई बनाने की क्रिया करने पर ही वे अलग हो सकती हैं। इस तरह जो कर्म और किसी भी क्रिया से नहीं छूटते हैं, उनका बंध निकाचितबंध है। निकाचित कर्म तप आदि किसी भी क्रिया से निर्जीर्ण नहीं होते।

'उवचिणइ' का अभिप्राय निकाचित कर्म से है। अर्थात् पहले जो सामान्य कर्म बांधे हैं, उन्हें निकाचित करना उपचय करना कहलाता है।

आधाकर्मी आहार भोगने वाला आयु को छोड़ और सब कर्मो का बंध करता है तथा निकाचित बंध भी कर लेता है।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी ने फिर पूछा– भगवन्! आधाकर्मी आहार भोगने वाला मुनि ऐसा कठिन कर्म क्यों बांधता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा– हे गौतम! उसने जो धर्म स्वीकार किया था, उसका उल्लंघन कर दिया। वह पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों की दया के लिए साधु हुआ था, लेकिन आधाकर्मी आहार करके वह पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक के जीवों का जीवन नहीं बांछता।

भीखमजी के अनुयायी तेरहपंथी कहते हैं– किसी जीव का जीना नहीं बांछना चाहिए। अन्यथा वह जीव जीवित रहकर जो पाप करेगा, उस जीवन बांछने वाले को वह पाप लगेगा। इस प्रकार कहकर वे सूयगडांग का 'जीवियं न वंछइ' पाठ बतलाते हैं। लेकिन भगवती सूत्र का यह पाठ स्पष्ट बतला रहा है कि आधाकर्मी आहार भोगने वाला जीवों का जीना नहीं बांछता, इसलिए अपने धर्म का उल्लंघन करता है और पाप का भागी होता है। क्या

पृथ्वीकाय के जीव साधु हैं, जो उनके जीवन की वांछा करने के लिए कहा है? तेरहपंथियों के मत के अनुसार साधु के सिवा और किसी का, अर्थात् असंयमी का जीवन वांछना पाप है और यहां बतलाया है कि आधाकर्मी आहार भोगने वाला पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक के जीवों का जीवन नहीं वांछता, इसलिए उसे निकाचित कर्म भी बांधने पड़ते हैं।

तेरहपंथी किसी के जीवन की वांछा न करने का उपदेश देते हैं, मगर ऐसा किये बिना किसी जीव की दया नहीं पाली जा सकती। दूसरे जीवों का जीवन चाहने वाला, जीवन चाहकर उन जीवों पर पाप नहीं करना चाहता, फिर उस जीव द्वारा किये हुए पाप जीवन चाहने वालों को कैसे लग सकते हैं?

भगवान् कहते हैं— गौतम! आधाकर्मी आहार भोगने वाला जीवों का जीवन नहीं चाहता और जिन जीवों के पुद्गल उसके काम में आये हैं, उनके प्रति वह अपराधी है, इसी कारण वह कठिन कर्म बांधता है और कठिन कर्म बांधकर संसार—परिभ्रमण करता है।

प्रासुक – एषणीय आहार

मूल पाठ –

प्रश्न – फासु–एसणिज्जं भंते! भुंजमाणे किं बन्धइ, जाव–किं उवचिणाइ?

उत्तर – गोयमा! फासु–एसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेति। जहासवुडेणं, नवरं–आउयं च णं कम्मंसिबंधई, सियनोबंधइ, सेसं तहेव, जाव वीइवयइ।

प्रश्न – से केणंट्ठेणं जाव–वीइवयइ?

उत्तर – गोयमा! फासुएसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नो अइक्कमइ, आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढविक्काइयं अवकंखति, जाव तसकायं अवकंखति; जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं अहारेइ, ते वि जीवे अवकंखइ, से तेणट्ठेणं जाव–वीइवयइ।

संस्कृत छाया

प्रश्न – प्रासुकैषणीयं भगवन्! भुंजानः किं बध्नाति, यावत्–उपचिनोति?

उत्तर – गौतम! प्रासुकैषणीयं भुंजानः आयुष्कवर्जाः सप्तकर्म प्रकृतीः दृढ़बन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति, यथा संवृतः। नवरम्–आयुष्कंचकर्म स्याद् बध्नाति, स्याद् नो बध्नाति। शेषं तथैव, यावत् व्यतिव्रजति।

प्रश्न – तत् केनार्थेन यावद् व्यतिव्रजति?

उत्तर – गौतम! प्रासुकैषणीयं भुंजानः श्रमणो निर्ग्रन्थः आत्मनो धर्म नातिक्रामति। आत्मनो धर्म अनतिक्रामन् पृथिवीकायिकम् अवकाङ्क्षति, यावत् त्रसकायम् अवकाङ्क्षति। येषामपि च जीवानां शरीराणि आहरति, तानपि जीवान् अवकाङ्क्षति तत् तेनार्थेन यावत् व्यतिव्रजति।

शब्दार्थ

प्रश्न – हे भगवन्! प्रासुक और निर्दोष आहार भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है? और यावत् किसका उपचय करता है?

उत्तर – हे गौतम! प्रासुक और निर्दोष आहार भोगने वाला (श्रमण निर्ग्रन्थ) आयुकर्म के अतिरिक्त सात मजबूत बंधी हुई कर्मप्रकृतियों को ढीली करता है। उसे संवृत अनगार के समान समझना। विशेषता यह है कि आयुकर्म को कदाचित् बांधता है और कदाचित् नहीं बांधता। शेष उसी प्रकार समझना यावत् संसार को पार कर जाता है।

प्रश्न – भगवन्! इसका क्या कारण है कि यावत् संसार को पार कर जाता है?

उत्तर – गौतम! प्रासुक और निर्दोष आहार भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अपने धर्म का उल्लंघन नहीं करता। अपने धर्म का उल्लंघन न करता हुआ वह श्रमण निर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय के जीवों का जीवन बांछता है, यावत् त्रसकाय के जीवों का जीवन बांछता है, और जिन जीवों के शरीरों का वह आहार करता है, उन जीवों का भी जीवन बांछता है। इस कारण यावत्– वह संसार को पार कर जाता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी ने पहले जो प्रश्न किया था, वही प्रश्न व्यतिरेक रूप में यहां किया गया है। जो श्रमण निर्ग्रन्थ आधाकर्मी आहार आदि नहीं भोगते, उनके विषय में यहां प्रश्न किया है।

कोई जीव किसी जीव को या मनुष्य को दुःख न देने की प्रतिज्ञा करे तो उस प्रतिज्ञा का ठीक तरह पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसा कोई काम न करे, जिससे उसे दुःख पहुंचता हो। जब तक ऐसे कामों को न छोड़ा जाय तब तक उसकी प्रतिज्ञा निभ नहीं सकती। जीव को या मनुष्य को केवल मारने–पीटने से ही दुःख नहीं होता, किन्तु अन्यान्य कारणों से भी दुःख पहुंचता है, और जब तक ऐसे कारण न त्यागे जाएं तब तक उसकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो सकती। अतएव ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले को ऐसे सब काम त्यागने होंगे, जिनसे किसी जीव को कष्ट पहुंचता है।

साधु पट्काय के जीवों को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा निभाने के लिए ही साधु हुआ है। अगर कोई गृहस्थ इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना चाहता है तो उसे साधु बनना ही होगा। साधु हुए विना उसका निभाव ही नहीं हो सकता।

कदाचित् कोई ऐसा विचार करे कि मैंने मनुष्य को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है, लेकिन कम न देने की प्रतिज्ञा नहीं की। ऐसा विचार कर वह कम तोल कर दे और उस मनुष्य को ऊपरी मीठी बातों से राजी भी कर दे, तो भी वह मनुष्य को कष्ट देने वाला है। क्योंकि केवल कष्ट पाने वाले की साक्षी से ही कष्ट देना नहीं कहलाता, किन्तु स्वयं की या ज्ञानी की साक्षी से उसने उसे कष्ट दिया है। इसलिए वह मनुष्य को कष्ट देने का अपराधी है।

मनुष्य को कष्ट न पहुंचाने की प्रतिज्ञा करने वाले को वे सारे ही कारण त्यागने होते हैं, जिनसे मनुष्य को कष्ट होता है। उदाहरण के लिए चाय को लीजिए। सुना जाता है कि चाय के लिए मनुष्य को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। चाय के बगीचों में ज्यादा काम लेने के लिए मजदूरों को बुरी तरह मारा–पीटा जाता है। यहां तक की कइयों का अंग–भंग हो जाता है और कभी–कभी कोई मर भी जाता है। अगर यह बात सत्य हो तो चाय पीने वाला मनुष्य भी मनुष्य को कष्ट देने वाला ठहरता है। वह यह कहकर अपना बचाव नहीं कर सकता कि मैं सिर्फ चाय पीता हूं, मनुष्य को कष्ट नहीं देता। जिस चाय के लिए मनुष्य को कष्ट होता है, उसका उपयोग करना मनुष्य को कष्ट पहुंचाना है। अगर चाय पीने वाले चाय न पीएं तो चाय के लिए किसी को कष्ट ही क्यों हो? यही बात मिल के वस्त्रों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। मिल में काम करने वालों की आयु कम हो जाती है। वे रोगग्रस्त होकर जल्दी ही मर जाते हैं। यद्यपि अज्ञान के कारण पैसे के लोभ में पड़कर वे इस बात का विचार नहीं करते, लेकिन मनुष्य को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा करने वाला मिल के वस्त्र नहीं पहन सकता। अगर वह पहनता है तो अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है। अगर पहनने वाले मिल के वस्त्र न पहनें तो वे बनाये ही क्यों जाएं? और उनके निमित्त से मनुष्यों को कष्ट पहुंचाने वाले कारणों का त्याग न किया जाय, तब तक कष्ट न पहुंचाने की प्रतिज्ञा का पालन नहीं होता।

जो श्रमण निर्ग्रन्थ किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाने की अपनी प्रतिज्ञा का भली–भांति पालन करते हैं, उन्हें क्या फल प्राप्त होता है? इसी विचार से गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है कि प्रासुक और एषणीय आहार आदि को भोगने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को किस फल की प्राप्ति होती है?

संक्षेप में प्रासुक का अर्थ है– अचित् या निर्जीव। साथ ही उस वस्तु से भी अभिप्राय है, जिसका सम्बन्ध किसी जानदार से नहीं है। अर्थात् जो

वस्तु स्वयं अचित् हो और सचित्त के साथ जिसका संयोग न हो, वह प्रासुक कहलाती है। वड़े दोष से रहित वस्तु को एषणीय कहते हैं। सचित् या सचित् से लगी हुई वस्तु अप्रासुक है। ऐसी अप्रासुक वस्तु साधु के लिए ग्राह्य नहीं होती। जैसे होम्योपैथिक दवाई किसी तेज गंध वाली एलोपैथिक दवा के सन्निकट रखी जाय तो वह बेकाम हो जाती है। इस प्रकार जो वस्तु स्वयं प्रासुक है, मगर अप्रासुक से लगी हुई है तो वह साधु के काम की नहीं। गौतम स्वामी का प्रश्न है कि जो साधु बयालीस दोष रहित प्रासुक और एषणीय आहार करता है, उसे क्या फल होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है– गौतम! या तो वह उसी भव में मोक्ष जाता है या कर्म शेष हों तो गाढ़ी बंधी हुई सात प्रकृतियों को ढीली करता है। वह आयुकर्म कभी बांधता है और कभी नहीं बांधता। लेकिन गाढ़ी प्रकृतियों को ढीली तो करता ही है।

यहां यह शंका की जा सकती है कि शास्त्र के कथनानुसार किये हुए कर्म भोगे बिना नहीं छूट सकते। ऐसी अवस्था में जप, तप करना और साधु होना वृथा ही क्यों नहीं ठहरता है? कहा भी है :–

कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।

अर्थात् किये कर्मों से भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र का पूर्वोक्त कथन निकाचित कर्म की अपेक्षा से है। निकाचित कर्म भोगे बिना नहीं छूटते, पर उनमें स्थितिघात और रसघात तो होता ही है।

कुछ लोगों का कथन है कि आहार किसलिये बनाया है, क्यों बनाया है, कैसा है, इन पचड़ों में साधु को पड़ने की क्या आवश्यकता है? किसी के लिये क्यों न बनाया गया हो और कैसा भी हो, साधु को समभाव से ले लेना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि साधु को ज्ञानी होना चाहिये या अज्ञानी ही रहना चाहिये? अगर पूछताछ करने का निषेध किया जाय तो इसका अर्थ होगा, साधु को अज्ञानी रहना चाहिये। अज्ञानवादियों की मान्यता है कि अनजान को कम पाप लगता है और जानकार को ज्यादा पाप लगता है, इसलिये अनजान रहना ही अच्छा है। लोक–व्यवहार में भी जानबूझ कर अपराध करने वाले की अपेक्षा अनजान में अपराध करने वाले को कम दंड मिलता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञान ही पाप का कारण ठहरता है। जिसे ज्ञान नहीं है उसे पाप भी नहीं लगता।

ऐसा कहने वाले अज्ञानवादियों से पूछना चाहिए कि 'अज्ञान अच्छा है और ज्ञान बुरा है', यह ज्ञान तुमने क्यों प्राप्त किया है? और इस ज्ञान का प्रचार क्यों करना चाहते हो? एक तरफ तुम अज्ञान को अच्छा बतलाते और दूसरी तरफ ज्ञान का प्रचार करते हो, क्या यही विवेकशीलता है? इसके अतिरिक्त अनजान में पाप करने वाले को न्यायधीश कम दण्ड देता है, सो वह न्यायाधीश यह निर्णय ज्ञान से करता है या अज्ञान से कि 'इसने अनजान में अपराध किया है?' अज्ञान से निर्णय नहीं किया जा सकता। निर्णय करने का काम ज्ञान से ही सम्पन्न हो सकता है। अतएव यह कहना मिथ्या है कि अज्ञान रहने से पाप टल जाता है। इसके सिवाय जानकर हिंसा करना जानकारी नहीं है, किन्तु जानकर हिंसा से बचना ही सच्ची जानकारी है।

यहां प्रसंगवश एक बात याद आ गई। मैंने दक्षिण में ईसाइयों की एक पुस्तक में पढ़ा था कि हिन्दू लोग अन्न और जल में जीव मानकर ज्यादा पाप करते हैं। उसमें यह लिखा था हम और तुम बकरे में एक ही जीव मानते हैं और आप अनाज के एक–एक दाने में, पानी की एक–एक बूंद में जीव मानते हैं। इस हिसाब से हम लोग एक जीव – बकरा – मारकर दस–बीस आदमियों का पेट भरते हैं और तुम हजारों दानों के हजारों जीवों की हिंसा करते हो। अनाज पैदा करने में और उसे तैयार करने में कितना ज्यादा पाप होता है! पहले तो जमीन खोदने में ही पाप होता है। फिर उसमें दाने डालते हो और दानों में भी जीव मानते हो, इसलिये दानों का भी पाप लगता है। फिर खेती को पानी पिलाते समय पानी के जीवों का पाप होता है। पौधा बड़ा होता है तब उसमें आ–आकर कितने ही जीव मरते हैं। अनाज पीसने में और रोटी बनाने में जीवहिंसा होती है। यह सब पाप भी लगता है। इस प्रकार अन्न खाने में हिंसा ही हिंसा होती है और बकरा खाने में केवल एक जीव की हिंसा होती है और दस–बीस आदमियों का पेट भर जाता है।

उस पुस्तक में विस्तार के साथ यह हिसाब बतलाया गया है। उसे पढ़कर कोई साधारण आदमी यही समझ बैठेगा कि बात ठीक है, लेकिन यह सब कथन गम्भीरतापूर्वक विचार न करने का फल है। इसका उत्तर मैंने इस प्रकार दिया था–

गृहस्थ लोग मोटी हिंसा का त्याग कर सकते है, छोटी हिंसा का त्याग करना उनके लिये शक्य नहीं है, इसलिये गृहस्थ अन्न आदि की छोटी हिंसा से बना हुआ भोजन करते हैं। साधुओं ने छोटी हिंसा भी त्याग दी है। वे छोटी–सी हिंसा भी नहीं करते, किन्तु भिक्षा मांगकर खाते हैं। जो छोटी

हिंसा नहीं त्याग सके, वे अन्न पकाकर खाते हैं, लेकिन आप तो अपना ही पक्ष भूल रहे हैं। आप बकरा खाने में कम पाप बतलाते हैं और अनाज की पैदाइश आदि का हिसाब लगाकर अनाज खाने में ज्यादा पाप बतलाते हैं। अगर अनाज पाप करने से पैदा हुआ है तो बकरा क्या आसमान से टूट पड़ा है? वह आसमान से नहीं आया। अनाज आबी (पानी की) नस्ल है और बकरा पेशाबी नस्ल है। आबी नस्ल और पेशाबी नस्ल में कितना फर्क है, यह बात हम तो जानते ही हैं, लेकिन मुसलमान से पूछो तो उससे भी मालूम हो जाएगा। मुसलमान लोग पेशाब का एक छींटा लग जाए तो भी उसे नापाक होना मानते हैं, और उसे पानी से ही साफ करते हैं। ऐसी हालत में जो आदमी आबी नस्ल और पेशाबी नस्ल को एक मानता है, उसे क्या कहा जाय? वह मानों पानी और पेशाब को ही एक मानता है।

अनाज की पैदाइश का हिसाब लगाने वाले बकरे की पैदाइश का हिसाब क्यों नहीं लगाते? बकरा जब बकरी के गर्भ में आया तब उसे बकरी के आहार में से आहार मिला। बिना आहार किये गर्भ जीवित ही नहीं रह सकता। बकरी ने पाला, अनाज, पानी आदि खाया–पीया है और उससे गर्भ को आहार मिलता है। तभी गर्भ बढ सका है। इस प्रकार बकरी के गर्भ में रहने पर पाले, पानी आदि की हिंसा हुई ही। फिर बकरा जब पैदा होकर दूध पीने लगा तो पाले, पानी, अनाज आदि की हिंसा हुई, क्योंकि इन्हीं चीजों से दूध बनता है। जब बकरा कुछ और बढ़ा तो वह अनाज खाने लगा, पाला खाने लगा, पानी तो वह पीता ही था। ऐसा करते–करते ही वह बड़ा हुआ। अब बकरे के लिए जो हिंसा हुई, उसका हिसाब लगाओ। वह अनाज की हिंसा से कितनी अधिक है! यह हिसाब लगाने पर मालूम होगा कि ज्यादा पाप अन्न खाने में है या बकरा खाने में?

आबी पैदाइश में जीव है, यह तो सच है, लेकिन पेशाबी पैदाइश के जीवों में जितनी स्पष्ट चेतना है, उतनी स्पष्ट उसमें नहीं है। पेशाबी पैदाइश को मारने में ज्यादा कठोर और उग्र परिणाम अपेक्षित हैं। इसलिए उसकी हिंसा से पाप भी अधिक लगता है।

अन्न पैदा करके खाने वाले गृहस्थ भी अन्न खाने में हिंसा मानते है, लेकिन अन्न सकारण खाया जाता है। गृहस्थ का उद्देश्य शरीर की रक्षा करना है और जीव की रक्षा करना भी है। संसार में बैठे हुए लोग गृहस्थ हैं और शरीर की रक्षा का इससे कम हिंसा वाला और कोई उपाय नहीं है। इसीलिये लाचार होकर अन्न खाना पड़ता है। लाचार होकर काम करने में और मस्ती

से काम करने में कोई अन्तर है या नहीं? लाचार होकर पाप करने में और मस्ती में आकर पाप करने में अन्तर है। अन्न लाचारी की हालत में खाना पड़ता है। स्वयं की हिंसा भी पाप है और दूसरे की हिंसा भी पाप है। ऐसी दशा में कोई भी गृहस्थ सर्वथा निष्पाप कैसे रह सकता है? इसका एक ही उपाय है कि शरीर–नाश की महाहिंसा से बचने के लिये गृहस्थ वही काम करता है, जिससे कम से कम हिंसा हो। मान लीजिये, आपको दुकान चाहिये। भाड़ा दिये बिना दुकान मिलती नहीं है और दुकान बिना आमदनी नहीं होती। उस दशा में आप यही करेंगे कि दुकान का कम से कम भाड़ा लगे। यानी आप कम से कम खर्च में दुकान करना चाहेंगे। इसी प्रकार गृहस्थ लोग भी अपने शरीर की रक्षा के लिये कम खर्च में होने वाली दुकान की तरह अनाज खा कर कम हिंसा में पेट भरते हैं और शरीर की रक्षा करते हैं। इससे कम हिंसा वाला कोई उपाय नहीं है। अर्थात् इससे कम पाप से शरीर की रक्षा होने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये अनाज खाना तो कम खर्च में काम चलाने के समान है और आपका बकरा खाना उड़ाऊपन के समान है। एक ओर लाचारी है और दूसरी ओर महाहिंसा के कारण घोर पाप है।

अगर यह कहा जाय कि बकरा खाना भी लाचारी है, तो यह बात गलत है। क्योंकि तुम अनाज भी खाते हो और बकरा भी खाते हो। क्या तुम केवल बकरा खाकर ही रह सकते हो? केवल अनाज खाकर तो करोड़ों आदमी जीते हैं, लेकिन केवल बकरा खाकर कितने आदमी जी सकते हैं? और कितने आदमी पानी के बदले बकरे के रक्त पर जीवित रह सकते हैं?

इसके अतिरिक्त मनुष्य के लिये अनाज खाना स्वाभाविक है। मांस खाना अस्वाभाविक है। मनुष्य–शरीर में मांस को पचाने के योग्य आंतें ही नहीं हैं। मांसाहारी और शाकाहारी प्राणी की शक्ल में भी अन्तर पाया जाता है। बन्दर को मांस दिया जाय तो वह नहीं खाएगा। ऐसी हालत में उसी की शक्ल का मनुष्य कैसे मांस खा सकता है? तीसरे, मांसाहारी जीव जीभ से पानी पीते हैं और शाकाहारी जीव होंठों से पानी पीते हैं। चौथे, मांसाहारी जीव के दांत कील की तरह नुकीले होते हैं और शाकाहारी के दांत चपटे होते है। इसी प्रकार मांसाहारी के नाखून भी तीखे होते हैं और शाकाहारी के तीखे नहीं होते। अब ईसाई या दूसरे मांसाहारी लोग अपने लिए विचार करें कि वे किस शक्ल के हैं? उनकी शक्ल मांसाहारियों जैसी है या शाकाहारियों जैसी है? जब आप में मांस खाने–पचाने के योग्य दांत–आंत वगैरह कुछ नहीं

चारित्रधर्म का उल्लंघन नहीं करता है, वरन् उनका पूरी तरह पालन करता है। इसी कारण वह मोक्ष पाता है अथवा गाढ़ी बंधी हुई प्रवृत्तियों को करता है। प्रासुक और एषणीय आहार आदि भोगने का प्रयोजन यह है कि किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचे। जो जीव आंखों से दीखते हैं उन्हें भी कष्ट न हो और जो आंखों से न दीखते हों, उन्हें भी कष्ट न हो। इसी प्रयोजन से उन्होंने साधुपन ग्रहण किया है। और इसी प्रयोजन से वे प्रासुक एवं एषणीय आहार आदि भोगते हैं। उनकी अहिंसा में सूत्रधर्म और चारित्रधर्म समा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि उसने चारित्रधर्म तो स्वीकार किया है, लेकिन पूरी तरह सूत्रधर्म कहां पालता है? इसके उत्तर में टीकाकार कहते हैं– उसमें किसी की जरा भी हिंसा न हो, इस बात को स्वीकार किया है और वह इसका पालन भी करता है, इसीलिये वह समस्त सूत्रधर्म को पालने और स्वीकार करने वाला है, क्योंकि किसी जीव को कष्ट न पहुंचाना ही सूत्रधर्म का सार है। सार को प्राप्त कर लेने पर समग्र की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान का सार मोक्ष प्राप्त कर लेता है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिये सारा ही ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये उसने सूत्रधर्म के सार–रूप भूतदया को स्वीकार किया, इसलिये यही कहा जायगा कि उसने सारा ही सूत्रधर्म स्वीकार किया है।

सार ग्रहण कर लेने पर भी वह वस्तु, जिसका सार ग्रहण किया है, ग्रहण करनी पड़ती है। सूत्रधर्म का सार – किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना– ग्रहण किया, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अब ज्ञान की आवश्यकता नहीं रही। मक्खन ग्रहण कर लेने पर भी दही या छाछ की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार सार ग्रहण करने पर भी सूत्रधर्म की आवश्यकता है। प्रासुक और एषणीय भोगने वाला मुनि सूत्रधर्म का सार ग्रहण कर लेने पर भी सूत्र–चारित्रधर्म को नहीं त्यागता, किन्तु उसके अनुसार ही आत्मा को रखता है।

कोई साधु सब जीवों की दया के लिये साधु हुआ था, लेकिन उसे तरह–तरह के भोजन की इच्छा हुई। इस कारण वह छःकाय के जीवों की विराधना करके आहार करने लगा। इस तरह जिस प्रयोजन के लिये वह उठा था, उस प्रयोजन को उसने सिद्ध नहीं किया। बल्कि उसने विपरीत काम किया। लेकिन जो ऐसा नहीं करता और पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय के जीवों का जीवन वांछता है, वह जो आहार करता है, वह आहार जिन जीवों के शरीर का बन हुआ है, उन जीवों की भी दया की वांछा करता है।

प्रश्न होता है– जिन जीवों के शरीर से बना हुआ आहार साधु करता है, उन जीवों की दया का वांछक वह कैसे हो सकता है? चाहे वह आहार साधु के लिए न बना हो, किन्तु गृहस्थ ने अपने ही लिये बनाया हो, तब भी आहार बना है जीवों के शरीर से ही। और साधु जब उन जीवों के शरीर से बना हुआ आहार खाता है तो वह उन जीवों की दया किस प्रकार बांछता है?

शास्त्र में साधु को भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर फूल पर जाता है, उनका रस–पान करता है, लेकिन फूल को कष्ट नहीं होने देता। वह फूल को कष्ट नहीं पहुंचने देता, इसी कारण उसकी फूल के साथ प्रीति कही जाती है और भ्रमर को लोभी नहीं कहा जाता। यदि भ्रमर लोभी होता तो फूल को कष्ट भी पहुंचाता, उसे तोड़–मरोड़ डालता। लेकिन वह लोभी नहीं है। इसी कारण फूल का रस ले लेता है और फूल को कष्ट नहीं पहुंचने देता। भ्रमर की फूल के साथ कैसी प्रीति है। यह बात एक कल्पना से समझिए।

नहीं बाड़ी नहीं केतकी, नहीं फूलन का ढंग।
मूं थने पूछूं हे सखि! भमरो भशमी लगावत अंग।।1।।

कुछ सखियां पानी भरने के लिये जा रही थी। उनमें से एक चतुर सखी ने अपनी दूसरी सखियों से कहा– मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि यहां न तो बाग है, न फूल, न केतकी है। फिर यह भ्रमर यहां राख में क्यों लोट रहा है? क्या यह भूल गया है?

पहले थी यहां केतकी जल गई दव के संग।
प्रीत निभावण हे सखि! भमरो भशमी लगावत अंग।।2।।

तब दूसरी सखी ने कहा– सखि! यह भ्रमर भूला नहीं है। यह अपनी प्रीति का परिचय दे रहा है। इस राख की जगह पहले केतकी थी, जो अब जल गई है। इस भ्रमर ने कई बार उसकी सुगंध ली थी। इसी कारण यह भ्रमर उस केतकी की राख में लोटकर उसके प्रति अपनी प्रीति प्रकट कर रहा है।

ऐसा था तो क्यों रहा जलता न उसके संग।
शीतल जायण हे सखि! भमरो भशमी लगावत अंग।।3।।

पहली सखी ने उत्तर दिया– यह बात मिथ्या है! जब केतकी जल रही थी, तब यह उससे दूर रहा और अब उसकी राख में लोटता है। यह भी कोई प्रीति है? अगर इसे केतकी के प्रति सच्ची प्रीति थी तो इसको केतकी के साथ उसी प्रकार जल जाना चाहिए था जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रियां, पतिप्रेम में विह्वल होकर पति के साथ जल मरती हैं। यह भ्रमर केतकी के

साथ तो जला नहीं और अब उसकी राख में लोट रहा है। यह प्रीति का परिचय देना नहीं, प्रीति को लजाना है।

पहिले वह यहां था नहीं, जलता उसके संग।
प्रीत निभावण हे सखि! भमरो भशमी बुहावत गंग।।4।।

तब दूसरी सखी ने कहा– सखी, तुम इसकी प्रीति को नहीं जानती। इसी से ऐसा कह रही हो। जिस समय केतकी जली, उस समय यह केतकी के पास होता तो उसके साथ ही जल मरता। लेकिन उस समय यह पास नहीं था। उस समय न जाने यह कहां गया था और अब लौटकर आया है। इसी कारण जिस केतकी की सुगंध इसने ली थी, उसका स्मरण करके उसकी राख में लोट रहा है। मानों उसकी राख अपने पंखों में भर कर गंगा में बहाने ले जाता है। जिस प्रकार अपने आत्मीय जनों की क्रिया की जाती है। उसी तरह केतकी की क्रिया करके अपनी प्रीति का परिचय दे रहा है।

भ्रमर की फूल के साथ जो प्रीति होती है, उसके लिये यहां तक कल्पना की गई है। मतलब यह है कि भ्रमर की फूल के साथ प्रीति होती है, इसी कारण वह फूलों का रस लेता हुआ भी उन्हें पीड़ा नहीं पहुंचाता।

साधु को भी भ्रमर की उपमा दी गई है। जैसे भ्रमर के लिये केतकी है, उसी प्रकार साधुओं के लिए षट्काय के सभी जीव हैं। षट्काय के जीवों की रक्षा के लिये ही वे साधु होते हैं और देश–देशान्तर में भ्रमण करके जीव–रक्षा का ही उपदेश देते हैं।

कहा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो फिर साधु लोग संथारा ही क्यों नहीं कर लेते? वे संथारा करके मर जावें और छहकाय के जीवों के शरीर से बना हुआ आहार न खावें तो हम समझें कि दरअसल साधुओं को छहकाय के जीवों से प्रीति है। मरते तो है नहीं और जीवों के शरीर से बना हुआ आहार–पानी भी भोगते हैं। जिस प्रकार गृहस्थ हट्टे–कट्टे हैं, उसी प्रकार साधु भी हट्टे–कट्टे दिखाई देते हैं, फिर यह कैसे माना जाय कि साधु उन जीवों की दया चाहते हैं? और उनकी उन जीवों के साथ प्रीति है?

इसके उत्तर में भव्य जन कहते हैं। – साधु जीवित क्यों रहते हैं, यह जान लेना चाहिये। अगर साधु जीवित न रहते तो जीवों की पहचान कौन कराता? जीव–दया का उपदेश कौन देता? साधु जीव–दया के लिये जीवित रहते हैं और इस कारण वे उन जीवों के शरीर से बना हुआ आहार लेते हुए भी यह नहीं कहते कि हमें और दो। उलटा यही कहते हैं कि थोड़ा दो। देने

वाला दो रोटियां देगा तो साधु उससे एक रोटी ही लेना चाहेगा। इस प्रकार साधु उन जीवों की दया रखते हैं कि कहीं हमारे लिए आहार न बने और हमारे लिए जीवों को कष्ट न हो।

गौतम स्वामी से भगवान् कहते हैं– हे गौतम! साधु सब जीवों का जीवन बांछता है, सब जीवों पर दया करता है, इसलिए प्रासुक, एषणीय आहार आदि भोगने वाला मोक्ष जाता है या गाढ़ी बंधी हुई कर्मप्रकृतियों को ढीली कर डालता है।

तेरापंथी लोग कहते हैं कि जीवों का जीना–मरना बांछना धर्म नहीं है, सिर्फ तरना बांछने में धर्म है। लेकिन शास्त्र में कहा है कि आधाकर्मी आहार आदि न भोगने वाला और प्रासुक, एषणीय भोगने वाला पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक के सब जीवों का जीना बांछता है। पृथ्वीकाय आदि के सभी जीव साधु नहीं हैं, फिर भी उनकी दया बांछता है और उनकी दया के लिए ही साधु यह पूछता है कि यह आहार हमारे लिए तो नहीं बनाया है? तेरहपंथी कहते हैं– तुम जीवों का जीना बांछते हो और जीव असंयत हैं, इसलिए वे जीवित रहकर जो आरम्भ–समारम्भ आदि पाप करेंगे, उस सबका पाप तुम्हें, अर्थात् बचाने वाले को लगेगा। उदाहरणार्थ, तुम अपने लड़के का जीना बांछते हो तो उसे नहलाना–धुलाना भी पड़ता है। अगर इसी को दया कहा जाय तो ऐसी दया गृहस्थ रोज ही करता है, इसके लिए साधु होने की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर यह है कि मोह से दूसरे जीवों की हिंसा करना मोह और हिंसा ही हैं, मगर दया से करने वाले को दया का भी लाभ होता है। गृहस्थ की दशा एकांगी होती है। उसमें पूर्णता लाने के लिए ही साधुता स्वीकार की जाती है। मान लीजिए, किसी पिता के छह पुत्र हैं। वह अपने एक लड़के को पोसता है और पांच लड़कों को थप्पड़ लगाता है तो उसकी दया लंगड़ी है। एक लड़के पर की जाने वाली दया है तो दया ही, मगर वह एकांगी है। वह सब पर बराबर दया नहीं है। यही बात साधु के लिए भी है। अर्थात् गृहस्थावस्था में मनुष्य सब जीवों पर समान रूप से दया नहीं करता, इसीलिए उसने साधुपन लिया है जिससे समस्त प्राणियों पर समान भाव से दया की जा सके।

कोई कहता है कि अगर साधु सब जीवों का जीवन बांछते हैं तो वे किसी जीव को अपने पास का आहार–पानी क्यों नहीं देते? इसका उत्तर

यह है कि जो आहार–पानी लाया है, वह सब जीवों की दया के लिए ही है और देने वाले ने भी इसीलिए दिया है कि यह आहार–पानी खा–पीकर साधु सब जीवों की दया करेंगे। इस प्रकार साधु अपने ही लिए आहार–पानी लाये हैं, किसी दूसरे के लिए नहीं। अगर वह दूसरे को दे देते हैं तो देने वाले के प्रति विश्वासघात होता है। इस कारण साधु दूसरे को आहार–पानी नहीं देते।

साधु अपने आहार के लिए किसी जीव को कष्ट नहीं देते, यह बात तो हुई। लेकिन गृहस्थ भी, जो अपने लिए कम से कम हिंसा होने देता है, धर्मात्मा कहलाता है।

गृहस्थ और साधु का धर्म अलग–अलग है और वृत्ति भी अलग–अलग है। वृत्ति और धर्म में भी अन्तर है। जीवन–निर्वाह के उपाय को वृत्ति कहते हैं और मर्यादा का पालन करना धर्म है। वृत्ति तो पशुओं में भी पाई जाती है। सच्चा मनुष्य वही है जो मर्यादा का पालन करता है। मर्यादा–पालन करते समय गृहस्थ होने का बहाना बनाकर छुटकारा पाना उचित नहीं है। बहाना बनाने वालों से रघुनाथजी महाराज कहा करते थे– गृहस्थ तो कुत्ता भी है। अगर धर्म न पाला तो तुममें और कुत्ते में क्या अन्तर रहा? अपने–आप को 'गृहस्थ हूं' कहकर मर्यादा का लोप करना बुरा है। यह तो गृहस्थपन को और लजाना है, मनुष्यता को न समझना है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपने–अपने धर्मनियमों का पालन करना चाहिए। यह ठीक है कि आप गृहस्थी में रहते हुए साधुओं के नियमों का पालन नहीं कर सकते, मगर गृहस्थ का धर्म भी तो बतलाया है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रत गृहस्थाश्रम का धर्म है। इस गृहस्थ धर्म का पालन न करने पर मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रहा?

आज ब्राह्मणों ने ब्राह्मणवृत्ति, क्षत्रियों ने क्षत्रियवृत्ति, वैश्यों ने वैश्यवृत्ति और शूद्रों ने शूद्रवृत्ति तो मानली है, मगर इन चारों वर्णों के साथ जो सामान्य धर्म बतलाया गया था, उसे लोग भूल गये है। सिर्फ वृत्ति को पकड़ बैठे हैं। परन्तु वृत्ति तो पशुओं में भी पाई जाती है। पशु भी भूख लगने पर भोजन करता है और नींद आने पर सो जाता है। अगर सिर्फ यही वृत्तियां मनुष्यों में भी रहीं तो मनुष्य में पशुओं की अपेक्षा विशेषता क्या रही?

जब साधु इन वृत्तियों के फेर में पड़ जाता है तो उसका पतन आरम्भ होता है। और वह आधाकर्मी आहार आदि का सेवन करने लगता है। आधाकर्मी आहार करने से साधु को संसार–भ्रमण करना पड़ता है। इसके

विरुद्ध जो अपने धर्म का अतिक्रमण नहीं करता, वह संसार का छेदन करता है। जो पुरुष स्थिर होता है वह धर्म से नहीं गिरता और अस्थिर पुरुष धर्म से गिर जाता है। धर्म से गिरना और नहीं गिरना, अस्थिरता और स्थिरता पर आश्रित है। प्रस्तुत सूत्रों में अस्थिरता और स्थिरता का ही वर्णन किया गया है। अतएव आगे गौतम स्वामी स्थिरता और अस्थिरता के विषय में प्रश्न करते है।

स्थिर–अस्थिर व्याख्या

मूलपाठ

प्रश्न – से णूणं भंते! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ? सासए बालए, बालियत्तं असासयं सासए पंडिए, पंडियत्तं असासयं?

उत्तर – हंता, गोयमा! अथिरे पलोट्टइ, जाव–पडियत्तं असासय। सेवं भंते!

सेवं भंते त्ति जाव–विहरइ।

संस्कृत–छाया

प्रश्न – तद् नूनं भगवान्! अस्थिरः प्रलोटति, नो स्थिरः प्रलोटति, अस्थिरो भज्यते, नो स्थिरो भज्यते? शाश्वतः बालकः, बालिकत्वं (बालत्वं) अशाश्वतम्, शाश्वतः पण्डितः पण्डितत्वम् अशाश्वतम्?

उत्तर – गौतम! अस्थिरः प्रलोटति, यावत्–पण्डितत्वम् अशाश्वतम्।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवान्! यावत्–विहरति ।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नहीं बदलता? अस्थिर पदार्थ भंग होता है और स्थिर पदार्थ भंग नहीं होता? बालक शाश्वत है? बालकपन अशाश्वत है? पंडित शाश्वत है? पंडितपन अशाश्वत है?

उत्तर – गौतम! अस्थिर पदार्थ बदलता है और यावत् पंडितपन अशाश्वत है।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है ! हे भगवान् यह इसी प्रकार है। ऐसा कह कर यावत् विचरते है।

व्याख्यान–

'हे भगवन् ! क्या अस्थिर पदार्थ पलटता है?' यह प्रश्न करके गौतम स्वामी हम बाल–जीवों के वकील बने हैं। वे भगवान् महावीर के सामने हम लोगों की वकालत कर रहे हैं। कोई न समझने वाला आदमी अदालत में अपनी तरफ से वकील कर लेता है और वह वकील अपने मवक्किल की दलीलें हाकिम को समझाता है। वे दलीलें यद्यपि मवक्किल की हैं, मगर मवक्किल हाकिम को समझा नहीं सकता, इस कारण वकील समझाता है।

गौतम स्वामी स्वयं ज्ञानी थे। केवली नहीं थे, फिर भी केवली के समान थे। उनके मन में किसी तरह की शंका नहीं थी। उन्हें अपने लिये कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन उन्होंने बाल–जीवों की दया के लिये भगवान् से प्रश्न किये हैं। हम लोग न तो इस प्रकार भगवान् से प्रश्न ही कर सकते थे और न आज भगवान् हैं ही कि उनसे प्रश्न करने का सुयोग मिले। गौतम स्वामी ने हमारे ऊपर असीम दया करके ये प्रश्न किये, और आज भी हम उनसे लाभ उठा सकते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! क्या निश्चय से अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता? यह प्रश्न यों तो सरल–सा मालूम होता है। सब लोग कह सकते हैं कि अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता। जो पलटे वह अस्थिर और जो न पलटे वह स्थिर कहलाता है। फिर गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न क्यों किया? मगर यह प्रश्न क्यों किया गया है और इसका तात्त्विक अभिप्राय क्या है, यह बात टीकाकार ने स्पष्ट कर दी है।

गौतम स्वामी द्वारा किये हुए 'अथिरे पलोट्टइ' इस प्रश्न के दो अर्थ होते हैं– व्यावहारिक और पारमार्थिक (आध्यात्मिक)। व्यवहार में भी पलट जाने वाला अस्थिर कहलाता है और जो नहीं पलटता है वह स्थिर कहलाता है। अस्थिर गोलमटोल पाषाण के समान होता है, जिसे जिस ओर धक्का लगा, उसी ओर लुढ़क गया। लोक में उसे बिना पैंदे का लोटा कहते हैं। जरा–सा टल्ला लगने की जरूरत है कि उसे लुढ़कते देरी नहीं लगती। वह टल्ला लगने से लुढ़कता है, फिर गोल होने के कारण स्वयं ही गति करता जाता है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से अस्थिर पलटता है।

दूसरा अर्थ आत्मा के विषय में है। गौतम स्वामी का यह प्रश्न व्यावहारिक उदाहरण लेकर आध्यात्मिक विषय में घटित होता है। यहां प्रश्न का आशय यह है कि आध्यात्मिक चिंता में कर्म प्रतिसमय चलायमान हैं? अर्थात् कर्म अस्थिर है और वे पलटते रहते है?

वहुत–से लोग यह समझते हैं कि किये हुए कर्म भोगने पर ही छूटते हैं। वहुत–से लोग कष्ट के समय यह कहते सुने जाते हैं कि किये कर्म भोग रहे हैं। किसी अंश में तो यह कथन ठीक भी है, लेकिन सर्वांश में सत्य नहीं है। अगर विना भोगे कर्म छूटते ही न हों तो कोई जीव मोक्ष ही नहीं पा सकता। क्योंकि जो कर्म वांधे हैं, उन्हें भोगना ही पड़ेगा और उन्हें भोगने में नये कर्मों का वंध होगा। ऐसी दशा में मोक्ष कैसे हो सकेगा? फिर संयम लेना, दान, मान आदि करना सब व्यर्थ ठहरेगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर्म दो प्रकार से भोगे जाते हैं– विपाक से और प्रदेश से । जो कर्म प्रदेश में तो आ चुके हैं और विपाक में आने वाले हैं, उन्हें तपस्या आदि के द्वारा प्रदेश में ही भस्म किया जा सकता है। इससे वहुत काल में भोगे जाने वाले कर्म थोड़े ही काल में भोगे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ किसी आदमी ने घास का ढेर लगाया। अगर वह ढेर यों ही रहे तो वहुत समय तक रहेगा और बहुत दिनों वाद नष्ट होगा। लेकिन उसमें अगर आग की एक चिनगारी रख दी जाय तो वहुत काल में नष्ट होने वाला वह घास थोड़ी ही देर में भस्म हो जायगा। नष्ट तो वह होता ही, मगर आग न लगाने से वहुत काल में नष्ट होता और आग लगाने पर जल्दी नष्ट हो गया। यही वात कर्म के विषय में समझनी चाहिये। भक्तों ने कहा है –

पाप–पराल को पुंज बन्यो अति मानहु मेरु आकारो।
ते तुम नाम–हुतासन सेती सहजहिं प्रज्वलित सारो

।। पदम.।।

पाप का पुंज चाहे मेरु के समान ही क्यों न हो, उसमें तप, दान आदि की जरा–सी चिनगारी पड़ जाय तो वह पाप–पुंज घास के ढेर के समान थोड़ी ही देर में जल जाता है। इसलिये ज्ञानीजन कहते है कि हे आत्मा ! तू तप, नियम आदि की छोटी–सी चिनगारी छोड़ दे तो कर्म भस्म हो जाएंगे। अर्थात् प्रदेश में उदय आये हुए कर्म प्रदेश में ही भस्म हो जाएंगे। विपाक में उनका अनुभव नहीं करना पड़ेगा।

यहां गौतम स्वामी के प्रश्न का अभिप्राय यह है कर्म अस्थिर हैं, इसलिये वे चलायमान हैं? जैसे घास का नाश तो यों भी होता है, मगर बहुत दिनों में होता है, तथापि नप्ट होने के कारण अस्थिर तो है न? और जो अस्थिर है वह चलायमान है। कर्म अस्थिर हैं, इसलिये चलायमान हैं, पलटते भी हैं। यह आत्मा अनन्त वार सातवें नरक में गया होगा, मगर अव भी जैसा का तैसा है और वे कर्म नप्ट हो गये। कर्म अस्थिर थे, इसलिये पलट गये

हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं— कर्म हैं, यह घबराहट का कोई कारण नहीं है। वे अस्थिर हैं, नष्ट किये जा सकते हैं। प्रतिक्षण कर्म नष्ट हो रहे हैं, उनकी निर्जरा होती रहती है। इसलिये कर्म बांधने के समय घबराओ, मगर जो बंध चुके हैं उनके लिए घबराने की आवश्यकता नहीं है। उनसे घबराना नहीं चाहिए, उन्हें नष्ट करने का उपाय करना चाहिए। मन में दृढ़ता रखकर यह विचारना चाहिए कि ये कर्म बांधे हुए हैं। मैं इन्हें नष्ट भी कर सकता हूं, क्योंकि ये अस्थिर हैं। ऐसी दृढ़ता रखने पर कर्म नष्ट होंगे और यदि घबरा कर रोने लगोगे तो अपने ही भ्रम के कारण दुःख उठाओगे।

एक लड़की विवाह के बाद अपने ससुराल गई। ससुराल वालों को न जाने क्यों यह बहम हो गया कि इसके शरीर में भूत, प्रेत या डाकिन है। उन्होंने उस लड़की को अपने बाप के यहां भेज दिया। उन लोगों ने भूत निकालने का उपाय किया और एक भोपे को बुलवाया। भोपे ने आकर कहा कि यह लड़की इलाज के लिये मुझे सौंप दो तो मैं डाकिन निकाल दूं। गरज के मारे उन्होंने उसके सुपुर्द कर दी। निर्दयी भोपे ने लड़की को पीटना शुरू किया। लड़की चिल्लाने लगी— 'मैं डाकिन नहीं हूं। मुझे छोड़ो! बचाओ!'

लड़की की करुण चिल्लाहट से घर वालों ने भी छोड़ देने का आग्रह किया। मगर भोपा कहने लगा— बोलो मत। डाकिन ही यह हाय—तौबा कर रही है। और उसने लड़की को इतना मारा कि उसके प्राण—पखेरू उड़ गये।

यह एक समाचार पत्र में पढ़ी हुई घटना है और बहम से होने वाले अनर्थ का साक्षात् प्रमाण है। परमात्मा पर विश्वास न होने के कारण ऐसे वहम उत्पन्न होते हैं। परमात्मा के प्रति जिसकी श्रद्धा गाढ़ी है, उसे ऐसे वहम का सामना नहीं करना पड़ता। लोग वृथा ही वहम के शिकार होते हैं और भोपे आदि की शरण लेते हैं। कर्मो के विषय में भी बहुतों को यह वहम रहता है कि वे बिना भोगे नहीं छूट सकते। किंतु भगवान कहते हैं कि कर्म से भय मत करो। कर्म अस्थिर है, इस कारण उसे नष्ट किया जा सकता है। कर्म, करने से ही लगे हैं। वे अस्थिर हैं, नाशवान हैं। अविनाशी को नाशवान से क्या भय है? भय या वहम करना कर्मो को सुदृढ़ करना है।

धैर्य रखने और कर्मो का वहम न रखने से कर्मो का नाश होता है। मगर आपको इस सत्य का भरोसा नहीं है। आप व्यर्थ अपनी शक्ति का क्षय कर रहे है और न जाने कैसे—कैसे देवों को मान रहे है।

जिनकी श्रद्धा पक्की होती है, वे नहीं पलटते। अस्थिर श्रद्धा वाले ही पलटते हैं। स्थिरता होने पर सभी काम सहज हो जाते हैं। स्थिरता के

बिना कुछ नहीं होता। यदि आप में धर्म पक्का होगा तो आप यही कहेंगे कि मेरा धर्म स्थिर है और पाप अस्थिर है। फिर पाप से अभिभूत होने की क्या वात है ! आपका घर पक्का हो और कोई आग लेकर आवे और कहे कि मैं तुम्हारा घर जलाता हूं तो क्या आपको भय होगा? भय की वात तव होगी जब आपका मकान कच्चा झौंपड़ा हो। इसी प्रकार आप का धर्म पक्का होगा तो आप किसी से भी भय नहीं करेंगे।

ज्ञानावरणीय आदि के भेद से कर्म आठ प्रकार के हैं। यों तो कर्म स्थूल हैं, फिर भी आंखों से दिखाई नहीं देते। मगर आंखों से दिखाई न देने पर भी उनके विषय में किसी तरह के संदेह करने का कोई कारण नहीं है। किसी बीज को कितना ही नजर गड़ा कर देखो, उसमें वृक्ष दिखाई नहीं देगा। फिर भी यह मानना पड़ता है बीज में वृक्ष (शक्तिरूप में) विद्यमान है। यही मान कर गेहूं निपजाने के लिये गेहूं बोये जाते हैं और उनमें से पौधे निकल कर गेहूं भी हो जाते है। इसी प्रकार कर्म के बीज से संसार होता है। इसलिए कर्मों के अस्तित्व में शंका करने का कोई कारण नहीं है। कर्म के अंकुर से ही संसार है और कर्म खुद के किये हुए हैं। इसलिये यह समझो कि यह दृश्य मेरे ही द्वारा की गई रचना है। संसार मेरे ही कर्म से उत्पन्न है और मैं स्वयं ही इसमें फंस रहा हूं, जैसे मकड़ी अपने जाल में आप ही फंस जाती है। ऐसा समझ कर भगवान की भक्ति में रम जाय और उस ज्योतिस्वरूप अदृश्य शक्ति को पहचान ले तो यह स्थूल संसार, यह दृश्य बंधनकारक नहीं होगा। आठ गुणों से सुशोभित भगवान् इस संसार के मोह के पीछे ही हैं। संसार का मोह हटते ही उसका दर्शन होगा और दर्शन होने पर उस स्थान पर पहुंच जाओगे, जो ज्ञानियों ने बताया है। अतएव उस अदृश्य शक्ति को पहचानो।

उस अदृश्य शक्ति को कैसे पहचाना जा सकता है, यह बताने के लिये ही शास्त्र में स्थिर और अस्थिर का वर्णन किया गया है।

वहुत–से लोग कहते हैं कि आत्मा के साथ कर्म अनादि से हैं और जो अनादि से है, वह आत्मा से अलग कैसे हो सकता है? कर्मों के अलग हुए बिना आत्मा को मोक्ष भी कैसे हो सकता है? ऐसा कहने वालों को यह उत्तर दिया जा सकता है कि आत्मा के साथ कर्मों का संबंध अनादि होने पर भी कर्म अस्थिर हैं और प्रवाहरूप में ही अनादि हैं, इसलिए वे पलटते हैं। अगर ऐसा न होता तो वे कभी नष्ट ही नहीं हो सकते। किसी नदी के किनारे खड़े होने पर ऐसा मालूम होता हैं कि इस नदी में वही जल है जो कल देखा था,

परन्तु वास्तव में जो पानी कल देखा था वह आज नहीं है। कल वाला तो कभी का बह गया। इस तरह नदी का जल अस्थिर है, मगर प्रवाहरूप में ऐसा मालूम होता है कि यह वही जल है। कर्म भी इसी प्रकार अस्थिर हैं, लेकिन उनका प्रवाह जारी रहने के कारण वे अनादिकालीन कहलाते हैं। दरअसल तो कर्म सदैव पलटते रहते हैं। कर्म स्थिर नहीं हैं कि पलट न जावें। आत्मा पराक्रम और उद्योग करे तो कर्म टिक नहीं सकते। आत्मा ने ही उन्हें रख छोड़ा है।

आप कहेंगे, हम पत्थर को लुढ़कते देखते हैं, लेकिन कर्म को पलटते हुए कैसे देखें और उनकी अस्थिरता पर कैसे विश्वास करें? इसके लिये टीकाकार कहते हैं– जैसे पत्थर लुढ़कता है, उसी प्रकार कर्म भी लुढ़कते रहते हैं। कर्म जब बंधते हैं तो बद्ध दशा में आते हैं। फिर वे उदय में आते हैं तो उदीर्ण कहलाते हैं। उसके बाद उनकी निर्जरा होती है, तब वे निर्जीर्ण कहलाने लगते हैं, उदीर्ण नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार कर्मों की दशाएं पलटती रहती हैं।

इसे ठीक तरह समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। आपने किसी को दवा दी। वह दवा अगर स्थिर ही रहे तो उससे कोई काम नहीं हो सकता। मगर वह पेट में जाकर परिणमन करती है, फिर रस देती है और फिर जोश देती है। थोड़ी देर बाद उसका जोश समाप्त हो जाता है। इस प्रकार दवा अस्थिर है। जैसे दवा अस्थिर है, उसी प्रकार कर्म भी अस्थिर हैं। कर्म स्थिर होते तो जीव की नाना अवस्थाएं ही न होतीं। एक बार जो जीव जिस अवस्था में है, वह अनन्त काल तक उसी अवस्था में रहता। मगर लोक में ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। इससे सहज ही कर्मो की परिवर्तनशीलता का अनुमान किया जा सकता है। इसमें सन्देह को स्थान ही नहीं है।

स्थिर वह है जो कभी नहीं पलटता। मान लीजिए, एक शिला है। वह जमीन में गड़ी हुई है और कुछ–कुछ बाहर दिखाई देती है। इस कारण वह स्थिर है, पलटती नहीं है। शिला की यह स्थिरता भी व्यवहार दृष्टि से है। इस व्यावहारिक स्थिरता के उदाहरण से यह बतलाया जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से स्थिर क्या है? ऐसी स्थिरता क्या है? ऐसी स्थिरता जीव में पाई जाती है। जीव कभी पलटता नहीं है। कर्म बद्ध होते हैं, उदय में आते हैं और अन्त में निर्जीर्ण होकर आत्म–प्रदेशों से झड़ जाते हैं, क्योंकि वे अस्थिर है, लेकिन जीवद्रव्य सदा एक–सा रहता है, पलटता नहीं है। इसलिये जीव स्थिर है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जीव पलटता क्यों नहीं है? अगर जीव नहीं पलटता तो कर्म भी नहीं पलट सकते। जीव के साथ जब कर्मों का बंध होता है तब जीव के अध्यवसाय बन्धरूप होते हैं। कर्म जब उदय में आते हैं तो उदयरूप अध्यवसाय होते हैं। और जब कर्मों की निर्जरा होती है तब जीव के निर्जरारूप अध्यवसाय होते हैं। इसके सिवाय जीव कभी तिर्यंच होता है, कभी मनुष्य होता है, कभी देव और कभी नारकी होता है। इसलिये जीव भी कर्मों के समान पलटता रहता है। ऐसी दशा में उसे स्थिर या नहीं पलटने वाला कैसे कहा जा सकता है? अगर यह कहा जाय कि जीव द्रव्यरूप से स्थिर रहता है तो कर्म भी द्रव्यरूप से स्थिर रहते हैं। कर्म चाहे बन्ध दशा में हों, उदय दशा में हों या निर्जरा अवस्था में हों, रहते हैं वे पुद्गलरूप में ही। फिर कर्म अस्थिर क्यों है और जीव स्थिर क्यों है?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है– जीव नियम से असंख्यप्रदेशी है और चेतना (ज्ञान) उसका लक्षण है। जड़ में ये दोनों बातें नहीं पाई जातीं। जीव अनादिकाल से असंख्यातप्रदेशी है। इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी उसमें एक भी प्रदेश की न्यूनता नहीं आई। कुछ भी फेर–फार नहीं हुआ। कर्म के संयोग से जीव की कितनी ही पर्यायें पलटें, मगर जीव तो ऐसा ही रहा है, और ऐसा ही रहेगा।

सोना भी धातु है और लोहा भी धातु है। मगर दोनों में अन्तर है। सोना घिसकर चाहे मिट्टी में मिल जाए या पृथ्वी में चिरकाल तक गड़ा रहे, फिर भी वह अपने परमाणुओं को नहीं छोड़ता। उसे जब भी तपाओ, वह सोना ही है। उसे जंग भी नहीं खाता। इस कारण कितने भी दिन जमीन में गड़ा रहने के बाद भी वह वैसा ही सोना है। उसे तोलो तो बराबर उतरेगा। अतएव वह लोहे की अपेक्षा अधिक स्थिर कहा जायगा। लोहे को जंग लग जाता है। वह तोल में भी कम हो जाता है। इसलिए वह सोने की अपेक्षा अस्थिर है। इसी प्रकार आत्मा का बदलाव त्रिकाल में भी नहीं होता। जैसे मिट्टी में मिल जाने पर भी सोना, सोना ही है, उसी तरह किसी भी पर्याय में जाने पर भी जीव, जीव ही है। जीव के जितने प्रदेश हैं, उनमें न कमी होती है, न वृद्धि होती है। लेकिन पुद्गल के प्रदेश कम भी हो जाते हैं और ज्यादा भी हो जाते हैं। एक पुद्गल के प्रदेश उससे अलग होकर दूसरे में मिल जाते हैं, लेकिन एक जीव के प्रदेश कभी अलग नहीं होते और न दूसरे में ही मिलते हैं। इस अपेक्षा से कर्म को अस्थिर और जीव को स्थिर कहा है।

इसके अतिरिक्त कर्म, पुद्गल द्रव्य नहीं, वरन् पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं और जीव स्वयं द्रव्य है। पर्याय अस्थिर और पलटने वाला होता है, जबकि द्रव्य स्थिर और नहीं पलटने वाला होता है। इस दृष्टि से भी कर्म अस्थिर और जीव स्थिर है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा– अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता। यह कथन सत्य है।

जिस तरह घास आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्म आदि सब पदार्थ अस्थिर हैं। जो अस्थिर हैं, वे परिणामी हैं। इस कथन के अनुसार पुण्य, पाप आदि सारे ही पदार्थ परिणामी हैं। एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप में आने वाला परिणामी कहलाता है। जैसे दूध अपना वर्तमान रूप छोड़कर दही के रूप में आता है, उसी प्रकार पाप, पुण्य रूप में और पुण्य पाप रूप में परिणत हो जाते हैं। यही पुण्य, पाप का पलटना है। आम का फल जब कच्चा होता है तब हरा, खट्टा और कठोर होता है, परन्तु जब पक जाता है तब मधुर, पीला और कोमल हो जाता है। पके आम–फल में जो मिठास आई, वह कहीं बाहर से नहीं आई है, बल्कि कारण पाकर खट्टा रस ही मीठा बन जाता है। यही बात पुण्य, पाप के संबंध में है। भयंकर पाप भी उत्कृष्ट शुभ क्रिया से पुण्य में परिणत हो जाता है और घोर अशुभ कर्म करने से पुण्य भी पाप के रूप में पलट जाता है। यदि पाप बदलता न होता तो प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता ही न रहती। शास्त्र में प्रायश्चित्त करने की जो व्यवस्था दी गई है, वह व्यर्थ हो जाती। शास्त्र में दी हुई इस व्यवस्था से भी यह सिद्ध है कि प्रायश्चित्त की विधि से किये गये कर्म द्वारा पाप अपना रूप छोड़कर पुण्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतएव किसी पापी को हतोत्साह न होकर शुभ कर्म द्वारा पाप को पुण्य रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने से पाप या तो नष्ट हो जाता है या पुण्य रूप में परिणत हो जाता है।

अलबत्ता, यहां एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रायश्चित्त से पाप नष्ट हो जाता या पुण्य रूप में परिणत हो जाता है, इस विचार से पाप में प्रवृत्त होना अच्छा नहीं। ऐसा करने वाला आत्मवंचना करता है। उसका प्रायश्चित्त सच्चा प्रायश्चित्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कीचड़ में पैर भिड़ाने के पश्चात् उसे धोने की अपेक्षा पैर में कीचड़ न लगने देने में ही बुद्धिमानी है।

शास्त्र में कुण्डलीक राजा का वृत्तान्त आया है। उसमें कहा गया है कि वह राजा जीवन–भर तो पुण्यात्मा रहा, लेकिन केवल तीन दिन के पाप से वह नरक में गया। दूसरा दृष्टांत राजा प्रदेशी का है। प्रदेशी राजा ने पहले तो बहुत पाप किये थे, लेकिन उसने अन्त में शुभ कर्मों द्वारा अपने पाप को पुण्य के रूप में परिणत कर लिया।

इस चरितानुवाद से भी पाप का पुण्य और पुण्य का पाप रूप में परिणत होना सिद्ध होता है। इसलिए पुण्य और पाप, दोनों ही अस्थिर और परिणामी हैं। हमें अस्थिर पर आसक्त न होकर स्थिरता स्वीकार कर आत्मा से प्रेम करना चाहिए। नीति में कहा है–

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि।।

अर्थात् जो मनुष्य स्थिर को छोड़कर अस्थिर को लेने जाता है उसका स्थिर पदार्थ नष्ट हो जाता है और अध्रुव तो नष्ट है ही। वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है।

अतः आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से प्रेम नहीं रखना चाहिए। दूसरे पदार्थो के लोभ में पड़ने पर अपनी स्थिर आत्मा से वंचित रहना पड़ता है। इस विषय में कुत्ते का दृष्टांत दिया जाता है–

एक कुत्ता रोटी का टुकड़ा लेकर नदी के तट पर गया। नदी के जल में उसे अपनी परछाईं दिखाई दी। वह अपनी परछाईं को दूसरा कुत्ता जानकर उसके मुख की रोटी लेने के विचार से भौंकता हुआ झपटा। भौंकते समय मुंह खुल जाने से उसके मुंह की आधी रोटी, जो उसकी क्षुधा–शांति के लिए सहारा होती, पानी में गिर गई। और वह परछाई वाली रोटी तो मिथ्या थी ही। उसमें कुत्ते की उपादेय बुद्धि तो अज्ञानवश हुई थी। यह दृष्टांत है। इसे आत्मा के विषय में इस प्रकार घटाया जा सकता है – आनंदमूर्ति आत्मा अपने–आप में स्थित है। बाहरी पदार्थों में जो सुख उसे दिखाई देता है, वह उसी की परछाईं है। वह वास्तव में मिथ्या है, वास्तविक आनंद नहीं है। आत्मा अज्ञान के अधीन होकर अन्य पदार्थो में जब आनंद लेने जाती हैं, तब वह अपना असली आनंद भी गंवा बैठती है। विषयों में आनंद है ही नहीं, तो उसे मिले कहां से? आत्मा अनादिकाल से विषय–सुख भोगती चली आती है, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। वह जितना ही विषय–सुख भोगती है, उतना ही विषय–सुख को अपूर्ण मानती है। यह स्पष्ट

है कि सच्चे आत्मसुख का लाभ जब तक न हो, तब तक सुखी होना सम्भव नहीं।

यह आध्यात्मिक बात हुई। लौकिक विषय में इस प्रकार समझना चाहिए कि जो ध्रुव है, उसी को विद्वान लोग अपना समझते हैं। वे दूसरी चीज पर आसक्त नहीं होते। जो दूसरे की चीज लेने जाता है, उसकी खुद की चीज चली जाती है। रावण ने पराई स्त्री के लोभ में पड़कर ही अपनी स्त्री खोई, अपना पुत्र खोया, राज्य खोया, और अपना सर्वस्व नष्ट करके आप भी नष्ट हुआ। रावण के पास रानियों की कमी नहीं थी, फिर भी उसने सीता का हरण किया। उसका यह कार्य ध्रुव को छोड़कर अध्रुव को लेना था। उससे इस कार्य का जो भीषण परिणाम हुआ, वह रामायण पढ़ने–सुनने वाले सभी जानते हैं।

विवेकदृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि अपनी आत्मा को छोड़कर दूसरी सब चीजें अध्रुव हैं। जिस स्त्री को आज आप अपनी समझते हैं, वह विवाह से पहले आपकी नहीं थी। उस समय वह भी अन्य स्त्रियों की भांति पराई थी। जब विवाह हुआ तभी से आप उसे अपनी समझने लगे और मानने लगे कि वह आपकी है। लेकिन वास्तव में वह आपके लिए ध्रुव नहीं है। जो चीज किसी वक्त आपकी नहीं थी और कुछ समय के लिए आपकी कहलाती है, वह ध्रुव नहीं कही जा सकती। जो स्थिर है, वह अस्थिर नहीं हो सकता और जो अस्थिर है, वह स्थिर नहीं हो सकता। क्योंकि पदार्थ की मूल प्रकृति का विपर्यय असम्भव है। लोग भ्रमवश अस्थिर को स्थिर मानने लगते हैं, लेकिन किसी के मान लेने से वस्तु का स्वभाव बदला नहीं जा सकता। वस्तु अपने स्वभाव से जैसी है, उसे अन्यथा मान लेने के बाद भी वैसी ही रहती है। मानने वाले की चित्तवृत्ति पलटती है, वस्तु का स्वभाव नहीं पलटता। जिस स्त्री के साथ आपका विवाह जब तक नहीं हुआ था, तब तक आप उसके सुख–दुःख की ओर से उदासीन थे। जब आपने उसे अपनी मान लिया तब से उसके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होने लगे। यह ऐसा ही भ्रम है जैसे कोई आदमी रस्सी को सांप मान कर उससे भय खाता है और कभी हार मान कर प्रसन्न होता है। मगर उसे मान कुछ भी लिया जाय, वह है तो रस्सी ही। आपके मानने से रस्सी का कुछ नहीं बदला। रस्सी न वास्तव में हार बनी है, न सांप बनी है। हां, आपकी दृष्टि पहले उसके विषय में निरक्षेप थी, फिर आपने उसमें आरोप करके अपने लिये बखेड़ा खड़ा कर लिया और उसके निमित्त से सुखी या दुखी होने लगे। यह बात आत्मा के सिवाय और सभी

पदार्थो के विषय में समझनी चाहिये। आत्मा के अतिरिक्त पर–पदार्थों में जो आत्मीयता या स्थिरता मान ली है, यही दुःख का कारण है। लेकिन आरोपित वस्तु ध्रुव, स्थिर या अपनी नहीं है। इस प्रकार आरोपित वस्तु पर आसक्त न होना, अस्थिर को त्यागना और स्थिर को अपनाना, यही बुद्धिमान का कर्तव्य है।

हम लोगों का भ्रम मिटाने के लिये ही गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है कि भगवन्! क्या यह ठीक है कि अस्थिर में भेद होता है और स्थिर में भेद नहीं होता? क्या अस्थिर के टुकड़े हो जाते हैं और स्थिर के टुकड़े नहीं होते? भगवान् ने उत्तर दिया– हां गौतम! जो अस्थिर है उसमें भेद भी हो जाता है और उसके टुकड़े भी हो जाते हैं और जो स्थिर है उसके टुकड़े भी नहीं होते और उसमें भेद भी नहीं होता।

यह तो आप भी जानते हैं कि संसार में जो अस्थिर है, वह टूट जाता है, जैसे तृण के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं, लेकिन स्थिर पदार्थ नहीं टूटता, जैसे लोहे की सलाख। आप कहेंगे कि यह बात तो हम भी जानते हैं, सभी जानते हैं, इसके लिए गौतम स्वामी को भगवान् से प्रश्न करने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन गौतम स्वामी का प्रश्न केवल व्यावहारिक दृष्टि से नहीं है, आध्यात्मिक दृष्टि से भी है। व्यावहारिक दृष्टि से घास के तिनके को कोई भी तोड़ सकता है, लेकिन लोहे की शलाका को या इसी प्रकार की दूसरी चीज को नहीं तोड़ सकता। यद्यपि यह एकान्त नहीं है कि लोहे की शलाका तोड़ी ही नहीं जा सकती, इसका आशय यह है कि वह घास की अपेक्षा अधिक मजबूत होती है। इसी से भगवान् ने कहा– हे गौतम! घास की तरह अस्थिर चीज टूट जाती है, लेकिन लोहे की तरह स्थिर चीज नहीं टूटती। यह व्यावहारिक बात हुई। इसके आगे आध्यात्मिक बात कहते हैं।

कर्म घास की तरह अस्थिर हैं और आत्मा लोहे के समान स्थिर हैं। जैसे घास का तिनका टूट जाता है उसी प्रकार कर्म भी टूट जाते हैं। जैसे घास के तिनके को कोई एक क्षण में तोड़ सकता है या जला सकता है, उसी तरह यदि कोई कर्म को तोड़ना या भस्म करना चाहे तो ऐसा कर सकता है। लेकिन आत्मा स्थिर है। वह न टूट सकती है, न जल सकती है। यह बात जैन शास्त्रों में तो कही ही है, गीता में भी बतलाई है –

नैनं छिन्दंति, शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।

अर्थात् इस आत्मा को न तीक्ष्ण शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है, न जल गीला कर सकता है, न पवन सुखा सकता है। यह अछेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, नित्य है, सर्वगत है, स्थायी है, अचल है, सनातन है।

कहा जा सकता है कि आत्मा अछेद्य कैसे है? लोहे की सलाई को तोड़ने में कदाचित् कुछ विलम्ब हो, मगर किसी मनुष्य को मारने में कुछ भी विलम्ब नहीं लगता। इस प्रकार आत्मा सहज ही छिद जाता है। फिर उसे अछेद्य कहने का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाले ने शरीर को ही आत्मा समझ लिया है। आत्मा और शरीर एक नहीं हैं। शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अगर शरीर और आत्मा एक ही हो, शरीर ही आत्मा हो, तो किसी मनुष्य को या दूसरे जीवधारी को मारने वाले के हृदय में थोड़ा–बहुत कम्पन क्यों होता है? मिट्टी की पुतली को तोड़ने–फोड़ने में हृदय नहीं धड़कता है, मगर किसी जानदार चीज को मारने–काटने के समय हृदय में धड़कन होती है। इससे स्पष्ट है कि वह जानदार चीज है, इसी कारण उसे मारने–काटने में हृदय कांपता है और शरीर मिट्टी की पुतली की तरह आत्मा से भिन्न है। शरीर से भिन्न आत्मा न मानना नास्तिकता है। किसी नास्तिक से पूछा जाय कि तेरे लड़के को अगर कोई मार डाले तो तुझे दुःख नहीं होगा? अगर होगा तो क्यों? दुःख तो वास्तव में नास्तिक को भी होता है। वह दुःख भी शरीर को नहीं, किंतु आत्मा को होता है। इसलिए शरीर अलग है और आत्मा अलग है। आत्मा न कटती है, न मरती है। शरीर ही कटता है, मरता है।

कोई यह आशंका कर सकता है कि कर्म अगर अस्थिर हैं तो आप ही कट जाएंगे। उन्हें काटने के लिए किसी प्रयत्न की क्या आवश्यकता है? जो अस्थिर है, वह सदा तो रह ही नहीं सकता। इसका उत्तर यह है कि कर्म अस्थिर तो अवश्य हैं परन्तु जब आप एक कर्म कटते ही दूसरा कर्म बांध लेते है या पहले के कर्म कटने से पहले ही नवीन कर्म का बंध कर लेते हैं तो पूरी तरह कर्म कैसे कट सकते हैं? इस तरह तो कर्मो की परंपरा स्थिर ही रहती है या बढ़ती जाती है। आगे–आगे कर्म न बंधने दो तो पिछले कर्म समय पाकर आप ही कट जाएंगे।

अर्जुन माली ने 1141 मनुष्य मार कर घोर कर्म बांधे थे, लेकिन बाद में उसने संयम लिया और बेला–बेला पारणा करना शुरू किया। पारणे के दिन वह नगर में उन्हीं के घर जाता, जिनके आत्मीयजनों का घात किया था। उसने वहां क्षमा की ऐसी पराकाष्ठा दिखलाई कि बहुत दिनों में कटने वाले कर्म छह मास में ही कट गये। कर्म अस्थिर थे, इस कारण नष्ट हो गये। आत्मा स्थिर थी, इसलिए बनी रही।

आपको भी स्थिर आत्मा पर विश्वास करना चाहिए और अस्थिर कर्म को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। उपनिषद् में भी यही कहा है कि जो स्थिर है, उसका ध्यान धरो। अस्थिर को पकड़ कर मत बैठे रहो।

आत्मा पर पूर्ण विश्वास करके उसे परमात्मा में लगा देने पर फिर किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। जैसे पत्थर पर गिरा हुआ मिट्टी का ढेला स्वयं ही फूट जाता है, पत्थर का कुछ भी नहीं बिगड़ता, वैसे ही परमात्मा की शरण ग्रहण करने से आत्मा ऐसा वज्रमय हो जाता है कि दुःख स्वयं ही चूर हो जाते हैं। आत्मा का वे कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। इसलिए स्थिर आत्मा पर विश्वास करके परमात्मा का भजन करो तो कल्याण होगा।

पण्डित और पंडितपन तथा बाल और बालपन, दोनों भिन्न–भिन्न हैं, अर्थात् बाल भिन्न है और बालपन भिन्न है, इसी प्रकार पण्डित और पण्डितपन भिन्न है।

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! बाल और बालपन तथा पण्डित और पण्डितपन में से स्थिर कौन है तथा अस्थिर कौन है? पण्डित स्थिर है और पण्डितपन अस्थिर है तथा बाल स्थिर है और बालपन अस्थिर है? या और कोई बात है?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं– हे गौतम! पण्डित स्थिर है और पण्डितपन अस्थिर है। इसी प्रकार बाल स्थिर है और बालपन अस्थिर है।

किसी हीरे के नीचे अगर लाल या काला कागज रख दिया तो हीरा लाल या काला दिखाई देने लगेगा। लेकिन वह हीरे का असली रंग नहीं है। उसका असली रंग सफेद ही है। इसलिए कालापन या लालपन अस्थिर है और हीरे का असली रंग स्थिर है, क्योंकि कालिमा या लालिमा बदलती रहती हैं। इसी प्रकार पण्डितपन और बालपन तो उपाधि हैं, जो बदलती रहती हैं, मगर उपाधि को धारण करने वाला नहीं बदलता। अतएव उपाधि अस्थिर और उपाधि धारण करने वाला स्थिर हैं।

मतलब यह है कि लोग पण्डित या बालपन को देखते हैं और ज्ञानी आत्मा को देखते हैं। जौहरी हीरे के नीचे लगे हुए रंगीन कागज को नहीं देखता है। अगर वह हीरे को भूलकर उसके नीचे लगे काले या लाल कागज को देखे तो जौहरी ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानीजन आत्मा को देखते हैं। उसके साथ लगी हुई बालपन अथवा पंडितपन की पर्याय को नहीं देखते। इसी कारण भगवान् ने कहा है कि बालपन और पंडितपन पर्याय हैं और वे अस्थिर हैं। तथा इनको धारण करने वाला बाल या पंडित स्थिर है।

संसार की सब बातें अलग–अलग लिखी जाएं तो पार नहीं आ सकता। अतएव उन बातों का संग्रह कर लिया गया है। गौतम स्वामी ने संसार की ऊंची से ऊंची और नीची से नीची बात पकड़ी है। ऊंची बात में उन्होंने पण्डितपन पकड़ा है और नीची में बालपन पकड़ा है। इस प्रकार दोनों बातें पकड़ कर भगवान् से प्रश्न किया है। अगर दोनों के भेद किये जाएं तो बहुत भेद हो सकते हैं। जैसे क्रोध और क्रोधी, मान और मानी आदि के विषय में भी पूछा जा सकता है। इस प्रकार बालपन की नीची कोटि में भी अनेक भेद हो सकते हैं और पण्डितपन की ऊंची कोटि में भी अनेक भेद हो सकते हैं।

यहां एक द्रव्य है, दूसरा पर्याय है। गौतम स्वामी ने अपने प्रश्न में द्रव्यार्थिक नय का भी संग्रह कर लिया है और पर्यायार्थिक नय का भी। बाल द्रव्य है, बालपन पर्याय है। पण्डित द्रव्य है, पण्डितपन पर्याय है। सोना द्रव्य है, कड़ा पर्याय है। जो पलटता रहता है वह पर्याय है और जो नहीं पलटता वह द्रव्य है।

यह बात तो सभी जानते हैं कि सोने का कड़ा मिट कर अंगूठी बन जाता है और अंगूठी मिट कर कड़े के रूप में परिणत हो जाती है। सोने का चाहे कड़ा बने, चाहे अंगूठी बने, सोना तो वही है। ऐसा होने पर भी साधारणजन द्रव्य को भूलकर पर्याय को पकड़ बैठते हैं। इसीलिए शास्त्र में द्रव्य और पर्याय का विचार किया गया है। गौतम स्वामी के पूछने का कारण यही है कि संसार के जीव द्रव्य को भूल गये हैं और पर्याय का ध्यान रखते हैं, मानों द्रव्य उनकी दृष्टि में कोई चीज ही नहीं है।

भगवान् ने जो उत्तर फरमाया, उसका आशय यह है कि द्रव्य शाश्वत है और पर्याय अशाश्वत है।

बालपन दो प्रकार का है– व्यवहार से और निश्चय से। व्यवहार में बालक को या अज्ञानी को बाल कहते हैं, लेकिन निश्चय में बाल वह है जिसने

संयम नहीं लिया है। जब तक संयम धारण नहीं किया, तब तक कोई कैसा ही विद्वान क्यों न हो, बाल ही है। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि इन्द्र को ऐसा अवधिज्ञान है कि वह अपने स्थान पर बैठा हुआ नरक तक का हाल जान सकता है। वह इन्द्र बाल है या पंडित है? भगवान् ने उत्तर दिया है– देव पंडित नहीं, बाल हैं।

गौतम स्वामी ने फिर पूछा– भगवन्! देवों को इतना ज्ञान होता है फिर भी वे बाल क्यों होते हैं? भगवान् ने फरमाया– उन्हें जैसा ज्ञान है, वैसा आचरण वे नहीं करते, इस कारण देव बाल हैं।

गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया– भगवन्! एक साधु को ज्ञान तो ज्यादा नहीं है, केवल पांच समिति और तीन गुप्ति आदि का ही ज्ञान है, वह बाल है या पण्डित है? भगवान ने उत्तर दिया– वह साधु पंडित है, क्योंकि वह ज्ञान के अनुसार आचरण करता है।

कोई कह सकता है कि भगवान स्वयं साधु थे, अतएव उन्होंने साधु को पंडित कह कर पक्षपात किया है। लेकिन जरा–से गहरे विचार से मालूम होगा कि उन्होंने पक्षपात नहीं किया, किन्तु यथार्थ ही कहा है। जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, पर जो आचरण में नहीं लाता, उसका ज्ञान किस काम का? इसके विपरीत जिसे थोड़ा ज्ञान है, परन्तु वह उसके अनुसार स्वयं आचरण करता है तो उसका ज्ञान काम का है। जिसमें ज्ञान है, किन्तु जो अज्ञानजन्य कष्टों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, जो पापों को नहीं त्यागता, वह वस्तुतः अज्ञानी, अर्थात् बाल ही है।

कोई स्त्री भोजन बनाना जानती है, लेकिन भोजन–सामग्री होने पर भी वह स्वयं भूखों मर रही है। वह कहती है कि मुझसे अपने लिए भोजन नहीं बनाया जाता। ऐसी स्थिति में उसकी जानकारी किस काम की? वह जानकारी भी अज्ञान है। यह क्रियात्मक ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान है। जिसे ज्ञान का फल तनिक भी प्राप्त नहीं हुआ, वह अज्ञानी ही कहलाएगा।

भगवान् कहते हैं– गौतम! देव बहुत–कुछ जानते हैं, उनका ज्ञान आचरणहीन है। वे कहते हैं कि हम ज्ञान से वस्तु का स्वरूप जान सकते हैं, मगर क्रिया करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार वे अपनी लाचारी प्रकट करते हैं। इसलिए भगवान कहते हैं– देव में क्रियात्मक ज्ञान नहीं है, इसी से वे बाल हैं।

एक आदमी को ज्यादा ज्ञान नहीं है, लेकिन जितना है, वह उतना काम करता है। दूसरे को ज्ञान ज्यादा है, लेकिन उसके अनुसार काम कुछ

भी नहीं करता। जैसे स्त्रियां ज्यादा पढ़ी–लिखी नहीं होती, फिर भी वे शक्कर, नमक को जानती हैं और यह भी जानती हैं कि उनका उपयोग कहां और किस प्रकार किया जाता है। ऐसी स्त्री अधिक पढ़ी–लिखी न होने पर भी बुद्धिमती कहलाती है। इसी प्रकार साधु को चाहे अधिक ज्ञान न हो, लेकिन वह हिंसा करने को बुरा समझता है तो न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरे से करवाता है और न हिंसा करने वाले को भला ही समझता है। इसी प्रकार साधु ने असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को बुरा जाना है तो उनका पूर्ण रूप से त्याग भी कर दिया है। साधु धर्मोपकरण के सिवाय और कोई उपाधि नहीं रखते। इस प्रकार साधु जितना जानते हैं, उतना आचरण भी करते हैं। इसी कारण से पंडित हैं। देव या और कोई मनुष्य जानता भले ही ज्यादा हो, मगर आचरण न करने के कारण बाल है।

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा है– बाल शाश्वत है और बालपन अशाश्वत है। इसी तरह पंडित शाश्वत और पंडितपन अशाश्वत है।

इस उत्तर पर यह आशंका हो सकती है कि जब बालपन अशाश्वत है तो बाल शाश्वत कैसे है ? बालपन दूर होते ही जीव बाल नहीं रह जाता। इसलिए बाल और बालपन दोनों अशाश्वत होने चाहिये। ऐसा ही प्रश्न पडित और पंडितपन के विषय में भी किया जा सकता है।

इस प्रकार की बातें समझ लेने पर ही जैन दर्शन का रहस्य मालूम हो सकता है। जैन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि कोई वस्तु एकान्त रूप नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक यानी अनेक धर्ममय है। उदाहणार्थ, एक पिता अपने पुत्र को पुत्ररूप में ही देखता है, मगर वह पुत्र अपने पिता की अपेक्षा से ही पुत्र है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पुत्र नहीं, वरन् पिता है। पिता जिसे अपना पुत्र मान रहा है, वह अपने पुत्र की अपेक्षा अपने को पिता मानता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति में दो बातें घटित हुई। यों साधारण रूप से पितापन और पुत्रपन परस्पर विरोधी–से प्रतीत होते है, पर अपेक्षा का विचार करने में एक ही व्यक्ति में रहते हुए स्पष्ट मालूम होते हैं। जिसे पिता कहा जाता है वह पुत्र भी है और जिसे पुत्र कहा जाता है वह पिता भी है। जो लड़की कहलाती है वही माता भी कहलाती है और अपने पौत्र की अपेक्षा दादी भी कहलाती है। ये सब पदार्थ है, अनित्य और सापेक्ष हैं। द्रव्य नित्य है, वह कभी पलटता नही है।

नित्यता और अनित्यता आदि धर्म भी सापेक्ष हैं। नित्यता के विना अनित्यता नहीं रह सकती और अनित्यता के अभाव में नित्यता का होना संभव नहीं है। द्रव्य के विना पर्याय और पर्याय के विना द्रव्य कभी नहीं हो सकते। वह सोना कभी किसी ने देखा है जो कड़ा या डली आदि किसी पर्याय के साथ न हो? और सोने की कड़ा आदि कोई पर्याय सोने के अभाव में दिखाई देती है? नहीं। द्रव्य और पर्याय अविनाभावी हैं। एक–दूसरे के विना हो ही नहीं सकते। इसीलिए कहा है–

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्य वर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा?।।

अर्थात् पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय कहीं, कभी किसी ने किसी रूप में देखे हैं? और किस प्रमाण से देखे हैं? अर्थात् नहीं देखे।

सोना वही है जिससे कड़े भी बन जाएं, कंठी भी बन जाए, फिर भी सोना ज्यों–का–त्यों बना रहे। इसी प्रकार जीव भी वही है जो बाल भी हो जाए, पंडित भी हो जाए, लेकिन जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ जीव ही बना रहे।

पर्याय को अनित्य और जीवद्रव्य को नित्य मानने से बड़ा ज्ञान होता है। जिस मिट्टी का घड़ा न बन सकता हो, वह मिट्टी नहीं है और घड़ा बनने पर जो मिट्टी न रहे, वह भी मिट्टी नहीं है। मिट्टी स्वयं घड़ा नहीं है, लेकिन उसमें घड़ा बनने की शक्ति है। इसी से कुंभार अपने लड़के से कहता है कि मिट्टी का और घड़ा बना। इसी प्रकार आत्मा परमात्मा न बन सकता हो तो परमात्मा बनाने के लिये उपदेश ही क्यों दिया जाय? आत्मा परमात्मा नहीं बना है, लेकिन बन सकता है। इसीलिये उपदेश दिया जाता है। आत्मा, जब परमात्मा बन जाता है तब भी जीवद्रव्य अपने स्वरूप में स्थिर ही रहता है। इस प्रकार जीवद्रव्य नित्य और उसके समस्त पर्याय अनित्य हैं।

सारांश यह है कि द्रव्य नित्य होता है और पर्याय अनित्य होती है। बालजीव और पंडितजीव द्रव्यरूप होने के कारण नित्य हैं और बालपन तथा पंडितपन पर्यायरूप होने के कारण अनित्य हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अस्थिर पलटता है और स्थिर कभी नहीं पलटता, अथवा जो पलटता है वह अस्थिर है और जो नहीं पलटता वह स्थिर है। इस वर्णन के आध्यात्मिक पक्ष में यह भी कहा जा चुका है कि आत्मा स्थिर है और कर्म अस्थिर हैं।

आत्मा स्थिर है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता ही नहीं है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपने धर्म का (स्वभाव) परित्याग नहीं करता। जीवास्तिकाय के प्रकरण में बतलाया गया है कि उसे पांच बोलों से जानना चाहिए (1) द्रव्य से अनन्त (2) क्षेत्र से लोक–प्रमाण (3) काल से आदि–अन्त रहित (4) भाव से अरूपी और (5) गुण से चैतन्य या उपयोग रूप।

प्रत्येक वस्तु गुण से पहचानी जाती है। कोई कहता है– जीव को आप देखते हैं? तो उससे यही कहा जायगा कि जीव अरूपी है। वह इंद्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसका कोई वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं है। इस कारण उसे कैसे देख सकते हैं? इस कथन पर फिर प्रश्न उठता है कि अगर जीव अरूपी है तो केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहले उसे जानना असम्भव है। और जब तक जीव की पहचान न हो जाय, दया किसकी करें? इसका समाधान करने के लिए शास्त्र कहता है कि जीव को गुण से पहचानो। कोई वस्तु आंख से जानी जाती है। कोई बुद्धि तथा अनुमान से भी जानी जाती है। जो वस्तु आंख से नहीं जानी जा सकती, वह बुद्धि तथा अनुमान से जानी जा सकती है। जैसे समुद्र के एक किनारे पर खड़े होने पर एक किनारा दिखाई देता है, लेकिन दूसरा किनारा नहीं दिखाई देता। फिर भी एक किनारा है तो दूसरा किनारा भी होगा ही। इस प्रकार दूसरा किनारा आंख से न दीखने पर भी उसे जानते हैं। आपने अपने पूर्वजों में ज्यादा से ज्यादा अपने दादा या परदादा को ही देखा होगा। मगर उन्हें देख कर आप यह भी जान सकते हैं कि उनके भी दादा, परदादा आदि रहे होंगे। ऐसी अवस्था में यह कहना कि जीव आंख से दिखना ही चाहिये, केवल हठ ही कहा जा सकता है। जो आंख से नहीं दिखता, वह बुद्धि और अनुमान से जाना जा सकता है।

जीव किस प्रकार दिखाई दे सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चैतन्य गुण को देखकर ही उसे जान सकते हैं। कोई पूछे कि जीव कहा है? उससे यही कहा जायगा कि यह पूछने वाला ही तो जीव है। जीव है या नहीं है, इस प्रकार का तर्क करने वाला जीव ही है।

सारांश यह है कि जीव स्थिर है– इस कथन में जीव का चैतन्यगुण लेना चाहिए। अर्थात् यह समझना चाहिए कि जीव का चैतन्यगुण कभी नष्ट नहीं होता। जीव देव हो अथवा नारकी हो, तिर्यंच हो या मनुष्य हो, उसका चैतन्य गुण तो कायम ही रहता है। किसी भी अवस्था में जीव अचेतन नही

हो सकता। जीव भूतकाल में भी चेतन था, वर्तमान में भी चेतन है और संसार की सारी शक्ति संगठित हो जाय तो भी वह अचेतन नहीं होगा। जीव के इस गुण को ही भगवान् ने जोर देकर बतलाया है।

प्रश्न होता है कि जब उपयोग, चैतन्य या ज्ञान जीव का स्वरूप है तो इस गुण की न्यूनता या अधिकता क्यों देखी जाती है? वह किसी में ज्यादा और किसी में कम क्यों है? इसका उत्तर यह है कि अगर इस प्रकार की कमी–बेशी न हो तो जीव, जीव ही न रहे। विकास–धर्म की अपेक्षा से इसका कम–ज्यादा होना भी गुण ही है। एक बालक में उपयोग तो होता है, मगर वह बड़े आदमी की तरह नहीं समझता। जब उसका विकास होता है तो उसके उपयोग का भी विकास होता है और उपयोग का अगर पूर्ण विकास हो जाय तो पहले का वही बालक अनन्त ज्ञानवान् भी हो जाता है। उपयोग का पूर्ण विकास केवली में ही पाया जाता है। अन्य जीवों को उनके क्षयोपशम के अनुसार उपयोग होता है। इस क्षयोपशम भाव से क्षायिक भाव का भी पता चल सकता है। अर्थात् यह समझा जा सकता है कि जब क्षयोपशम भाव होता है तो क्षायिक भाव भी हो ही सकता है। बल्कि क्षयोपशम भाव के नीचे ही क्षायिक भाव दबा हुआ है।

क्षयोपशम भाव से क्षायिक भाव का पता कैसे लग सकता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिये। आपने तीन सौ गुनी और पांच सौ गुनी मीठी शक्कर का होना सुना होगा। सुना है कि वह एक जर्मन वैज्ञानिक की शोध है। एक जगह एंजिन आदि से निकाला हुआ कूड़ा–करकट बहुत पड़ा था। उस वैज्ञानिक ने सोचा – देखना चाहिये कि इस कचरे में भी कोई तत्त्व है या नहीं? वह कचरा उठवाकर अपनी रसायनशाला में ले गया। वहां उसकी जांच करने लगा। उसकी जांच का कार्य चल ही रहा था कि इतने में भोजन का समय हो गया और वह भोजन करने चला गया।

पाश्चात्य लोग समय के बहुत पाबंद हैं। पैसे की अपेक्षा समय की कद्र ज्यादा करते हैं। आपका अगर एक पैसा खो जाय तो उसे ढूंढने में आप शायद दो घंटे लगा दें। आप यह नहीं सोचेंगे कि इस एक पैसे के लिए मेरा कितना समय खर्च हो रहा है। मगर पश्चिम के लोग समय के सामने पैसे को भी कुछ नहीं समझते।

हां, तो वह वैज्ञानिक भोजन करने बैठा। उसने जैसे ही पहला ग्रास मुंह में रक्खा कि उसे मिठास मालूम हुई। उसने भोजन बनाने वाले से पूछा– क्या इस भोजन में शक्कर डाली है? उसने मना किया। तब वैज्ञानिक ने

सोचा– शायद मेरे ही हाथ में कुछ लगा हो! उसने अपने हाथ धोये और फिर भोजन करने लगा। उसे फिर भी भोजन मीठा लगा। तब उसने विचार किया– हो–न–हो यह मिठास परीक्षण की जाने वाली वस्तु में से ही आई है। उसने झटपट भोजन किया और रसायनशाला में जाकर फिर अपनी खोज में लग गया। अन्त में उसने पहले साधारण शक्कर से तीन सौ गुनी मीठी शक्कर निकाली और फिर पांच सौ गुनी मीठी।

यही बात ज्ञानी कहते हैं। उनका कहना है कि जिस तरह विज्ञान द्वारा कूड़े से शक्कर का पता लगा, उसी तरह क्षयोपशम भाव द्वारा क्षायिक भाव का पता लगता है। प्राण दस माने जाते हैं, मगर संग्रह–रूप प्राण चार ही हैं– इंद्रियप्राण, बलप्राण, आयुष्यप्राण और श्वासोच्छ्वासप्राण। ये प्राण आत्मा के अनन्त प्राण से संबंधित हैं। ये प्राण समझाते हैं कि हम क्षयोपशमभाव में हैं। जीव भले ही एकेन्द्रिय हो, तब भी उसमें ये चार प्राण तो रहते ही हैं। क्षायोपशमिक भाव के ये प्राण क्षायिक भाव का पता देते हैं। अगर कोई क्षायिक भाव को यों ही देखना चाहे तो कैसे देख सकता है? हां, जैसे कूड़े में शक्कर देखने के लिए रासायनिक क्रिया की आवश्यकता है, उसी प्रकार जिस क्रिया द्वारा क्षायिक भाव जाना जा सकता है, वह क्रिया करे तो क्षायिक भाव भी प्रकट हो सकता है।

जीव जब तक क्षयोपशमभाव में विद्यमान है तब तक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही ज्ञान की मात्रा प्रकट होती है। क्षयोपशम कम होता है तो ज्ञान भी कम होता है। क्षयोपशम की अधिकता होने पर ज्ञान भी अधिक हो जाता है। किंतु जीव जब क्षायिक भाव में आता है, तब वह अपने असली स्वरूप में आ जाता है। उस समय सभी क्षायिक भाव वालों का ज्ञान समान ही होता है। उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। मगर ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम कितना भी कम क्यों न हो जाय, कुछ–न–कुछ रहता अवश्य है। इसी कारण उपयोग गुण नित्य है। वही जीव का लक्षण है। इस लक्षण से ही जीव की पहचान होती है और इसी से जीव की नित्यता सिद्ध होती है।

यहां बाल और पंडित को शाश्वत कहने का कारण यही है कि वे द्रव्यरूप है और बालपन तथा पंडितपन को अशाश्वत कहने का कारण उनका पर्यायरूप होना है।

जिसमें प्रतिक्षण, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो, वह द्रव्य कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है– 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।' जो उत्पन्न भी हो,

विनष्ट भी हो, फिर भी ध्रुव रहे, वह द्रव्य है। बाल और पंडित जीवद्रव्यरूप विवक्षित हैं। उनमें बालपन और पंडितपन पर्यायों का उत्पाद और विनाश होता है। यह होने पर भी द्रव्य – बाल और पंडित जीव – ध्रुव ही रहता है। उदाहरण के लिए लौकिक बालक को लीजिए। वह जब तक कच्ची उम्र का है और समझदार नहीं है, तब तक बालक कहलाता है, लेकिन जब पढ़–लिखकर होशियार हो जाता है तब पंडित कहलाने लगता है। दूसरी तरह से जो अठारह वर्ष से कम आयु का हो, उसे नाबालिग यानी बाल कहते हैं। इससे अधिक उम्र होने पर बालिग यानी समझदार कहा जाता है। व्यक्ति एक होने पर भी उसकी पर्याय का पलटा होता है। उसकी बालपन–पर्याय का नाश हुआ, पंडितपन या समझदारपन–पर्याय का उत्पाद हुआ और द्रव्यरूप आत्मा ध्रुव, जैसे का तैसा है। अगर पर्याय के साथ द्रव्य का भी नाश माना जाय तो संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रहेगी। मगर स्थिरता तो अनुभवसिद्ध है। आप अपने लिए कहते हैं कि एक दिन मैं बालक था, आज बूढ़ा या जवान हो गया हूं। इस प्रकार बाल्यावस्था त्याग कर वृद्धावस्था में आने वाला वह कौन है? वह आत्मा ही है। बालपन चला गया, मगर जो बाल था, वह आत्मा तो है ही। इसी कारण बालकपन को अस्थिर और बाल को स्थिर कहा है।

यही बात पंडित और पंडितपन के लिए भी समझनी चाहिए। पंडित द्रव्य है जो स्थिर है और पंडितपन पर्याय है और वह अस्थिर है।

इस प्रश्नोत्तर का सार यही है कि द्रव्य स्थिर है और पर्याय अस्थिर है। इस सिद्धान्त से हम लोगों को बड़ा सहारा मिलता है। लोग पर्याय पलटने के समय द्रव्य को मानों भूल जाते हैं। इस कारण ऐसे समय में एक भ्रम–दशा उत्पन्न हो जाती है। उस भ्रमपूर्ण दशा को मिटाने के लिए ही द्रव्य और पर्याय का ज्ञान करने की आवश्यकता है। यानी यह बात समझ लेने की आवश्यकता है कि जो पलटा है वह पर्याय है और द्रव्य सदैव स्थिर है। वह कभी नहीं पलट सकता। ऐसा समझ लेने पर पर्याय के पलटने से होने वाला दुःख नहीं सता सकता हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि पर्याय पलटती है तो सिद्ध अवस्था भी पर्याय है, अतएव वह भी पलटनी चाहिए। अगर सिद्ध अवस्था नहीं पलटती है, उसे ध्रुव मानते हो तो पर्याय ध्रुव ठहरती है। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी पर्याय हैं। इनका भी पलटा होना चाहिये। ऐसा नहीं होता तो पर्याय को ध्रुव कहना चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सिद्ध में भी पर्याय का परिवर्तन होता रहता है। मगर वह परिवर्तन सिद्ध–दशा के अनुकूल ही होता है। सिद्धों में पर्याय का परिवर्तन किस प्रकार होता है, यह बात समझने के लिये एक उदाहरण लीजिए। जैसे मेरे हाथ की लकड़ी अभी दाहिने हाथ में है। सिद्ध भगवान् अपने ज्ञान में उसे दाहिने में ही देख रहे हैं। लेकिन मैंने यही लकड़ी बाएं हाथ में ले ली। तब भी वे अपने ज्ञान में यही देखेंगे। इस प्रकार छह द्रव्यों में जो परिवर्तन हो रहा है, वह सब सिद्धों के ज्ञान में भी झलक रहा है और उसी के अनुरूप ज्ञान में भी परिवर्तन होता रहता है। अगर सिद्धों के ज्ञान में इस प्रकार का परिवर्तन न हो तो सिद्ध जीव न रहकर अजीव हो जाएं। पदार्थ में जो भी परिवर्तन होता है, वह उनके ज्ञान में भी होता है। जैसे कांच के सामने जो भी दृश्य होता है, वही कांच में दिखाई देता है और जब–जब दृश्य पलटता है तब–तब उसका पलटना कांच में भी दिखाई देता है। इसी प्रकार जो–कुछ भी पलटता है वह भगवान सिद्ध के ज्ञान रूपी कांच में भी दिखाई देता है। इस भांति सिद्ध की अवस्था में परिवर्तन होता है।

अब यह निश्चित हो गया कि द्रव्य सदैव स्थिर है। वह हमेशा ज्यों–का–त्यों बना रहता है। मगर पर्याय का परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है। इसी सिद्धान्त में स्याद्वाद का सारा सार समा जाता है। अतएव इसे सम्यक् प्रकार से समझो तो आपका कल्याण होगा।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी ने कहा– 'सेवं भंते! सेव भंते!' अर्थात् हे प्रभो आपका फरमाना सत्य है। हे प्रभो! आपका वचन तथ्य है।

श्रीमद्‌भगवतीसूत्रम्

प्रथम शतक — दसवां उद्देशक

विशेष प्रवेश

श्रीभगवतीसूत्र के प्रथम शतक का नौवां उद्देशक पूर्ण हुआ। यहां दसवें उद्देशक का आरम्भ किया जाता है। नौवें उद्देशक की समाप्ति में गौतम ने भगवान से 'सेवं भंते! सेवं भंते!' कहा था। हह कहने के पश्चात् वे फिर 'जायसंसए' अर्थात् जातसंशय हुए। जातसंशय होने पर उनमें प्रश्न पूछने की श्रद्धा उत्पन्न हुई। अतएव गौतम स्वामी फिर प्रश्न पूछने के लिए तैयार हो गये।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि गौतम स्वामी चार ज्ञान के धनी, पर केवली न होते हुए भी केवली के समान थे। फिर उनके मन में प्रश्न करने की जो तरंग आई, उसका एकमात्र कारण यही है कि वे दीनदयाल और परम करुणावान थे। इसलिए खुद को शंका न होने पर भी उन्होंने हमारे हित के लिए भगवान् से प्रश्न किये हैं। गौतम स्वामी प्रत्येक तत्त्व पर भगवान् के ज्ञान की मोहर लगवाना चाहते थे और भगवान् के नाम पर ही उसे प्रसिद्ध करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उस समय दार्शनिक चर्चा भी खूब हुआ करती थी। अतएव जो भी दार्शनिक चर्चा होती, गौतम स्वामी उसे भगवान् के समक्ष उपस्थित कर देते और उस उस पर भगवान् का निर्णय जान लेते थे।

चर्चा से कभी घवराना नहीं चाहिए, न क्षुब्ध होना चाहिए। अगर कभी घवराहट या क्षोभ हो तो समझना चाहिए कि अभी मुझमें अपूर्णता है। जव हमारे सामने भगवान् की वाणी विद्यमान है तो घवराने की जरूरत ही क्या है?

भगवान् के समय खूब दार्शनिक चर्चा हुआ करती थी। सारा भारत उस समय तात्त्विक खोज में लगा था। आध्यात्मिक विषय के सामने इतिहास, भूगोल या आधुनिक विज्ञान आदि सव विषय गौण हो गये थे। अनेक विद्वानों का ऐसा कथन है कि भारत पहले आध्यात्मिकता की ओर ही

अधिक झुका हुआ था। अन्य विषयों की ओर उसका ध्यान बहुत कम था। गौतम स्वामी के बार–बार प्रश्न करने का एक कारण तत्कालीन दार्शनिक चर्चा भी हो सकता है।

जिस समय दार्शनिक और आध्यात्मिक चर्चा की बहुलता थी, वह समय कितने आनंद का रहा होगा! जिस समय समाज में जैसी भावना प्रबल होती है, उस समय वैसा ही साहित्य भी बनता है। युद्धकाल में गोला–बारूद का ही साहित्य बनता है। ऐसे समय में शांति के साहित्य को कौन पूछता है?

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर को वन्दन–नमस्कार किया और फिर पूछने लगे।

मूलपाठ

प्रश्न – अन्नउत्थिया णं भंते! एवं आईक्खंति, जाव–एवं परूवेंति–'एवं खलु चलमाणे अचलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे अणिज्जिणे।'

'दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहणंति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगंततो न साहणंति? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं नत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहणंति।

'तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति? तिण्हं परमाणुपोग्लाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिविहा वि कज्जंति। दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ एगयओ वि दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ। तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति। एवं जाव–चत्तारि।

पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति, साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति। दुक्खे वि य णं से सासए सया समिअं उवचिज्जई य अवचिज्जई य।

पुव्विं भासा भासा। भासिज्जमाणी भासा अभासा। भासा समय वितिवक्कंतं च णं भासिआ भासा।

जासा पुव्वं भासा भासा। भासिज्जमाणी भासा अभासा। भासासमयवितिक्कंतं च णं भासि आ भासा। सा किं भासओ भासा? अभासओ भासा? अभासओ णं सा भासा। तो खलु सा भासओ भासा।

जा सा पुव्वं किरिया दुक्खा। कज्जमाणी किरिया अदुक्खा। किरिया समय–वितिक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा।

जा सा पुव्वं किरिया दुक्खा। कज्जमाणी किरिया अदुक्खा किरियासमयवितिक्कंतं चणं कडा किरिया दुक्खा। सा किं करणाओ दुक्खा? अकरणओ णं सा दुक्खा। नो खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया।

अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणाभूअ–जीव सत्ता वेदणं वेदंति इति वत्तव्वं सिया।

से कहमेअं भंते! एवं?

उत्तर – गोयमा! जे णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति, जाववेदणं वेदेंति वत्तव्वं सिया। जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं आहिंसु। अहं पुण गोयमा! एवं आइक्खामि 'एवं खलु चलमाणे चलिए,' जाव–निज्जरिज्जमाणे निज्जिणणे।

दो परमाणुपुग्गला एगयओ साहणंति। कम्हा दो परमाणुपुग्गला एगयओ साहणंति? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ परमाणुपोग्गले भवंति।

तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति? तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिहा वि कज्जंति। दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गल, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति। तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति। एवं जाव–चत्तारि।

पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। एगयओ साहणित्ता खंधत्ताए कज्जंति। खंधेवि य णं से असासए सया समिअं उवचिज्जइ य, अवचिज्जइ य।

पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा, भासासमयवितिक्कंतं च णं भासिआ भासा अभासा; सा किं भासओ भासा? अभाओणं भासा। नो खलु सा अभासओ भासा।

पुव्विं किरिया अदुक्खा। जहा भासा जहा भासा तहा भाणिअव्वा। किरिया वि जाव–करण–ओ सा दुक्खा खलु सा अकरणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया।

किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाण–भूअ–जीव–सत्ता वेदणं वेदेंति, इति वत्तव्वं सिया।

संस्कृत छाया

प्रश्न – अन्य यूथिका भगवन्! एवमाख्यान्ति, यावत् प्ररूपयन्ति–'एवं खलु चलमानम् अचलितम्, यावत्–निर्जीर्यमाणम् अनिर्जीर्णम्।'

द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतौ न संहन्येते। कस्माद् द्वौ परमाणुपद्गलौ एकतौ न संहन्येते? द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः नास्ति स्नेहः कायः, तस्मान् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतो न संहन्येते।

त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्येते। कस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्येते? त्रयाणां परमाणुपुद्गलानाम् अस्ति स्नेहकायः, तस्मात् त्रयः, परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते। ते भिद्यमाना द्विधा अपि, त्रिविधा अपि क्रियन्ते। द्विद्या क्रियमाणा एकतो द्वयर्धः परमाणुपुद्गलो भवति, एकतोऽपि द्वयर्धः परमाणुपुद्गलो भवति। त्रिधाक्रियमाणा त्रयः परमाणुपुद्गला भवन्ति। एवं यावत्–चत्वारः।

पंचपरमाणुपुद्गला एकतः, संहन्यन्ते, संहत्य दुःखतया क्रियन्ते दुःखमयि च तत् शाश्वतं सदा समितम् उपचीयते च, अपचीयते च।

पूर्व भाषा भाषा। भाष्यमाणा भाषा अभाषा। भाषासमयव्यवित्तक्रान्ता च भाषिता भाषा।

या सा पूर्व भाषा, भाष्यमाणी भाषा अभाषा, भाषासमयव्यवित्तक्रान्ता च भाषिता भाषा, सा किं भाषमाणस्य भाषा? अभाषमाणस्य सा भाषा। नो णलु सा भाषमाणस्य भाषा।

या सा पूर्व क्रिया दुःखा क्रियमाण क्रिया अदुक्खा, क्रियासमयव्यतिक्रान्ता च कृता क्रिया दुःखा।

या सा पूर्व क्रिया दुःखा क्रियमाणा क्रिया अदुःखा, क्रियासमयव्यवित्तक्रान्ता च कृता क्रिया दुःखा, सा किं करणतः दुःखा, अकरणतो दुःखा? अकरणतः सा दुःखा, नो खलु सा करणतो दुःखा, तदेवं वक्तव्यं स्यात्।

अकृत्यं दुःखम्, अस्पृश्यं दुःखम्, अक्रियमाण कृतं दुःखम्, अकृत्वा–प्राण–भूत–जीव–सत्वा वेदनां वेदयन्ति, इति वक्तव्यं स्यात्।

तत् कथमेतत् भगवन् एवम्?

उत्तर – गौतम यत्ते अन्यतीर्थिका एवम् आख्यन्ति, यावत्–वेदना वेदयन्ति इति वक्तव्यं स्यात्, ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः। अहं पुनर्गौतम! एवमाख्यामि – एवं खलु चलमाणे चलितम् यावत् निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम्।

द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्यन्ते। कस्माद् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्यन्ते? द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः अस्ति स्नेहकायः, तस्माद् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः सहन्येते। तौ भिद्यमानौ द्विधा क्रियते। द्विधा क्रियमाणौ एकतः परमाणुपुद्गलः, एकतः परमाणुपुद्गलो भवति।

त्रयः परमाणुपुद्गला एकतः संहन्यते। कस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गला एकतः संहन्यते? त्रयाणां परमाणुपुद्गलानाम् अस्ति स्नेहकायः, तस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गला एकतः संहन्यते। ते भिद्यमाना द्विधा अपि, त्रिधा अपि क्रियन्ते। द्विधा क्रियमाणा एकतः परमाणुपुद्गलः, एकतः द्विप्रदेशिकः स्कन्धो भवति। त्रिधा क्रियमाणाः त्रयः परमाणुपुद्गला भवन्ति। एवं यावत्–चत्वारः।

पंच परमाणुपुद्गला एकः सहन्यते। एकतः संहत्य स्कन्धतया क्रियन्ते। स्कन्धो अपि च स अशाश्वतः, सदा समितम् उपचीयते च अपीचयीते च।

पूर्व भाषा अभाषा, भाष्यमाणी भाषा भाषा भाषासमयव्यतिक्रान्ता च भाषिता अभाषा।

या सा पूर्व भाषा अभाषा। भाष्यमाणी भाषा भाषा, भाषासमयव्यतिक्रान्ता च भाषिता भाषा अभाषाः, सा किं भाषमाणस्य भाषा, भाषमाणस्य अभाषमाणस्य भाषा? भाषमाणस्य भाषा, नो खलु सा अभाषमाणस्य भाषा।

पूर्व क्रिया अदुःखा, यथा भाषा तथा भणितव्या। क्रियाऽपि यावत्–करणतः सा दुःखा, नो खलु सा अकरणतो दुःखा। तदेवं वक्तव्यं स्यात्।

कृत्यं दुःखं, स्पृश्यं दुःखं, क्रियमाणकृतं दुःखं, कृत्वा कृत्वा प्राण–भूत–जीव–सत्वा वेदनां वेदयन्ति, इति वक्तव्यं स्यात्।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! अन्यतीर्थी इस प्रकार कहते हैं– यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि– 'जो चल रहा है, वह चला नहीं कहलाता और यावत्–जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण नहीं कहलाता।'

दो परमाणु पुद्गल एक साथ नहीं चौंटते। दो परमाणु पुद्गल एक साथ क्यों नहीं चौंटते? दो परमाणु पुद्गलों में चिकनापन नहीं है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल एक साथ नहीं चौंटते।

तीन परमाणु पुद्गल एक–दूसरे से चौंट जाते हैं। तीन पुद्गल परमाणु आपस में क्यों चौंटते हैं? तीन परमाणु पुद्गलों में चिकनापन होता है, इस कारण तीन परमाणु पुद्गल आपस में चौंटते हैं? अगर तीन परमाणु पुद्गलों के भाग किए जाएं तो दो भाग भी हो सकते हैं और तीन भाग भी हो सकते हैं। अगर तीन परमाणु पुद्गलों के दो भाग किये जाएं तो एक तरफ

डेढ़ परमाणु होता है और दूसरी तरफ भी डेढ़ परमाणु हो जाता है। और यदि परमाणु पुद्गल के तीन भाग किये जाएं तो एक–एक करके तीन परमाणु अलग–अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु पुद्गलों के विषय में समझना चाहिए।

पांच परमाणु पुद्गल आपस में चौंट जाते हैं और दुःखरूप में – कर्मरूप में – परिणत होते हैं। वह दुःख – कर्म शाश्वत है और सदा भलीभांति उपचय को प्राप्त होता है तथा अपचय को प्राप्त होता है।

बोलने से पहले जो भाषा अर्थात् भाषा के पुद्गल हैं, वह भाषा है। बोलते समय की भाषा अभाषा है और बोलने के बाद की भाषा, भाषा है।

यह जो (बोलने से) पहले की भाषा, भाषा है और बोलते समय की भाषा, अभाषा है, तथा बोलने के बाद की भाषा, भाषा है, सो क्या बोलते पुरुष की भाषा है या अनबोलते पुरुष की भाषा है? (उत्तर) अनबोलते पुरुष की वह भाषा है, बोलते पुरुष की वह भाषा नहीं है।

वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दुःखरूप है। वर्तमान में की जाती क्रिया दुःखरूप नहीं है और करने के समय के बाद की कृत–क्रिया भी दुःखरूप है।

वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दुःख का कारण है। की जाती हुई क्रिया दुःख का कारण नहीं है और करने के समय के बाद की क्रिया दुःख का कारण है, तो वह क्या करने से दुःख का कारण है या नहीं करने से दुख का कारण है? (उत्तर) नहीं करने से वह दुःख का कारण है, करने से दुःख का कारण नहीं है। ऐसा कहना चाहिए।

अकृत्य दुःख है, अस्पृस्य दुःख है और अक्रियमाण कृत दुःख है। उसे न करके प्राण, भूत, जीव और सत्व वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

श्री गौतम स्वामी पूछते हैं कि भगवन्! यह अन्यतीर्थिकों का मत क्या इस प्रकार ठीक है?

उत्तर – गौतम! यह अन्यतीर्थिक जो कहते हैं– 'वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए,' उन्होंने यह जो कहा है वह मिथ्या कहा है। हे गौतम! मैं ऐसा कहता हूं कि जो चल रहा है वह 'चला' कहलाता है और यावत् जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण कहलाता है।

दो परमाणु पुद्गल आपस में चौंट जाते हैं। दो परमाणु पुद्गल आपस में चौंट जाते हैं, इसका क्या कारण है? परमाणु पुद्गलों में चिकनापन है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल परस्पर चौंट जाते हैं। उन दो परमाणु पुद्गलों

के दो भाग हो सकते हैं। अगर दो परमाणु पुद्गलों के दो भाग किये जाएं तो एक तरफ एक परमाणु और एक तरफ एक परमाणु होता है।

तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चौट जाते हैं। तीन परमाणु पुद्गल परस्पर किस कारण चौंट जाते हैं कि तीन परमाणु पुद्गलों में चिकनापन है, इस कारण तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चौंट जाते हैं। उन तीन परमाणु पुद्गलों के दो भाग भी हो सकते हैं। तीन भाग भी हो सकते हैं। दो भाग करने पर एक तरफ एक परमाणु और एक तरफ दो प्रदेश वाला एक स्कंध होता है। तीन भाग करने पर एक–एक करके तीन परमाणु हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु पुद्गल में समझना चाहिए। परन्तु तीन परमाणु के डेढ़–डेढ़ नहीं हो सकते।

पांच परमाणु पुद्गल परस्पर में चौंट जाते हैं और परस्पर चौंट कर एक स्कंधरूप बन जाते हैं। वह स्कंध अशाश्वत है और हमेशा उपचय पाता है तथा अपचय पाता है, अर्थात् वह बढ़ता भी है और घटता भी है।

पहले की भाषा अभाषा है। बोलते समय की भाषा भाषा है और बोलने के बाद की भाषा भी अभाषा है।

वह जो पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा भाषा है और बोलने के बाद की भाषा अभाषा है, सो क्या बोलने वाले पुरुष की भाषा है या अनबोलते पुरुष की भाषा है? (उत्तर) वह बोलने वाले की भाषा है, वह अनबोलते पुरुष की भाषा नहीं है।

(करने से) पहले की क्रिया दुःख का कारण नहीं है, उसे भाषा के समान ही समझना चाहिए, यावत् वह क्रिया करने से दुःख का कारण है, न करने से दुःख का कारण नहीं है। ऐसा कहना चाहिए।

कृत्य दुःख है, स्पृश्य दुःख है, क्रियमाणकृत दुःख है। उसे कर–करके प्राण–भूत–जीव और सत्व वेदना भोगते हैं। ऐसा कहना चाहिए।

व्याख्यान

भगवान् को वंदना और नमस्कार करके गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! अन्यतीर्थी कहते हैं– 'चलमाणे अचलिए।' उनका यह कथन क्या सत्य है?

गौतम स्वामी ने यह जो प्रश्न किया है, इसी प्रकार के कुल नौ प्रश्न हैं। उन्होंने पहले भी 'चलमाणे चलिए' के विषय में प्रश्न किये थे। जो प्रश्न उन्होंने इस सूत्र के प्रारम्भ में किये थे, वही इस शतक की समाप्ति और दसवें उद्देशक के आरम्भ में क्यों किये हैं? इन प्रश्नों में ऐसा क्या महत्त्व है?

वही प्रश्न दूसरी बार किया गया है, यह सोच कर उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। वास्तव में इन नौ प्रश्नों में सारे जैन सिद्धान्त का समावेश हो जाता है। जैन धर्म प्रधानतः उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम पर अवलंबित हैं। इन प्रश्नों में इन्हीं का वर्णन है। कई लोग कहते हैं कि जैसे कर्म किये हैं, वैसे ही भोगने पड़ते हैं। लेकिन पुण्य और पाप बदल सकते हैं या नहीं? अगर बदल सकते हैं तो किस प्रकार? यह बात इन नौ प्रश्नों से मालूम हो जायगी। इन प्रश्नों में सारे संसार के सुधार का हिसाब बतलाया है।

गौतम स्वामी ने भगवान् से जो प्रश्न किया, वह प्रार्थना द्वारा ही किया। इससे हमें समझ लेना चाहिए कि हमें अगर कोई तत्त्व ग्रहण करना है तो प्रार्थना द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए। हठ करने पर कोई तत्त्व या सिद्धान्त हृदयंगम नहीं किया जा सकता। अगर आप प्रार्थना द्वारा तत्त्व ग्रहण करना सीख जाएंगे और गौतम स्वामी की प्रश्न करने की रीति को ध्यान में लेंगे तो फिर आपको किसी और की खुशामद नहीं करनी पड़ेगी। आप स्वयं सब तत्त्वों के भलीभांति ज्ञाता बन सकते हैं।

शास्त्र की बात सुनने की अपेक्षा सुनाना कठिन है। सुनाने का काम भाड़े का–सा नहीं होना चाहिए, वरन् सुनाने वाला जो–कुछ भी सुना रहा है, उसका पालन करने का उत्तरदायित्व उस पर आ ही जाता है। सुनने वाला सुनाने वाले की बात का पालन करे या न करे, सुनाने वाले को तो अपनी बात का पालन करना ही चाहिए। मनोरंजन तो नाटक में क्या कम होता है? क्या उसमें ऐसा करुण रस नहीं झलकाया जाता है कि जिसे देख–सुनकर रोना आने लगता है? क्या वीर रस के ऐसे दृश्य नहीं दिखाये जाते हैं कि जिन्हें देखकर कायरों का खून भी गर्म हो उठता है? ऐसा होने पर भी साधु के उपदेश में और नाटक में क्या अन्तर है, यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में भगवान् ने कहा है– हे गौतम! मेरे वचन का उपदेश देने वाला कौन हो सकता है? मेरे वचन वही सुना सकता है जो इन्द्रियों को और मन को जीतने वाला हो, आत्मा को संवर में रखता हो और जिसने हिंसा के प्रवाह को काट दिया हो, जो सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, जो अपरिग्रही हो, पास में एक कौड़ी भी न रखता हो और जो आस्रव रहित हो। जो ऐसा होगा वही भगवान् के वचन

सुना सकता है। इन गुणों से युक्त पुरुष ही मेरे परिपूर्ण और अनुपम धर्म की व्याख्या कर सकेगा।

मतलब यह है कि आचारनिष्ठ त्यागी ही धर्म का उपदेश दे सकता है। अतएव धर्म का उपदेशक बनने के लिए सबसे पहले त्याग की आवश्यकता है। त्याग का बड़ा महत्त्व है। चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, जिसमें त्याग की शक्ति है, उसके सामने बड़ी से बड़ी शक्ति झुक जाती है। आज स्त्रियों में त्याग की यह शक्ति कम है। इसी से यह कहा जाता है कि उस आदमी के भाग्य अच्छे हैं, जिसके यहां लड़की नहीं हुई।

त्यागी के वचनों में भी अलौकिक शक्ति होती है। आपका सद्भाग्य है कि आपको भगवान् महावीर जैसे अनुपम और आदर्श त्यागी महापुरुष के वचन सुनने का सुअवसर मिला है। इन्हें ध्यान से सुनिये। इससे आप का कल्याण होगा।

गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया— प्रभो! 'चलमाणे अचलिए' कहना क्या ठीक है? इस प्रकार भगवान से उन्होंने नौ प्रश्न किये। उनका विस्तार आगे किया जायगा। मगर पहले इस प्रश्न का निर्णय हो जाने से आगे के प्रश्नों का निर्णय करना सरल हो जाएगा।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि ऐसा कहने वाले मिथ्या कहते हैं। उन्होंने तत्त्व का विचार नहीं किया है। उन्हें ज्ञान नहीं है।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी कहते हैं— ऐसा कहने वाले युक्ति भी देते हैं कि 'चलमाणे' वर्तमान है और 'चलिए' भूतकाल है। जो क्रिया वर्तमान में है, उसे भूतकालीन कैसे कहा जा सकता है?

'चलमाणे चलिए' का अर्थ क्या है, यह समझ लीजिए। एक आदमी यहां से मुम्बई के लिए चला। वह अभी रेल में सवार भी नहीं हुआ है, फिर भी उसके लिये यही कहा जायगा कि वह मुम्बई गया। व्यवहार में ऐसा ही कहा भी जाता है। इस पर से यह कहा जा सकता है कि अभी वह मुम्बई नहीं पहुंचा है, फिर भी उसके विषय में 'मुम्बई गया' कहा जाय तो यह कहना झूठ होगा। लेकिन यदि जैन सिद्धान्त इस प्रश्न का समाधान करने में समर्थ न होता तो भगवान् ऐसी प्ररूपणा कदापि न करते। भगवान् कहते हैं— 'चलमाणे चलिए'। यानी जो काम होने लगा उसे 'हुआ', ऐसा कहना चाहिए। ठीक इसी प्रकार जैसे मुम्बई न पहुंचने पर भी मुम्बई जाने वाले के विषय में कहा जाता है कि वह मुम्बई गया।

इस प्रश्नोत्तर की विवेचना यद्यपि पहले हो चुकी है, तथापि उसे फिर दोहराने की आवश्यकता है, क्योंकि मूल सूत्र में भी उसे दोहराया गया है।

इस सिद्धान्त को समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। कोई भी कपड़ा एक ही तार से पूरा नहीं बनता। उसे बुनने के लिये अनेक तारों को डालने की आवश्यकता होती है। लेकिन जब कपड़ा बुनना आरम्भ हुआ, उसमें कुछ तार डाले कि उसे 'बुना' कहा जा सकता है।

यही बात कर्मसिद्धान्त के विषय में समझनी चाहिये। कुछ कर्म अभी उदयावलिका में नहीं आये हैं, पर उदयावलिका में आने के लिये चलायमान हो गये हैं और सब कर्मों को उदयावलिका में आने के लिये अभी असंख्यात समय लगेगा, तब वे उदयावलिका मे आएंगे। अभी कुछ ही कर्म उदयावलिका में आने के लिये चलित हुए हैं और अभी बहुत–से चलने को शेष हैं, लेकिन पहले समय में जो कर्म चलने लगे, उन्हीं की अपेक्षा से कर्म को 'चला' कहा जा सकता है।

इस विषय में अनेक तर्क–वितर्क हो सकते हैं। जो लोग केवल चर्म–चक्षु से तत्त्व की पहचान करने वाले हैं, वास्तविकता को नही जानते, वे तो इसे असत्य भी कह दें तो कोई आश्चर्य नहीं। उनका एकमात्र तर्क यही है कि वर्तमानकाल और भूतकाल एक कैसे हो सकते है?

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि जहां समर्थ कारण है वहां कार्य की सिद्धि अवश्य है। अतएव अगर अविनाभावी और समर्थ कारण हैं तो कार्य हुआ ही समझना चाहिये।

जुलाहे ने कपड़ा बुनने के लिए अभी एक ही तार डाला है, मगर यह कपड़ा बुनने की क्रिया हुई या नहीं? यह क्रिया कार्य को सिद्ध करती है या नहीं? अगर इतनी क्रिया से कार्य की सिद्धि न मानी जाय तो वह क्रिया निष्फल हुई माननी पड़ेगी। लेकिन वास्तव मे वह क्रिया निष्फल नहीं होती। उससे कार्य की सिद्धि अवश्य हुई है। एक तार को बुनना अगर निष्फल क्रिया हो तो दूसरा तार बुनना भी निरर्थक ही मानना होगा। इसी प्रकार तीसरे और चौथे तार को भी निष्फल न मानने का कोई कारण नही रहेगा। और फिर अन्त मे भी तो एक ही तार बुना जाता है, फिर उसे भी निरर्थक क्यो नही कहा जायगा? पहले के सब तार अगर निरर्थक हुए तो अन्त का एक ही तार क्या सार्थक है? पहले तार से अन्तिम तार मे ऐसी क्या विशेषता है कि [illegible]

निरर्थक और उसे सार्थक कहा जाय? अन्तिम तंतु से राग और पहले के तमाम तंतुओं से द्वेष होने के सिवाय और कोई भी खास विशेषता नहीं है।

एक–एक बूंद से पूरा घड़ा नहीं भरा जा सकता, लेकिन भगवान् कहते हैं कि घड़ा भरने के लिये घड़े में एक बूंद पड़ी कि उसे भरा हुआ मानो। कदाचित् यह कहा जाय कि अभी तो घड़ा खाली है, उसे भरा कैसे माना जाय? मगर इस प्रकार तो वह अन्तिम बूंद तक खाली रहेगा और यदि अन्तिम बूंद से ही भरना मानते हो तो पहले की सब बूंदें क्या निरर्थक हैं? अगर पहले की बूंदों से घड़े का भरना नहीं मानते तो अन्तिम बूंद से ही भरा हुआ क्यों मानते हो? अन्तिम बूंद में ही ऐसी कौन–सी अलौकिक शक्ति है कि वह घड़े को भर देती है? अतएव कार्य का आरम्भ हुआ कि उसे 'हुआ' मानना उचित है। यही बात कर्म के विषय में भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि आदमी अभी मुम्बई जाने के लिए निकला है। उसने मुम्बई की ओर कुछ ही कदम रखे हैं, और वह लौट भी सकता है। अनेक बार ऐसा होता है कि कहीं जाने को निकले, परन्तु रास्ते में से ही वापस आ गये। ऐसी स्थिति में कुछ ही डग भरने से किसी को 'मुम्बई गया' कैसे कहा जा सकता है ? अगर एक ही पैर रखने से किसी को 'मुम्बई गया' मान लिया जाय तो आगे कदम रखने की क्या आवश्यकता है? बल्कि ऐसा उपदेश देने से तो लाभ के बदले हानि ही होगी। कार्य कभी पूरा भी नहीं होगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई आदमी जब मुम्बई जाने के लिए निकला, तब उसका इरादा मुम्बई जाने का ही था कि नहीं? और इरादा होने के साथ कार्य का आरम्भ होना मानोगे या नहीं? न मानने पर तो सारी व्यवस्था भंग हो जाती है। फिर तो कोई यह भी नहीं कह सकता कि 'आप मुम्बई जाते हो तो हमारा अमुक कार्य करते आना।' जब मुम्बई जाने का इरादा होते ही कार्य का आरम्भ होना मान लिया जाता है, तो एक पैर रखने पर कार्य हुआ क्यों नहीं माना जायगा? अगर कोई बीच में से लौट आता है तो उसका इरादा बदला, परन्तु पहले तो इरादा था ही। बल्कि मुम्बई पहुचंने से पहले–पहले अगर उसे 'गया' न माना जाय तो फिर 'रास्ते में से लौटा' ऐसा व्यवहार कैसे हो सकता है? जो 'गया' नहीं, उसे 'लौटा' कैसे कहा जा सकता है? जब उसे रास्ते में से लौटा कहते हैं तो 'गया' भी कहना ही चाहिए। जब उसका इरादा बदल जाएगा तब वह लौट कर घर की ओर एक कदम बढ़ाएगा कि 'घर गया' कहलाएगा। लेकिन इरादा होते ही कार्य का प्रारम्भ

मान लिया जायगा। और कार्य का प्रारम्भ होने के साथ ही कार्य हुआ भी माना जाएगा। ऐसा मानने पर ही किसी कार्य के लिए की जाने वाली सब क्रियाएं सार्थक हो सकती हैं।

उदाहरणार्थ, सरसों के एक दाने में भी तेल रहता है। अगर एक दाने में तेल न माना जाएगा तो बहुत–से दानों में भी कैसे माना जा सकता है? लेकिन एक दाने में तेल है, इसलिए कोई आदमी एक दाना लेकर ही उससे चिराग जलाने का काम लेना चाहे तो कैसे हो सकता है? चिराग जलाने का काम तो तभी होगा जब बहुत–से दानों का तेल निकाला जाएगा। मान लीजिए, तेल निकालने के लिए उसे घानी में डाला। उस एक दाने से घानी भर नहीं गई, फिर भी यदि उस दाने के पड़ने से घानी भरी, ऐसा न मानोगे तो बहुत दाने डालने पर भी घानी भरी हुई नहीं मानी जायगी, बल्कि अन्तिम एक दाने से ही भरी हुई माननी पड़ेगी। लेकिन जब और तमाम दोनों का डालना निरर्थक हुआ तो उस एक दाने का ही डालना सार्थक कैसे कहा जा सकता है? अगर पहले के तमाम दानों से घानी नहीं भरी तो अन्तिम एक दाने से कैसे भरी? उस अन्तिम दाने में अन्य दानों की अपेक्षा क्या विशेषता थी? दाने तो सभी एक–से हैं। प्रथम और अन्तिम होना तो सिर्फ संयोग की ही बात है।

इस प्रश्नोत्तर का आशय यह है कि कार्य आरंभ हुआ कि वह सिद्ध हुआ ही समझो। किसी जीव का पहला गुणस्थान छूटा और दूसरा गुणस्थान प्राप्त हुआ कि उसे सिद्ध हुआ समझो। भगवान कहते हैं– वह मोक्ष गया हुआ ही है। अर्थात् उसने अब तक जो क्रिया की है, वह निष्फल नहीं हुई। वह मोक्ष के लेखे में लगी है। भगवान् के इस सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर सदा आगे ही बढ़ते रहना, पीछे नहीं हटना! फारसी की एक कहावत है–

मर्दी और नामर्दी कदमे फासला दारद।

अर्थात् जो एक भी कदम आगे है वह मर्द माना जाता है और जो एक भी कदम पीछे है, वह नामर्द समझा जाता है। इस बात को दृष्टि में रखकर एक भी कदम आगे बढ़ोगे तो मुक्ति सिद्ध होगी। एक का कथन है कि जो पैसे का नाश करेगा, वह रुपये का भी नाश करेगा। जो पैसा गंवाता है वह रुपया भी गंवाएगा और फिर दिवाला भी निकाल देगा।

कई मुनि कहने लगते है– 'अमुक छोटी–सी बात मे क्या धरा है? लेकिन भगवान् ने कहा है –

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बन्धई।
अजयं चरमाणो यं, पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं।

जैसे पैसे को नष्ट करने वाला गृहस्थ रुपये को भी नष्ट कर डालता है, इसी प्रकार ईर्या का ध्यान न रखने वाला साधु भाषा का ध्यान भी न रखेगा और फिर वह संयम का ही नाश कर डालेगा। इसलिये भगवान् ने साधुओं से कहा है– सावधान रहो। सावधानी रखने पर और ईर्या समिति से चलने पर भी यदि जीव मर जाएगा तो प्रमादरूपी पापकर्म का बन्ध नहीं होगा। इससे विपरीत, ईर्या समिति से न चलने की अवस्था में चाहे कोई जीव न मरे, तब भी पापकर्म का बन्ध होगा। जो ईर्या–भाषा का ध्यान रखता है, उसका संयम भी निर्मल रहता है और वह अठारहों पापों से बचा रह सकता है। अतएव यह समझ कर असावधान मत होओ कि मैंने अठारह पाप त्याग दिये हैं। जहां प्रमाद का योग है, वहां हिंसा है, जहां हिंसा है, वहां अन्य पापकर्म का बन्ध है।

गृहस्थ लोग भी 'यह तो साधारण–सी बात है। इसमें क्या पाप–दोष है!' ऐसा कहकर धर्म के विषय में शिथिल होते जाते हैं। धर्म के विषय में थोड़ी–सी शिथिलता भी महान् अर्थकारिणी होती है। जैसे यह सोचना कि स्वयं बनाकर रोटी खाएं तो क्या और सीधी होटल में बनी हुई खाएं तो क्या! इसी प्रकार कपड़ा बना कर पहनें तो क्या और मिल का पहनें तो क्या? खद्दर पहनें तो क्या और विलायती पहनें तो क्या ! ऐसी बातों को आप छोटी समझ कर उनकी ओर उपेक्षा करते हैं, किन्तु इससे परम्परा में महान् अनर्थ उत्पन्न होते हैं।

जैन धर्म अनेकान्तवादी है। अतएव कभी और कहीं सीधा खाना भी ठीक होता है और कभी तथा किसी अवस्था में सीधा लेना और खाना भी महापाप का कारण होता है। मगर लोगों ने तो एक बात पकड़ रखी है कि सीधा पहनने–खाने में पाप नहीं होता है और बनाकर खाने–पहनने में पाप होता है। या सीधा पहनने–खाने में कम पाप होता है और बनाकर खाने–पहनने में अधिक पाप होता है। इस प्रकार सीधे खाने–पहनने के धोखे में आने से अनेक प्रकार की हानियां होती हैं और हुई है। अतएव सीधे के धोखे में मत रहो। आज मैं इस विषय पर कुछ कहता हूं तो लोग टीका करते हैं, लेकिन पहले के महापुरुष क्या मेरी ही तरह नहीं कहते थे? पहले तो गोरस

शक्कर और बनारसी शक्कर का प्रश्न ही नहीं था। लेकिन पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज क्या यह उपदेश नहीं देते थे कि मोरस शक्कर छोड़ो? अगर तुम नहीं छोड़ सकते तो कम से कम साधुओं को तो भ्रष्ट मत करो। ऐसा कहकर वे क्या सुपात्रदान का निषेध करते थे? उन्होंने सुपात्रदान का निषेध नहीं किया, किन्तु अशुद्ध वस्तु के दान का निषेध किया था।

लोग यह नहीं समझते कि हमारी असावधानी से धर्म किस प्रकार नष्ट होता है। प्रत्येक वस्तु में विवेक रखना श्रावक का धर्म है। इस विवेक को मत भूलो। जो वस्तु सामने बनती है उसके विषय में तो आप देखकर भी जानकारी कर सकते हो, लेकिन छानबीन की जरूरत तो विशेषतः उसी वस्तु के लिए है जो आपके सामने नहीं बनती है, अपितु सीधी आती है। सामने ढलने वाले रुपये की परख की आवश्यकता नहीं रहती। मगर सीधे आने वाले रुपये को बिना परखे कौन बुद्धिमान लेता है? अगर उसे परख कर ही लेते हो तो यह कहना कैसे ठीक होगा कि यह वस्तु तो सीधी ली है, यह कैसे भी बनी हो, इससे हमें क्या मतलब! जो पाप करता है, उसी को लगता है। हम तो सीधी बनी–बनाई लेते हैं। इस धोखे में न रहो। किन्तु सीधी आई वस्तु को भी जांच लो कि यह कैसे बनी है? यही श्रावक का कर्तव्य है, धर्म है।

कई लोग प्रत्यक्ष आरम्भ को ही देखते हैं, लेकिन आरम्भ देखकर सीधा खाने, पहनने और स्वयं काम न करने से कितनी हानि होती है और परम्परा से उनका परिणाम क्या होता है, इस बात का विचार नहीं करते। उदाहरणार्थ, एक आदमी घर की चक्की का पिसा आटा खाता है और दूसरा गिरनी का पिसा सीधा आटा बाजार से ले आता है और उसे खाता है। अब विचार किजिए कि किस प्रकार का आटा खाने में ज्यादा पाप है? सीधा लाने–खाने के समर्थक तो कह देंगे कि घर की चक्की में पिसा आटा खाने से ज्यादा पाप होता है और गिरनी में पिसा आटा सीधा ले आने और खाने में कम पाप होता है। क्योंकि घर में पीसने के लिए आरम्भ करना पड़ता है और बाजारू आटा सीधा मिल जाता है। इस प्रकार लोग आलस्य में पड़ रहे है, लेकिन वास्तव में धर्म आलस्य में नही है। कदाचित् कोई काम स्वयं न कर सको तब भी अपराध को अपराध तो मानो। अपराध को छिपाने के लिए सिद्धान्त को ही उलटने का प्रयत्न करना तो उचित नहीं कहा जा सकता।

गिरनी के आटे से इतनी हानि हुई और ऐसी खराबी हुई है कि कुछ कहा नही जा सकता। मैं गिरनी के आटे का निषेध करता हूं। इसे लेकर कुछ

लोग मेरी निन्दा करते हैं। लेकिन इसके निषेध के लिए तो पहले के स्तवन बने हुए है। घाटकोपर में मैं गिरनी के घाटे का निषेध करता था। उस समय एक भाई ने मुझसे कहा– आप जो–कुछ कहते हैं, सर्वथा सत्य है। एक दिन मैं गिरनी में आटा पिसवाने के लिये गया था। वहां मैंने एक मछली बेचने वाली को देखा। मैंने उससे पूछा कि तुम यहां किसलिए आई हो? उसने उत्तर दिया कि मैं आटा पिसवाने आई हूं। वह जिस टोकरे में मछलियां बेचती है, उसी टोकरे में अनाज लिया और पिसवाने के लिए ले आई। अब पहले उसका अनाज और फिर मेरा अनाज पीसा जाय तो मछली वाले टोकरे के अनाज का कुछ अंश मेरे आटे में आना स्वाभाविक है। यह देखकर मुझे विश्वास है कि आप जो–कुछ इस विषय में कहते हैं, वह सत्य ही है।

अब आप विचार करें कि ऐसी पापमय आजीविका करने वाले लोगों के अनाज का और वे जिन चीजों से संसर्ग रखते हैं, उन चीजों का संस्कार गिरनी में आटा पिसवाने पर आपके अनाज में आता होगा या नहीं? और उसका कुछ प्रभाव होता होगा या नहीं? मगर सीधी चीज के शौकीन इस बात का विचार नहीं करते। गिरनी में पिसवाने से अनाज का सत्त्व जल जाता है, यह बात तो अलग है ही। गिरनी में से जो आटा निकलता है, वह जलता हुआ निकलता है। पहले स्त्रियां कहा करती थीं और अब भी बहुत–सी कहती हैं कि डाकिन की नजर लग जाती है। यह तो उनके मन का बहम ही हो सकता है, लेकिन गिरनी तो सचमुच डाकिन है, जो अनाज का सत्त्व ही खींच लेती है और जिसके काबू में आने पर आटा भी जलने लगता है।

गिरनी के आटे से रोग भी होते हैं। अनेक डाक्टर गिरनी के आटे को हानिप्रद बतलाते हैं। इस सबके ऊपर इस बात का भी विचार करना चाहिए कि गिरनी के आटे के लिए कितना अधिक आरम्भ होता है। उसमें आग और पानी का महा–आरम्भ होता है। आप भगवान् के 'चलमाणे चलिए' सिद्धान्त को मत भूलो और याद रक्खो कि जो भी क्रिया की जाती है वह निरर्थक नहीं जाती।

अब दूसरा प्रश्न 'उदीरिज्जमाणे उदीरिए' का है। जब किसी मकान का पाया खिसक जाता है तब उस पर टिका हुआ मकान भी खिसक जाता है। इसी प्रकार जब 'चलमाणे चलिए' की जगह 'चलमाणे अचलिए' कहा तो 'उदीरिज्जमाणे अणुदीरिए' कहना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य प्रश्नों के विषय में भी ऐसा ही उलटा कहना होगा। लेकिन भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा– अन्यतीर्थी मिथ्या कहते हैं।

यहां दूसरे प्रश्न की व्याख्या करने से पहले यह देख लेना उपयोगी होगा कि उदीरणा किसे कहते हैं? उदीरणा शब्द पारिभाषिक है। इसका अर्थ है– जो कर्म बहुत समय बाद उदय में आने वाले हैं, उन्हें थोड़े ही समय में आकर्षण द्वारा उदय में ले आना। अर्थात् जो कर्म बहुत समय में उदय में आ सकते हैं, उन्हें अल्प समय में ही उदय में ले आना और विपाक में ही भस्म कर देना उदीरणा है।

'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि'। अर्थात् किये कर्मो का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, इस सिद्धान्त से उदीरणा के सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। इस सिद्धान्त का विवेचन पहले किया जा चुका है। कर्म की उदीरणा न मानी जाय तो धर्मक्रिया का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा। साथ ही किये कर्म को उसी रूप में भोगना ही पड़ता हो तो जीव की हिंसा, झूठ आदि का पाप भी नहीं लगना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने से जीव स्वतन्त्र तो रहेगा नहीं, वह एकान्ततः कर्माधीन हो जायगा। अतः वह जो भी कुछ करता है, वह पूर्वोपार्जित कर्म के प्रभाव से ही करता है। इसलिए उसे पाप नहीं लगना चाहिए। इसी प्रकार से राजनीति और धर्मनीति का दण्ड भी व्यर्थ होगा। किसी को किसी अपराध का दण्ड नहीं मिलना चाहिए। इस तरह उद्योगवाद सिद्ध नहीं होगा। इसी कारण शास्त्र में कहा है कि उदीरणा द्वारा कर्म थोड़े ही समय में उदय में लाया जा सकता है। ऐसा मानने से उद्योगवाद की सिद्धि होती है। अलबत्ता, ऐसा करने के लिए विशिष्ट अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। क्योंकि –

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन ही बंध और मोक्ष का प्रधान कारण है। और मन से ही विशिष्ट अध्यवसाय होते हैं। वचन और काय तो मन के गुलाम हैं। यों सच्चा स्वामी तो आत्मा है, परन्तु आत्मा का निकट सम्बन्ध मन से है और फिर शरीर से है। अतएव पाप–पुण्य का प्रधान कारण मन ही है।

प्रश्न किया जा सकता है कि त्याग के 49 भांगे हैं। उनमें 'काय से नहीं करूंगा', यह भी त्याग का एक भंग है। अगर मन के बिना कोई काम न हो सकता हो तो फिर काय से करने का त्याग किस काम का ठहरेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'काय से पाप नहीं करूंगा', इस प्रकार का त्याग कौन करता है? कौन यह कहता है कि काय से पाप नहीं करूंगा? वास्तव में यह संकल्प मन ही करता है। फिर मन को भूलकर केवल काय को ही क्यों पकड़ बैठते हो? लोग इस भ्रम में हैं कि हमने काय से त्याग किया

सो वस, पाप से मुक्त हो गये– अव हमें पाप नहीं लगेगा। लेकिन इस प्रकार की हठबुद्धि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में वाधक होती है। अतएव हठ मत पकड़ो, किन्तु तत्त्व को समझो और बुद्धि को विकसित होने का अवसर दो। ऐसा करने पर कभी–न–कभी ज्ञान भी होगा।

मन अपनी प्रवृत्ति तीन प्रकार से करता है– स्वयं करते रूप, कराते रूप और अनुमोदन करते रूप। काय से करने का त्याग होने पर उस तरफ की मन की प्रवृत्ति रुक जाती है, लेकिन कराने और अनुमोदन करने की प्रवृत्ति नहीं रुकती। अगर कराने और अनुमोदन करने की प्रवृत्ति भी रुक जाती हो तो करने, कराने और अनुमोदन करने की – तीनों ही का त्याग होगा। अतएव यह ठीक है कि त्याग के 49 भंग वतलाये हैं, लेकिन मन का उनके साथ क्या सम्बन्ध है, इस वात का विचार करना आवश्यक है। भगवान् ने ज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया की ही प्रशंसा की है, अज्ञानपूर्वक होने वाली क्रिया की प्रशंसा नहीं की है।

तात्पर्य यह है कि मन के वुरे अध्यवसाय से ही कर्मवंध होता है। यदि मन की प्रवृत्ति अर्थात् मन के वुरे अध्यवसाय वदलते न हों तो सदा अशुभ कर्म का ही वंध होगा। कभी शुभ कर्म वंधेंगे नहीं। लेकिन मन की प्रवृत्ति कभी शुभ होती है, कभी अशुभ होती है। जब शुभ होती है तव शुभ कर्म का वंध होता है और जव अशुभ होती है तव अशुभ कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार मन जव अपने अध्यवसाय को वदलता है, अच्छे और विशिष्ट अध्यवसाय करता है, तव वह अशुभ कर्म को भी वदल देता है तथा पहले वांधे हुए अशुभ कर्मों को आकर्पण द्वारा उदयावलिका में लाकर प्रदेश में ही भोग लेता है।

शास्त्र का यह कथन ठीक ही है कि विना भोगे कर्म नहीं छूटते। वास्तव में वांधे हुए कर्म भोगने पड़ते ही हैं, लेकिन कर्म दो तरह से भोगे जाते हैं– विपाक से और प्रदेश से। जो कर्म विपाक से भोगे जाते हैं उनकी वेदना तो मालूम होती है, लेकिन प्रदेश से भोगे जाने वाले कर्म की वेदना प्रत्यक्ष मालूम नहीं होती। मगर वेदना प्रत्यक्ष मालूम न होने पर भी वे वेदे अवश्य जाते हैं और इस प्रकार शास्त्र का यह कथन सत्य ही है कि किये हुए कर्म भोगे विना नहीं छूटते।

वहुत समय में भोगे जाने वाले कर्म को तप आदि अनुष्ठान से थोड़े ही समय में उदय–आवलिका में खींचकर ले आने को ही उदीरणा कहते हैं। वेदना तो इसमें भी होती है, लेकिन वह उसी प्रकार मालूम नहीं होती, जिस प्रकार क्लोरोफार्म सुंघाकर आपरेशन करने से वेदना प्रत्यक्ष मालूम नहीं

होती। कई लोग समझते हैं कि क्लोरोफार्म सुंघाकर ऑपरेशन करने से वेदना नहीं होती, मगर यह खयाल ठीक नहीं है। वेदना तो उस समय भी होती है। इसी प्रकार ज्ञानियों का कथन है कि विपाक से वेदना न होने पर भी प्रदेश से वेदना होती है। किसी को ज्यादा और असह्य आघात लगता है तब वह मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छित होने पर वेदना नहीं हुई, यह बात नहीं है। उस समय अधिक वेदना होती है, मगर वह विपाक रूप में नहीं दीखती, किन्तु प्रदेश रूप से होती है। इसी प्रकार किये हुए जो कर्म विपाक से नहीं भोगे जाते, वे भी प्रदेश से भोगे जाते हैं और उनकी वेदना विपाक से नहीं दीखती, फिर भी वह प्रदेश से तो है ही। उस प्रदेश–वेदना को हम लोग नहीं जानते, मगर ज्ञानी जानते हैं। किस प्रकार वेदना हो रही है, इस बात को वे भलीभांति देखते है। आप नहीं देखते, इस कारण वेदना नहीं हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कई बातें ऐसी होती हैं जिन्हें आप जानते हुए भी नहीं देख सकते। जैसे आप जो दूध पीते हैं, उसका रसभाग शरीर में ही रह जाता है और मलभाग बाहर निकल जाता है। जो रसभाग शरीर में रहा, वह रक्त, मांस आदि के रूप में परिणत होता है। उसका परिणमन किस प्रकार होता है, यह आप नहीं देखते, लेकिन जानते हैं कि परिणमन होता है। आपने जो दूध पीया, वह सफेद था। पर उसके रसभाग से जो रक्त बना वह लाल हुआ और जो–जो कुछ बना वह भिन्न–भिन्न रंग का हुआ। उसका इस प्रकार होना तो आप जानते हैं, लेकिन किस तरह हुआ, यह आप नहीं देखते। भले ही आप इसे न जानें, मगर ज्ञानी तो सभी कुछ जानते–देखते हैं कि किस प्रकार क्या हो रहा है। इसी प्रकार किये हुए कर्म का फल प्रदेश में किस तरह भोगा, इस बात को हम लोग नहीं जानते, लेकिन ज्ञानी तो जानते ही हैं। ज्ञानी पुरुषों से कोई बात छिपी हुई नहीं है। हम मन के अध्यवसाय से किस प्रकार कर्म बांधते है और उन्हें किस प्रकार भोगते हैं, यह सब ज्ञानी जानते हैं, यह समझकर पाप से सदा डरना चाहिए और कभी कोई पाप हो जाय तो उसके लिए अन्तःकरण से 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर पश्चात्ताप करना चाहिए। ऐसा करने से पाप का नाश होता है और आत्मा पवित्र बनती है।

वैद्य के द्वारा दी हुई दवा पेट में पहुंच कर किस तरह रोग मिटाती है, यह आप नहीं देखते, फिर भी वैद्य पर विश्वास करके उसकी दवा लेते है और उससे लाभ भी पहुंचता है। इसी प्रकार भगवान् महावैद्य ने हम लोगों का भव–रोग मिटाने के लिये जो दवा बतलाई है, उस पर भी विश्वास करके

उसे ग्रहण करो तो आपका भव–रोग नष्ट होगा। उसमें अपनी बुद्धि लड़ाने से ही काम नहीं चलेगा। विश्वास करो। बिना विश्वास किये वैद्य की दवा भी काम नहीं करती तो भगवान् की दवा कैसे काम करेगी? अतएव भगवान् ने जो–कुछ कहा है, उस पर विश्वास करके उसे धारण करो।

मतलब यह है कि कर्म को उसकी नियत अवधि से पूर्व ही खींच लाने को उदीरणा कहते हैं। अगर उदीरणा तत्त्व न माना जायगा तो मुक्ति भी नहीं हो सकती? क्योंकि पुराने कर्म उदय में आते जाएंगे और नये कर्म बंधते जाएंगे। इस प्रकार कर्म की शृंखला टूटना कठिन हो जायगा। और जब तक कर्म की शृंखला नहीं टूटती, तब तक मुक्ति होना असम्भव है। इसलिए किस गुणस्थान में कैसे कर्म नष्ट किये जा सकते हैं, इस बात को समझ कर यह मानो कि बहुत समय में भोगे जा सकने वाले कर्म प्रदेश में लाये जाकर मन के विशिष्ट अध्यवसाय द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं और ऐसा करना अपने हाथ में है।

कई लोग कहते हैं– जितना आयुष्य लाये हैं, उतना ही भोगेंगे, उसमें न्यूनता य अधिकता कैसे हो सकती है? लेकिन आयुष्य भी कर्म है या नहीं और उसकी भी उदीरणा हो सकती है या नहीं, इस बात पर विचार करो।

यह बात ठीक है कि आयुष्य जितना बांधा है, उतना भोगना ही होता है, लेकिन जैसे बहुत काल में भोगे जा सकने वाले कर्म उदीरणा द्वारा थोड़े ही समय में उदय में लाये जा सकते हैं, उसी तरह बहुत समय तक भोगा जा सकने वाला आयुष्य थोड़े समय में भी भोगा जा सकता है। ग्रंथों में यहां तक कहा है कि करोड़ पूर्व का आयुष्य भी अन्तर्मुहूर्त में भोगा जा सकता है। जितने समय का आयुष्य बांधा है, उससे अगर कम न हो तो फिर करोड़ पूर्व का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त में कैसे भोगा जा सकता है?

प्रश्न हो सकता है– भुज्यमान आयु के अन्तिम तीसरे भाग में आगे का आयुष्य बंधता है। अगर किसी का आयुष्य 99 वर्ष का बंधा हुआ है तो छयासट (66) वर्ष के बाद नये आयुष्य का बंध होगा। इस प्रकार करोड़ पूर्व का दो भाग आयुष्य भोगना तो आवश्यक ठहरा। मगर यहां है कि करोड़ पूर्व का आयुष्य भी अन्तर्मुहूर्त में भोगा जा सकता है। यह कैसे ठीक हो सकता है? तीसरे भाग में आयुष्य बंधता है, इसलिए निन्यानवे वर्षों में से छयासट वर्ष तक तो जीवित रहना ही होगा, क्योंकि नया आयुष्य बंधे बिना मृत्यु नहीं होती, भले ही गड़बड़ हो जाय। इसी प्रकार करोड़ पूर्व की आयु हो तो

भी दो तिहाई जीवित रहना अनिवार्य है। ऐसी दशा में अन्तर्मुहूर्त में आयु कैसे भोगा जा सकता है?

इसका उत्तर यह है कि शास्त्र में यह तो कहा नहीं है कि बंधे हुए आयुष्य के तीसरे भाग में नवीन आयु का बंध होता है या संकुचित आयु के तीसरे भाग में। इसलिए यह क्यों नहीं माना जा सकता कि आयु का उपक्रम होने पर संकुचित आयु के तीसरे भाग में नवीन आयु का बंध होता है। यही मानना उचित भी है।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि अगर बंधा हुआ आयुष्य भी उपक्रम से क्षीण हो सकता है तो कृत का नाश और अकृत का आगमन होगा। अर्थात् किये कर्म का फल नहीं मिला, यह कृतनाश हुआ और नहीं किये कर्म का फल भोगना पड़ा, यह अकृत का आगमन हुआ। ऐसा मानने पर तो किये हुए सुकृत का भी नाश हो जायगा। लेकिन शास्त्र कहते हैं कि ऐसा नहीं है। आयुष्य कर्म का उपक्रम किस प्रकार होता है, इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। एक लम्बी रस्सी अगर एक सिरे से जलाई जाय तो उसके जलने में बहुत समय लगेगा। लेकिन उसी रस्सी को अगर गोलमोल करके जलाया जाय तो जल्दी ही जल जायगी। दोनों तरह से रस्सी जलती है, लेकिन एक तरह से देर में और दूसरी तरह से जल्दी जलती है। यही बात आयुकर्म के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। एक तो क्रम से आयुकर्म भोगा जाता है और एक उपक्रम से भोगा जाता है। जो उपक्रम से भोगा जाता है, वह उदीरणा द्वारा जल्दी ही भोग लिया जाता है।

इस सम्बन्ध में दीपक के तेल का उदाहरण पहले दिया जा चुका है और इस विषय का विवेचन भी किया जा चुका है। उसे फिर दुहराना अनावश्यक है।

तीसरा प्रश्न –'वेइज्जमाणे वेइए' है। इस विषय में अन्य दर्शन वालों का कथन यह है कि जो कर्म वेदन किये जा रहे हैं, वे सब अभी वेदन नहीं किये गये हैं। उनके वेदन होने में अभी बहुत समय बाकी है। अतएव वेदे जाने वाले कर्मों को वेदे नहीं कहना चाहिए, बल्कि नहीं वेदे कहना चाहिए।

गौतम स्वामी ने पूछा– भगवन्! क्या अन्यतीर्थिकों का यह कहना सत्य है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा– ऐसा कहने वाले मिथ्या कहते हैं। जिन कर्मों का वेदन होने लगा, उन्हे 'वेदे' कहना चाहिए।

इस चर्चा पर प्रकाश डालने से पहले यह देख लेना चाहिये कि वेदन करने का अर्थ क्या है? इस विषय में टीकाकार कहते हैं– कर्म के भोग को

वेदना कहते हैं। कर्म का भोगना प्रदेश या विपाक से होता है। जब कर्म का अबाधाकाल समाप्त हो जाता है तब कर्म फल देने लगते हैं। कर्म का फल देना ही कर्म को वेदना है।

कर्म बंधते ही फल नहीं देने लगते। वे एक नियत समय पर ही फल दिया करते हैं। भंग पीते ही नशा नहीं चढ़ जाता, मगर एक अवधि पर ही नशा चढ़ता है। इसी प्रकार कर्म भी अपनी अवधि आने पर अपना असर दिखलाते हैं। जब तक अवधि नहीं आती, तब तक कर्म अव्यक्त रहते हैं, अर्थात् सत्ता में पड़े रहते हैं। जैसे बचपन में खाई हुई कोई–कोई दवाई जवानी या बुढ़ापे में फल देती है। वह दवा तब तक कहां पड़ी रहती है? दवा खाने के बाद उल्टी भी हुई होगी और दस्त तो प्रायः प्रतिदिन होता ही है। फिर भी दवा का असर नहीं जाता। बहुत दिनों तक दवा के पुद्‌गल अव्यक्त रहकर आखिर अवधि आने पर उदय में आते हैं और जब उदय में आते हैं, तब व्यक्त होते हैं। इसी प्रकार कर्मपुद्‌गल अवधि आने से पहले तक तो अव्यक्त रहते हैं, लेकिन अवधि आते ही उदय में आकर व्यक्त हो जाते हैं। जब तक अव्यक्त रहते हैं, तब तक कर्म मालूम नहीं होते। जब उदय में आते हैं तब उनकी वेदना होती है और वे मालूम होते हैं।

उदय में आये कर्म की वेदना असंख्यात समय में समाप्त होती है। असंख्य समय का पेटा बहुत बड़ा है, फिर भी पहले समय में जिन कर्मों की वेदना होने लगी, उसकी अपेक्षा उन्हें 'वेदे' कहना चाहिये।

अन्यतीर्थी समझते हैं कि वर्तमानकाल को भूतकाल में ले जाया जा रहा है और ऐसा हो नहीं सकता। इसी कारण वे कहते हैं कि कर्म का वेदन करते समय सब कर्म वेदे नहीं गये हैं, इसलिए उन्हें 'नहीं वेदे' कहना चाहिए। लेकिन उनका यह कथन ठीक नहीं है। कर्म पहले समय में जब वेदे जाने लगे तो उन्हें 'वेदे' मानना चाहिये। ऐसा न मानने पर तब तक की वेदना निरर्थक हो जायगी और कर्म अन्त तक 'नहीं वेदे' ही रहेंगे।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न है– 'पहिज्जमाणे पहीणे' ? जीव–प्रदेशों से कर्मों का पतित होना 'पहीण' या प्रहीन होना कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि इसे निर्जरा में ही सम्मिलित क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का समाधान आगे किया जायगा। यहां सिर्फ यही समझ लेने की आवश्यकता है कि आत्मा के प्रदेशों से कर्मों का गिर जाना 'पहीण' होता है। जैसे किसी ने अपने शरीर पर चन्दन का या किसी अशुचि पदार्थ का लेप

किया और फिर शरीर को हिलाकर उसे गिरा दिया। इसी प्रकार कर्मों के शुभ या अशुभ पुद्‌गलों को आत्मप्रदेश से गिराने का नाम 'पहीण' करना है।

पांचवां प्रश्न है– 'छिज्जमाणे छिन्ने'? जो कर्म बहुत समय में छिदने वाले हैं उन्हें अपवर्तनाकरण द्वारा थोड़े ही काल में छेद डालना छिन्न करना कहलाता है। कर्म के विषय में ऐसी बात नहीं है कि जिस तरह बांधे हैं, उसी तरह भोगने पड़ेंगे। किन्तु प्रयत्न–विशेष से उन्हें थोड़े ही काल में छेदा जा सकता है। जैसे बहुत दिनों में मिटने वाला रोग दवा से थोड़े ही दिनों में मिट जाता है, इसी तरह कोड़ा–कोड़ी सागरोपम के कर्म भी अन्तर्मुहूर्त में छेदे जा सकते हैं। कर्म जिस तरह बांधे हैं, उसी तरह भोगने पड़ते होंगे तो भगवान् यह कथन क्यों करते?

कर्म को छेदने में असंख्यात समय लगते हैं। लेकिन प्रथम समय में जो कर्म छिदने लगे, उनकी अपेक्षा से उन्हें 'छिदे' कहना चाहिए। अन्यतीर्थी कहते हैं कि जो कर्म छिदने लगे हैं, वे सब जब तक नहीं छिद गये, तब तक उन्हें अछिन्न ही कहना चाहिये। किन्तु भगवान् कहते हैं – ऐसा नहीं है। जो कर्म छिदने लगे, उन्हें छिन्न कहना चाहिए।

छठा प्रश्न है– 'भिज्जमाणे भिन्ने?' छेदन और भेदन में क्या अन्तर है? इसके उत्तर में टीकाकार कहते हैं– वस्तु तो वैसी ही कायम रहे, फिर भी उसके असर में परिवर्तन कर देना भेदन करना कहलाता है। जैसे दीवाल में खूंटी ठोकने पर भी दीवाल ज्यों–की–त्यों बनी रहती है, गिरती नहीं है, फिर भी वह भिद जाती है। दूध में छाछ डालने से दूध तो कायम रहा, लेकिन वह फट गया। इस प्रकार वस्तु कायम रहने पर भी उसमें अदला–बदली हो जाने को भेदन होना कहते हैं। इसी तरह कर्म तो वही रहते हैं, फिर भी अपवर्तनाकरण के द्वारा तीव्र रस के कर्म को मन्दरस वाले बना देना भेदन कहलाता है।

तीव्र रस वाले कर्म मंद रस वाले किस प्रकार हो जाते हैं, यह समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। नीम का रस कटुक होता है। लेकिन पाव–भर रस में दो सेर पानी मिला देने से उसकी कटुकता कम हो जाती है। पानी मिला देने पर वह रस उतना कटुक नहीं लगता, जितना पानी मिलाने से पहले लगता था। इसी प्रकार पाव–भर शक्कर के रस में चार सेर पानी मिला दिया जाय तो शक्कर की मिठास वैसी न रहेगी, जैसी पहले थी। इसी प्रकार अपवर्तना या उद्वर्तनाकरण के द्वारा कर्म रस को मन्द या तीव्र करना कर्म का भेदन करना कहलाता है। इस प्रकार तीव्र रस वाले कर्म का मंद [illegible]

वाला और मंद रस वाले कर्म को तीव्र रस वाला बनाया जा सकता है। अतएव यह विचार कर घबराने की आवश्यकता नहीं कि कर्म तो बांध लिये हैं, सो उसी प्रकार भोगने ही पड़ेंगे। कर्म को बदला जा सकता है।

कर्म का भेदन करने में असंख्यात समय लगते हैं। फिर भी जब प्रथम समय में वह भिदने लगे तो उन्हें भिदे कहना चाहिए। अन्यतीर्थी उन्हें 'नहीं भिदे' कहते हैं, सो मिथ्या है। इन सब प्रश्नों में 'चलमाणे चलिए' के समान ही चर्चा समझनी चाहिए।

सातवां प्रश्न 'उज्झमाणे दड्ढे?' है। जैसे किसी लकड़ी से खंभे का काम लिया जाय तो वह खंभे का काम देगी, लेकिन उसे अगर जला दिया जाय तो जलकर राख हो जायगी। इसी प्रकार कर्म को अगर भस्म करना चाहो तो भस्म भी कर सकते हो।

भेदन होने पर कर्म का अस्तित्व बना रहता है, लेकिन दग्ध करने में कर्म का अस्तित्व ही नहीं रह जाता, वह भस्म हो जाता है। कार्मण शरीर में जो कर्म बांधे थे, वे भेदन करने पर तीव्र या मंद रस देते थे, लेकिन भस्म (दग्ध) कर देने पर उनका कर्मरूप में अस्तित्व ही नहीं रहता। तब वे रस कैसे देंगे?

कर्म के दग्ध होने में भी असंख्यात समय लगते हैं। लेकिन भगवान् कहते हैं– जो कर्म पहले समय में दग्ध होने लगे, उनकी अपेक्षा उन्हें दग्ध हुए कहना चाहिए। अन्यतीर्थी कहते हैं – दग्धमान कर्मों को अदग्ध कहना चाहिए, लेकिन भगवान् कहते हैं कि यह कथन मिथ्या है।

आठवां प्रश्न है – 'मिज्जमाणे मडे?' अर्थात् मरने लगे कि मरे कहना चाहिए। अन्यतीर्थी कहते हैं – जो म्रियमाण है– मर रहा है, वह मरा नहीं है, अतएव उसे मृत नहीं, जीवित कहना उचित है। म्रियमाण को 'मरा' कह देने से तो अनर्थ हो जायगा। मगर भगवान् कहते है– जो म्रियमाण है, अर्थात् मरने लगा है, उसे मृत कहना अनुचित नहीं है। अगर ऐसा न माना जाय– आयुष्य–क्षय के प्रथम समय में न मरा कहा जाय– तो अगले समय में भी वह मरा नहीं कहा जायगा और इस प्रकार अन्तिम समय में भी कभी मरा नहीं कहलायगा। जैसे अंजलि में से एक बूंद भी गिर जाय तो वह खाली कहलाती है और यदि एक बूंद से खाली नहीं कही जायगी तो अन्तिम बूंद से भी क्यों खाली कही जायगी? इसी प्रकार प्रथम समय में आयु का नाश हुआ, फिर भी अगर मृत न माना जाय तो अन्तिम समय में होने वाले आयुष्य के नाश

से भी मरा कैसे कहा जा सकता है? अतएव म्रियमाण को मृत कहना ही उचित है।

नौवां प्रश्न है – 'निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे?' कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना– ऐसा अलग हो जाना कि वे फिर न लगें– निर्जरा है। प्रथम समय में कर्म निर्जीर्ण होने लगें कि उन्हें निर्जीर्ण हुआ कहना भगवान् का सिद्धान्त है। लेकिन अन्ययूथिक कहते हैं कि निर्जीर्णमान कर्म को अनिर्जीर्ण कहना चाहिए। उनके इस कथन में वही पूर्वोक्त आपत्तियां आती हैं, जो पहले कही जा चुकी हैं।

अन्यतीर्थिकों की ओर से यह प्रश्न किया जाता है कि आप म्रियमाण को, अर्थात् जो मर रहा है उसे 'मरा' कहते हैं, लेकिन व्यवहार में 'मरा' वह कहलाता है जो बिलकुल मर गया हो, क्या व्यवहार की यह बात नहीं माननी चाहिए?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैन सिद्धान्त अनेकान्तवादी है। वह व्यवहार का सर्वथा लोप नहीं करता। यथा गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि क्या एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय कहना चाहिए? दो प्रदेशो को धर्मास्तिकाय कहना चाहिए? यावत् एक प्रदेश कम को भी धर्मास्तिकाय कहना चाहिए? तब भगवान् ने उत्तर दिया– हे गौतम! ऐसा नहीं हो सकता। समस्त प्रदेशों को ही धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है। इस प्रकार एक ओर तो भगवान् ने 'चलमाणे चलिए' माना और दूसरी ओर यह कहा कि एक प्रदेश कम हो तो भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता। जब गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया तो भगवान् ने पहिये का उदाहरण देकर कहा– क्या पहिये के एक भाग को पहिया कहा जा सकता है? गौतम स्वामी ने कहा– नही। तब भगवान् ने कहा– तो जैसे पहिये के एक भाग को पहिया नही कहा जा सकता, किन्तु समूचे पहिये को पहिया कहा जा सकता है, इसी प्रकार एक प्रदेश, दो प्रदेश, यावत् एक भी प्रदेश कम धर्मास्तिकाय के खड को धर्मास्तिकाय नहीं कह सकते। सम्पूर्ण लोक में व्याप्त धर्मास्तिकाय को ही धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है।

लेकिन व्यवहार में कभी खंड को भी पहिया कहा जाता है, और कभी समूचे को भी पहिया कहा जाता है। जैन सिद्धान्त भी इस व्यवहार का विरोधी नही है और व्यवहार तथा निश्चय, दोनो को ही जैन सिद्धान्त स्वीकार करता है। इसी तरह जो मर रहा है, उसे भी मरा कहा जा सकता है और

जो मर गया है उसको भी व्यवहारानुसार मरा कहा जा सकता है। इन दोनों बातों को जैन सिद्धान्त स्वीकार करता है।

प्रत्येक वस्तु का विचार स्याद्वाद–सिद्धान्त के अनुसार ही करना उचित है। ऐसा किये बिना ठीक विचार होना असम्भव है। एकान्तवादी बनकर हठ करना ठीक नहीं। ऐसा करने से मिथ्यात्व आ जाता है। कोई यह न समझे कि हम जैन कहलाते हैं, इसलिए हमें मिथ्यात्व का पाप नहीं लग सकता। मिथ्यात्व के पाप से वही बचता है, जिसकी श्रद्धा शुद्ध एवं समीचीन होती है। अन्यथा साधु का वेष धारण करने वाले भी क्या अभव्य नहीं होते? जैसे साधु–वेषी होने पर भी कोई मनुष्य अभव्य हो सकता है, उसी तरह जैन कहलाने पर भी, यदि श्रद्धा शुद्ध नहीं है तो मिथ्यात्व का पाप लग सकता है। स्याद्वाद, जो जीव मरने लगा है उसे भी मरा हुआ मानता है और व्यवहार में जिसे मरा हुआ कहते हैं उसे भी मरा मानता है। इन दोनों पक्षों में से किसी भी एक का निषेध करना एकान्तवाद है और जहां एकान्तवाद का प्रवेश हुआ, वहां वस्तु का स्वरूप विकृत हुए बिना नहीं रहता।

इस सिद्धान्त का निष्कर्ष क्या है? अगर कोड़ा–कोड़ी वर्ष तक भी न भोगे जा सकने वाले कर्मों को एक क्षण–भर में नष्ट करने का उपाय आपके पास है तो फिर कर्मों से घबराने की क्या बात है? यह उपाय होते हुए भी देवी–देवता आदि के यहां क्यों मारे–मारे फिरते हो? क्या वे आपके कर्म काट देंगे? क्या उनमें आपके कर्मों को बदल देने की शक्ति है? अतएव यह समझो कि :–

बिन कीधा लागे नहीं कीधा कर्मज होय।
कर्म कमाया आपणा, ते थी सुख दुख होय।
इम समकित मन थिर करो।।

कोई कह सकता है कि 'कई बार देवी का डोरा बांधने से साता उत्पन्न होती है और आप भी कर्म का उपक्रम होना कहते हैं। फिर कदाचित् कर्म का उपक्रम इसी तरह होता हो तो आप अन्तराय क्यों देते हैं? लेकिन अच्छी तरह विचार करने से यह आशंका दूर हो जायगी। यों तो आप जिन्हें देव भी नहीं मानते, उनके द्वारा भी, उनकी मानसिक शक्ति से कुछ हो ही जाता है, तो क्या भगवान को मानने से कुछ भी न होगा? जिन भगवान् को तुम देवाधिदेव मानते हो, उनसे भी कुछ भी न होगा? फिर चिन्तामणी छोड़ कर साधारण पत्थर को अपनाने की क्या आवश्यकता है?

यहां तक गौतम स्वामी के नौ प्रश्नों का विवेचन हुआ। इन प्रश्नों का विवेचन पहले ही इसी सूत्र के आरंभ में हो चुका था, फिर भी गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थिकों के मत का उल्लेख करते हुए भगवान् के सामने ये प्रश्न उपस्थित किये। इन नौ प्रश्नों में प्ररूपित सिद्धान्त मुक्ति–मार्ग के साधक हैं, बल्कि यही मुक्ति के मार्ग हैं। चलने, उदीरणा करने आदि उद्योग से आत्मा अपना विकास कर सकता है, यह बताना ही इन प्रश्नों का मुख्य उद्देश्य है। आत्मा के विकास की बात यदि आधुनिक विज्ञान से मिलाई जाय तो उसके भी अनुकूल होगी। दोनों का मिलान करने पर यह बात भी विज्ञान से भरी हुई मालूम होगी। विज्ञान किसी दूसरे पर अवलम्बित नहीं है, वरन् उसकी मान्यता यह है कि वस्तु स्वयं ही अपना विकास अन्तिम सीमा तक कर सकती है। इसमें किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है। यही बात आत्मा के विकास के लिये भी है। इसीलिये गौतम स्वामी ने भगवान् से कहा – भगवन्! आप तो 'चलमाणे चलिए' आदि सिद्धान्त बताते हैं, लेकिन अन्यतीर्थी इसके विपरीत कहते हैं। इस तरह प्रश्न करके गौतम स्वामी ने इन प्रश्नो का निर्णय फिर कराया।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी कहते हैं– भगवन्! अन्यतीर्थी कहते हैं कि दो परमाणु पुद्गल आपस में नहीं मिल सकते, क्योंकि उनमें मिलने की शक्ति नहीं है। हां, तीन परमाणु पुद्गल मिल सकते हैं। उनमे मिलने का धर्म है, आकर्षणशक्ति है। अतएव तीन तो आपस में मिल सकते हैं, दो नही मिल सकते। मिले हुए वे तीन परमाणु यदि अलग हों तो उनके दो या तीन खंड हो सकते हैं। अगर दो खंड हों तो डेढ़–डेढ़ परमाणु अलग–अलग हो जाते हैं और यदि तीन खंड हुए तो एक–एक परमाणु अलग–अलग हो जाता है। गौतम स्वामी कहते हैं– क्या अन्ययूथिकों का यह कथन ठीक है?

कोई कह सकता है कि इसमें कौन–सी बड़ी बात है, जिसके लिए गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया! लेकिन इस प्रकार की छोटी–छोटी बातें ही आगे चलकर विराट् रूप धारण कर लेती है। अन्यतीर्थी इन छोटी बातों को आधार बनाकर दूसरे–दूसरे सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी ने भगवान् से ऐसी बातो का निर्णय करा लिया है। आज आप विज्ञान से दूर है, इस कारण आपको ये प्रश्न छोटे मालूम होते हैं। इनका ठीक महत्त्व वैज्ञानिक ही जान सकते है।

पहले यह देखना चाहिए कि परमाणु पुद्गल किसे कहते हैं? मिलना और बिखरना जिसका धर्म है, वह पुद्गल कहलाता है। पुद्गल के विषय में

जैन शास्त्र क्या कहते हैं और आजकल का विज्ञान क्या कहता है, इस बात पर भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

जैन सिद्धान्त में जिसे पुद्गल कहते हैं, उसका शब्दार्थ ही मिलना और बिखरना है। विज्ञान भी यही कहता है कि प्रत्येक पदार्थ में दो शक्तियां रहती हैं – विभेदक शक्ति और आकर्षक शक्ति। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान वही बात कहता है जो जैन सिद्धान्त कहता है। जैन सिद्धान्त जिसे पूरण–स्वभाव कहता है उसे विज्ञान आकर्षक शक्ति का नाम देता है और जैन सिद्धान्त जिसे गलन–स्वभाव कहता है, विज्ञान उसे विभेदक शक्ति कहता है। शब्दों में अन्तर है, मगर बात एक ही है। प्रत्येक पुद्गल में ये दो शक्तियां हैं।

वस्तु का वह छोटे से छोटा भाग, जिसका फिर कोई भाग न हो सके, जैन सिद्धान्त में वह परमाणु कहलाता है। उसी को वैज्ञानिक लोग पदार्थ कहते हैं, जो मूल शक्ति का उत्पादक है तथा कारणरूप है। जैसे कपड़े का मूल सूत और भोजन का मूल उसकी सामग्री है, इसी प्रकार वस्तु का मूल कारण वैज्ञानिकों का कहा हुआ पदार्थ है। रसोई की मूल सामग्री है, नहीं तो रसोई बने कैसे? कपड़े का मूल सूत है, अन्यथा कपड़ा बने कैसे? कार्य के कारण की खोज करना ही विज्ञान है और विज्ञान द्वारा ज्ञानी लोग कारण की अन्तिम सीमा तक पहुंचे हैं। हम लोग उनकी बात को न समझ सकें, यह हमारी दुर्बलता है, मगर उनमें ज्ञान की कमी नहीं थी।

प्रत्येक पदार्थ में आकर्षक शक्ति मौजूद है। परमाणु में भी वह विद्यमान है। इसी शक्ति के कारण परमाणु आपस में मिलते हैं।

वैज्ञानिकों के कथन के अनुरूप ही जैन सिद्धान्त में भी परमाणु, द्विप्रदेशी स्कंध, त्रिप्रदेशी स्कंध और इसी प्रकार अनन्तप्रदेशी स्कंध माने गये हैं।

प्रश्न हो सकता है कि परमाणुओं को मिलाता कौन है? इस प्रश्न को हल करने के लिए कई लोगों ने ईश्वर की कल्पना की है। उनका कहना है कि परमाणुओं को मिलाने के लिए किसी विभिन्न शक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर नामक एक ऐसी शक्ति है जो परमाणुओं को मिला देती है और फिर अलग भी कर देती है। लेकिन वैज्ञानिक कहते हैं कि पदार्थों में जो दो शक्तियां हैं, उनमें से आकर्षक शक्ति के द्वारा पदार्थ मिल जाते हैं और आपस में मिलते–मिलते सृष्टि के रूप में आये हैं। जब ये अधिक हो जाएंगे अर्थात् सृष्टि बढ़ जाएगी, तब विभेदक शक्ति इन्हें अलग कर देगी। इस प्रकार से बिखर जाना ही प्रलय कहलाता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार दोनों शक्तियां

हैं, और जिसमें ये पाई जाती हैं वही पुद्गल कहलाता है। लेकिन एक वस्तु का लोप करके दूसरी वस्तु नहीं बन सकती। परमाणु कदाचित् बिखर जाएं तो भी परमाणु ही रहते हैं, अपरमाणु नहीं होते। अतएव परमाणुओं के बिखरने से भी सृष्टि शून्य नहीं होती। सृष्टि अनादि है, इसका लोप नहीं हो सकता। परमाणु दो–प्रदेशी स्कंध, यावत् अनन्त प्रदेशी स्कंध के बिखर जाने पर भी सृष्टि किंचित् भी खाली नहीं होती। परमाणु का जब छोटा रूप भी नहीं हो सकता तो सर्वथा विनाश कैसे हो सकता है? और जब परमाणु का अन्त नहीं होता तो सृष्टि का अन्त कैसे हो सकता है?

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर परमाणु के दो–प्रदेशी स्कंध, यहां तक कि अनन्त प्रदेशी स्कंध अगर बिखर सकते हैं, तब परमाणु का अपरमाणु क्यों नहीं हो सकता? इसका उत्तर यह है कि परमाणु से अपरमाणु होने का अर्थ परमाणु का नाश होना है। मगर किसी भी चीज का नाश मानना भूल है। जो चीज है, वह नष्ट नहीं हो सकती और जो नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वस्तु का रूपान्तर होता है, लेकिन नाश नहीं होता। जैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन हवा के मिलने से पानी बनता है। जब पानी सूख जाता है, तब लोग समझते हैं कि पानी नष्ट हो गया, लेकिन वह नष्ट नहीं हुआ, बल्कि दोनों प्रकार की वायु बिखर गई हैं। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ का रूपान्तर होता है, लेकिन कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। लोग उसके रूपान्तर को जब समझ नहीं पाते तो उसे नष्ट हुआ मान लेते हैं।

जो लोग वास्तव में वस्तु का विनाश होना मानते हैं, उनसे पूछा जाय कि वस्तु फिर कैसे पैदा होती है? इसके उत्तर में वे कह देते हैं कि ईश्वर फिर पैदा कर देता है। इस प्रकार एक सत्य का परित्याग करने से दूसरे असत्य का आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् वस्तु का नाश मानने से ईश्वर को बीच में लाना पड़ता है। लेकिन वास्तव में ईश्वर कुछ भी नहीं बनाता–बिगाड़ता। गीता में भी कहा है–

नासतो विद्यते भावः नाभावो बाधते सतः।

अर्थात् जो पदार्थ सर्वथा असत् है, वह कभी सत् नही हो सकता और जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं हो सकता।

भगवतीसूत्र में भी यही कहा है कि जो है वह नष्ट नही हो सकता और जो नहीं है वह उत्पन्न नही हो सकता! वस्तु का एकान्त विनाश हो ही नही सकता, सिर्फ रूपान्तर हो सकता है। अतएव परमाणु कभी अपरमाणु नहीं हो सकता।

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर परमाणु कभी अपरमाणु नहीं हो सकता तो पुद्गल को नाशवान् और जीव को अविनाशी क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल में आकर्षक और विभेदक नाम की जो दो शक्तियां हैं, उनमें से आकर्षक शक्ति द्वारा वे एक, दो, तीन, चार, यहां तक कि अनन्त तक आपस में मिल जाते हैं और विभेदक शक्ति के द्वारा बिखर जाते हैं। इस प्रकार मिलना और बिखरना उनका स्वभाव है। लेकिन चेतन जीव सदा एक-सा रहता है, मिलना-विखरना नहीं है, अतएव उसे अविनाशी कहते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है, लेकिन इसका एक भी प्रदेश कम या अलग नहीं होता। कभी ऐसा हुआ नहीं और होगा भी नहीं।

कुछ लोग कटे हुए बकरे के सिर और धड़ को अलग-अलग तड़फड़ाते देखकर यह कहते हैं कि आत्मा के प्रदेश जुदा-जुदा दो हिस्सों में बंट गये हैं, इसी कारण सिर और धड़ अलग-अलग तड़फ रहे हैं। लेकिन उन दोनों में आत्मप्रदेश का सम्बन्ध बना हुआ है। इसी कारण दोनों तड़फते हैं। जैसे कमल की नाल के दो टुकड़े किये जाएं तो भी उन दो-दो को जुड़ा रखने वाला तंतु बना रहता है, उसी प्रकार सिर और धड़ में सम्बन्ध बना रहता है। लेकिन लोग तो सिर्फ स्थूल चीज ही देखते हैं। प्रत्येक की दृष्टि सूक्ष्म वस्तु की ओर नहीं पहुंच सकती।

इन सब बातों को समझाने का मतलब क्या है? आप पुद्गल के पीछे पागल बन रहे हैं, पुद्गल की वृद्धि में अपनी वृद्धि मान रहे हैं और पुद्गल के चले जाने में या ह्रास में अपनी हानि समझते हैं। शास्त्रकार इस कथन द्वारा प्रकट करते हैं कि यह सब आपकी भ्रमणा है और इसी भ्रमणा के कारण संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। यही भ्रमणा ही संसार में इधर-उधर दौड़ाती है। अतएव इन सिद्धान्तों को सुनकर पुदगल के लाभ को अपना लाभ और पुदगल की हानि को अपनी हानि मत समझो। यह मानो कि मैं सदैव एक-सरीखा रहने वाला हूं। पुदगल के पीछे भागने-दौड़ने से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता, बल्कि हानि ही होती है। अतएव उनके पीछे दौड़ना छोड़ो। तुम्हारा आत्मा ही अनन्त है, फिर किस भ्रम में पड़े हो? किसी से भय क्यों करते हो? तुम्हारा एक प्रदेश भी अनादिकाल से अब तक कम नहीं हुआ, तो अब क्या कम होगा? फिर किसी से भयभीत होने की क्या आवश्यकता है? भ्रम में मत रहो। भ्रम में पड़ने वाले की क्या दशा होती है, इसके लिए एक उदाहरण लो :—

बगदाद के बाहर एक किसान खेती जोत रहा था। उसने एक दृश्य अपनी ओर आते देखा। जब वह दृश्य उसके पास आ गया तो उसने पूछा– तू कौन है? उसने उत्तर दिया– 'मैं महामारी हूं।'

किसान – तू करती क्या है?

म. मा. – मैं संहार करती हूं, यही तो मेरा सनातन कर्तव्य है।

किसान – अच्छा देखें, कैसे संहार करती है? मेरा संहार करके दिखा।

म. मा. – तू डरता नहीं है, इसलिये तेरा संहार मैं नहीं कर सकती।

किसान – तो अब कहां जा रही है?

म. मा. – बगदाद जा रही हूं।

किसान – किसलिए?

म. मा. – अपना कर्तव्यपालन करने, जनसंहार करने।

किसान – कितने मनुष्यों का संहार करेगी?

म. मा. – पांच हजार का।

किसान – वहां से लौटते समय मुझसे मिलेगी तो सही, या नहीं?

म. मा. – अवश्य मिलूंगी।

किसान हल जोत रहा था कि महामारी वापस आई। उसे आई देख किसान को बड़ी उत्सुकता हुई। उसने कहा – अच्छा, आ गई?

म. मा. – हां, देखते नहीं हो? सामने तो खड़ी हूं।

किसान – कितनेक आदमियों का संहार किया?

म. मा. – पचास हजार का।

किसान – तू बड़ी झूठी है। पांच हजार का संहार करने को कह गई थी और किया पूरे पचास हजार का?

म. मा. – मैं झूठ नहीं बोलती। मैंने तो वास्तव में पांच हजार का ही संहार किया है, बाकी के पैंतालीस हजार तो भय के मारे ही मर गये हैं। मैं एक को पकड़ती थी और भय के कारण नौ आदमी दूसरे मर जाते थे। इस प्रकार पचास हजार मर गये।

यह कहानी तो असम्भव–सी मालूम होती है, क्योंकि महामारी बोल नहीं सकती, मगर इसमें जो सत्य प्रतिपादित किया गया है, उससे कौन असहमत हो सकता है? भय के कारण आज भी न जाने कितने आदमी मर जाते हैं। कौन नहीं जानता कि लोगों के दिल में तरह–तरह के वहम घुसे हुए हैं। खासतौर पर स्त्रियों में तो भूत–चुड़ैल का ऐसा भय घुसा हुआ है कि

शायद ही कोई स्त्री बिना दो–चार डोरे बांधे मिलेगी। बालक और बालिकाओं को न जाने कितने डोरे बांध दिये जाते हैं और समझा जाता है कि इन डोरों पर ही इनकी जिंदगी निर्भर है। कदाचित् कोई डोरा टूट जाय तो ऐसा मालूम होता है कि बस, लड़के का जीवन ही कहीं नष्ट न हो जाय!

जहां डोरा, ताबीज पर इतना विश्वास है, वहां णमोकार मंत्र पर कैसे विश्वास हो सकता है? पहले के श्रावकों को देखो। आठ ताड़ ऊंचा पिशाच भी सामने आकर खड़ा हो गया, फिर भी भय नहीं खाया। उन्होंने ऐसा क्या खाया था कि वे निर्भय रह सके और आप में कौन–सी दुर्बलता है कि आप पत्ते की खड़खड़ाहट से भी डरते हैं? उन्होंने भगवान् की दवा खाई थी, इसी कारण वे निर्भय रह सके।

भगवान् के सिद्धान्तों को जानकर आपको क्या करना चाहिए? यह विचार करो। अगर आप प्रयत्न करेंगे तो भगवान् के सिद्धान्तों पर अटल विश्वास रहेगा और फिर किसी से भी भय नहीं लगेगा। कहते हैं– पांच वर्ष का जापानी बालक हाथ में तलवार लेकर आधी रात में श्मशान में जा सकता है, मगर आपके यहां के चालीस साल के लोग भी क्या ऐसा साहस कर सकेंगे? जब तक मन में वहम घुसा हुआ है, तब तक इतना साहस कैसे हो सकता है? यहां तक कि कई–एक सन्तों और सतियों के मन में भी वहम घुस रहा है। कई लोगों ने ऐसे वहम की पुस्तकें प्रकाशित करके लोगों के मन में भय भर दिया है। मगर आप इस भय के फंदे में मत फंसो। अपने घर में सभी–कुछ होते हुए भी जो पराये घर की जूठन चाटते फिरते हैं, उन्हें क्या कहा जाय? यों तो कुछ लालच हुए बिना वे ऐसा नहीं करते, फिर भी प्रेरित होकर किये जाने वाले कार्य त्यागने लायक हैं या ग्रहण करने लायक हैं? कोई भी सत्पुरुष दुष्कर्मों का समर्थन नहीं कर सकता।

अखबारों में छपा था कि एक देवीभक्त ने एक लड़की का सिर काट डाला। आखिर उसे फांसी हुई। यह सब भ्रम का ही माहात्म्य है। आप लोगों में तो ऐसे भ्रम का लेश भी नहीं होना चाहिये। कदाचित् इन बातों के त्यागने से, संस्कार के कारण पहले–पहल कुछ कष्ट भी मालूम हो तो उसे भी सुख का कारण समझ कर सहर्ष ग्रहण करो। तपस्या करने पर भूख का दुःख तो होता है, लेकिन उस दुःख को सुख का ही कारण समझा जाता है। ऐसा समझ कर ही उपवास किया जाता है।

भ्रम के अनेक रूप होते हैं। अन्यतीर्थिकों को यह भ्रम है कि दो परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। तीन परमाणु आपस में मिल तो जाते हैं,

मगर अलग होने के समय डेढ़–डेढ़ भी हो सकते हैं। यह उनका भ्रमपूर्ण कथन है।

अगर कोई व्यक्ति विपरीत प्ररूपणा करता है तो इससे ज्ञानियों की क्या हानि है? फिर भी वे करुणा से प्रेरित हो करके ही विपरीत प्ररूपणा का विरोध करते हैं और वस्तुतत्त्व का यथार्थ प्ररूपण करते हैं। वे जगत् की बुराई मिटाने का प्रयत्न निरन्तर करते ही रहते हैं, चाहे उनके प्रयत्न से कोई सुधरे या न सुधरे। अलबत्ता, उनके प्रयत्न से बहुत लोग बिगड़ने से बच जाते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थिकों की प्ररूपणा का प्रश्न उठाया है। आज चाहे कोई ऐसी प्ररूपणा न करता हो, फिर भी भगवान् के समय में ऐसी प्ररूपणा की जाती थी। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है और भगवान् से समाधान करवाया है।

गौतम स्वामी भगवान् से कहते हैं– अन्यतीर्थिकों का कथन यह है कि दो परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। दो परमाणुओं में स्नेहकाय नहीं होता। अतएव उनका एक–दूसरे के साथ जुड़ना सम्भव नहीं है। तीन या अधिक परमाणु जुड़कर स्कंध बन जाते हैं। जुड़े हुए तीन परमाणु जब अलग होते हैं, विभेदक शक्ति उन्हें जब अलग करती है, तब उन जुड़े हुए तीन परमाणुओं के दो या तीन भाग होते हैं। दो भाग हों तो डेढ़–डेढ़ परमाणु अलग हो जाते हैं और तीन भाग हों तो एक–एक परमाणु अलग–अलग हो जाता है।

गौतम स्वामी के कथन पर भगवान् ने उत्तर दिया कि अन्यतीर्थिक यह मिथ्या कहते हैं। एक तरफ वे ऐसा कहते हैं, और दूसरी तरफ दूसरी बात कहते हैं। वे अपनी कही हुई बात भी नहीं समझ सकते। इसका कारण मोह है। जैसे मदिरापान से मतवाला पुरुष अपनी बात को भी नहीं समझ पाता, उसी प्रकार मिथ्यात्व के नशे के कारण अन्यतीर्थिकों को अपनी ही बात का ध्यान नहीं है। मिथ्यात्वी को विभंगज्ञान हो जाने पर भी उसमें मतवालापन रहता ही है।

भगवान् कहते हैं– हे गौतम! प्रत्येक परमाणु में स्नेहकाय है। तीन परमाणुओं का जुड़ना और बिखरना तो वे लोग भी मानते हैं। अगर परमाणुओं में स्नेहकाय (चिकनापन) न होता तो वे जुड़ते कैसे? अगर जुड़ते हैं तो उनमें स्नेहकाय मानना ही होगा! दो परमाणु पुद्गलों में स्नेहकाय नहीं है तो तीसरे में कहां से आ जाता है? इसके सिवाय उन्होंने तीन परमाणु पुद्गलों के दो

शायद ही कोई स्त्री बिना दो–चार डोरे बांधे मिलेगी। बालक और बालिकाओं को न जाने कितने डोरे बांध दिये जाते हैं और समझा जाता है कि इन डोरों पर ही इनकी जिंदगी निर्भर है। कदाचित् कोई डोरा टूट जाय तो ऐसा मालूम होता है कि बस, लड़के का जीवन ही कहीं नष्ट न हो जाय!

जहां डोरा, तावीज पर इतना विश्वास है, वहां णमोकार मंत्र पर कैसे विश्वास हो सकता है? पहले के श्रावकों को देखो। आठ ताड़ ऊंचा पिशाच भी सामने आकर खड़ा हो गया, फिर भी भय नहीं खाया। उन्होंने ऐसा क्या खाया था कि वे निर्भय रह सके और आप में कौन–सी दुर्बलता है कि आप पत्ते की खड़खड़ाहट से भी डरते हैं? उन्होंने भगवान् की दवा खाई थी, इसी कारण वे निर्भय रह सके।

भगवान् के सिद्धान्तों को जानकर आपको क्या करना चाहिए? यह विचार करो। अगर आप प्रयत्न करेंगे तो भगवान् के सिद्धान्तों पर अटल विश्वास रहेगा और फिर किसी से भी भय नहीं लगेगा। कहते हैं– पांच वर्ष का जापानी बालक हाथ में तलवार लेकर आधी रात में श्मशान में जा सकता है, मगर आपके यहां के चालीस साल के लोग भी क्या ऐसा साहस कर सकेंगे? जब तक मन में वहम घुसा हुआ है, तब तक इतना साहस कैसे हो सकता है? यहां तक कि कई–एक सन्तों और सतियों के मन में भी वहम घुसा रहा है। कई लोगों ने ऐसे वहम की पुस्तकें प्रकाशित करके लोगों के मन में भय भर दिया है। मगर आप इस भय के फंदे में मत फंसो। अपने घर में सभी–कुछ होते हुए भी जो पराये घर की जूठन चाटते फिरते हैं, उन्हें क्या कहा जाय? यों तो कुछ लालच हुए बिना वे ऐसा नहीं करते, फिर भी प्रेरित होकर किये जाने वाले कार्य त्यागने लायक हैं या ग्रहण करने लायक हैं? कोई भी सत्पुरुष दुष्कर्मों का समर्थन नहीं कर सकता।

अखबारों में छपा था कि एक देवीभक्त ने एक लड़की का सिर काट डाला। आखिर उसे फांसी हुई। यह सब भ्रम का ही माहात्म्य है। आप लोगों ने तो ऐसे भ्रम का लेश भी नहीं होना चाहिये। कदाचित् इन बातों के त्यागने के, संस्कार के कारण पहले–पहल कुछ कष्ट भी मालूम हो तो उसे भी सुख का कारण समझ कर सहर्ष ग्रहण करो। तपस्या करने पर भूख का दुःख तो होता है, लेकिन उस दुःख को सुख का ही कारण समझा जाता है। ऐसा समझ कर ही उपवास किया जाता है।

भ्रम के अनेक रूप होते हैं। अन्यतीर्थिकों को यह भ्रम है कि दो परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। तीन परमाणु आपस में मिल तो जाते हैं,

मगर अलग होने के समय डेढ़–डेढ़ भी हो सकते हैं। यह उनका भ्रमपूर्ण कथन है।

अगर कोई व्यक्ति विपरीत प्ररूपणा करता है तो इससे ज्ञानियों की क्या हानि है? फिर भी वे करुणा से प्रेरित हो करके ही विपरीत प्ररूपणा का विरोध करते हैं और वस्तुतत्त्व का यथार्थ प्ररूपण करते हैं। वे जगत् की बुराई मिटाने का प्रयत्न निरन्तर करते ही रहते हैं, चाहे उनके प्रयत्न से कोई सुधरे या न सुधरे। अलबत्ता, उनके प्रयत्न से बहुत लोग बिगड़ने से बच जाते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थिकों की प्ररूपणा का प्रश्न उठाया है। आज चाहे कोई ऐसी प्ररूपणा न करता हो, फिर भी भगवान् के समय में ऐसी प्ररूपणा की जाती थी। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है और भगवान् से समाधान करवाया है।

गौतम स्वामी भगवान् से कहते हैं– अन्यतीर्थिकों का कथन यह है कि दो परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। दो परमाणुओं में स्नेहकाय नहीं होता। अतएव उनका एक–दूसरे के साथ जुड़ना सम्भव नहीं है। तीन या अधिक परमाणु जुड़कर स्कंध बन जाते हैं। जुड़े हुए तीन परमाणु जब अलग होते है, विभेदक शक्ति उन्हें जब अलग करती है, तब उन जुड़े हुए तीन परमाणुओं के दो या तीन भाग होते हैं। दो भाग हों तो डेढ़–डेढ़ परमाणु अलग हो जाते हैं और तीन भाग हों तो एक–एक परमाणु अलग–अलग हो जाता है।

गौतम स्वामी के कथन पर भगवान् ने उत्तर दिया कि अन्यतीर्थिक यह मिथ्या कहते है। एक तरफ वे ऐसा कहते है, और दूसरी तरफ दूसरी बात कहते है। वे अपनी कही हुई बात भी नहीं समझ सकते। इसका कारण मोह है। जैसे मदिरापान से मतवाला पुरुष अपनी बात को भी नही समझ पाता, उसी प्रकार मिथ्यात्व के नशे के कारण अन्यतीर्थिकों को अपनी ही बात का ध्यान नही है। मिथ्यात्वी को विभंगज्ञान हो जाने पर भी उसमें मतवालापन रहता ही है।

भगवान् कहते हैं– हे गौतम! प्रत्येक परमाणु में स्नेहकाय है। तीन परमाणुओं का जुड़ना और बिखरना तो वे लोग भी मानते है। अगर परमाणुओं में स्नेहकाय (चिकनापन) न होता तो वे जुड़ते कैसे? अगर जुड़ते हैं तो उनमें स्नेहकाय मानना ही होगा। दो परमाणु पुद्गलों में स्नेहकाय नहीं है तो तीसरे में कहां से आ जाता है? इसके सिवाय उन्होंने तीन परमाणु पुद्गलों के दो [illegible]

विभाग, डेढ़–डेढ़ परमाणुओं के माने हैं, सो परमाणु आधा कैसे हो सकता है? परमाणु तो वही पुद्गल कहलाता है, जिसका भाग न हो सकता हो।

परमाणु छोटा होता है, फिर भी उसमें जुड़ने की शक्ति है। अगर परमाणु आपस में जुड़ न सकते हों तो स्थूल पुद्गल दिखलाई नहीं पड़ सकता। सूक्ष्म होने के कारण हमें परमाणु नहीं दिखाई देता, लेकिन परमाणुओं के कार्य – स्थूल पदार्थ को देखकर हम परमाणु का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि हम जो स्थूल पदार्थ घट आदि देखते हैं, वे परमाणुओं के ही पिंड हैं।

कोई लोग केवल चैतन्य ही चैतन्य मानते हैं और कोई केवल जड़ ही जड़ पदार्थ मानते हैं। लेकिन जैन सिद्धान्त जड़ और चेतन, दोनों का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। यहां केवल जड़ की ही बात चल रही है, इसीलिए भगवान् ने कहा है कि दो परमाणु भी परस्पर में जुड़ते हैं। दो परमाणुओं के न जुड़ने की बात मिथ्या है।

अब गौतम स्वामी कहते हैं– भगवन्! अन्यतीर्थी एक बात और कहते हैं। उनका कथन यह है कि जैसे तीन परमाणु जुड़ते हैं वैसे ही पांच परमाणु जुड़ कर जीव के दुःखरूप में परिणत हो जाते हैं। पांच परमाणु आपस में जुड़कर कर्म के स्कंध बन जाते हैं। लेकिन किसी के बनाने से वे नहीं बनते, स्वभाव से ही वे स्कंध बन जाते हैं। वे पांच परमाणु मिलकर दुःखरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और फिर च्युत भी हो जाते हैं। गौतम स्वामी कहते हैं– भगवन्! उनका यह कथन सत्य है?

भगवान् उत्तर देते हैं– यह कथन मिथ्या है। दुःखरूप परिणत होने वाले अनन्तप्रदेशी स्कंध हैं। इसके सिवाय दुःख स्वभाव से ही होता है, यह कथन भी मिथ्या है। दुःख उत्पन्न करने से होता है, बिना उत्पन्न किये नहीं होता।

कई लोग कहा करते हैं कि होनहार को कौन टाल सकता है? भावी को मिटाने में कौन समर्थ है? यह नियतिवादी गोशालक का मत है। एक प्रकार से जैन सिद्धान्त अपने स्याद्वाद मत के अनुसार इस बात का निषेध नहीं करता, लेकिन वह एकान्त नियतिवाद (गोशालक के सिद्धान्त) को भी स्वीकार नहीं करता। जैन सिद्धान्त अपनी [illegible] भाषा में कहता है कि [illegible]

हिला कर मक्खी उड़ा दी और इस प्रकार भवितव्य को मिटा दिया तो उद्योग को मानने में क्या हर्ज है? उद्योगवाद स्वीकार करने से आलस्य नहीं रहता और होनहार के भरोसे बैठे रहने से जीवन आलस्यमय हो जाता है। ऐसी अवस्था में भवितव्य के भरोसे ही न बैठकर उद्योग को भी स्वीकार कर लेने में लाभ के सिवाय हानि क्या है?

जो काम जिस सीमा तक हो सकता है, उसका उसी सीमा तक होना भवितव्य का अर्थ है। यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य अपनी सीमा तक ही होता है। जैसे सेर–भर आटे की रोटियां एक नियत तोल की ही हो सकती हैं। यह भावी है। मगर रोटी तो उद्योग से ही बनती है। उद्योग के बिना कभी किसी ने आकाश से रोटी टपकती देखी या सुनी हो तो बात अलग है। अतएव अपना कर्तव्यपालन करने के लिए उद्योग करने की आवश्यकता है। उद्योग से ही कार्य सिद्ध हो सकता है। कहा भी है–

उद्योगेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न च मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

अर्थात् सभी कार्य उद्योग करने से ही सिद्ध होते हैं। मसूंबा करने से सिद्धि–लाभ नहीं होता। सोये हुए सिंह के मुख में मृग आकर प्रवेश नहीं करते। वरन् सिंह को पराक्रम करना पड़ता है।

करना। उन्हें पाट आदि देना और उनसे धर्मोपदेश सुनकर धारण करना। देव ने भगवान् महावीर को लक्ष्य करके यह सब कहा था, मगर सकडालपुत्र, गोशालक का भक्त होने के कारण गोशालक के विषय में ही यह सब समझ बैठा।

दूसरे दिन पोलासपुर में भगवान् महावीर पधारे। सकडालपुत्र उन्हें वन्दन करने गया। भगवान् ने उससे देव वाली कल की घटना कह सुनाई और पूछा क्या यह सत्य है? सकडालपुत्र ने भगवान् के कथन की सत्यता अंगीकार की। तब भगवान ने कहा– सकडालपुत्र! देव ने मुझे लक्ष्य करके तुम्हें कहा था, गोशालक को लक्ष्य करके नहीं।

सकडालपुत्र ने भगवान् का उपदेश सुना, मगर उस पर श्रद्धा नहीं हुई। उपदेश सुनकर वह चला गया। लेकिन जाते समय यह प्रार्थना कर गया कि प्रभो! आप मेरे यहां पधारें। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। वे उसके यहां पधारे।

सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में बने हुए मिट्टी के बर्तन धूप में सूखने के लिए बाहर रखे थे। सकडालपुत्र बर्तनों की देखरेख कर रहा था। उस समय भगवान् ने सकडालपुत्र से पूछा– ये बर्तन किस प्रकार बने हैं?

सकडालपुत्र बोला– भगवन्! पहले मिट्टी लाई गई। उसमें राख, लीद आदि मिलाई और मिट्टी तैयार की गई। फिर चाक पर चढ़ाकर उससे बर्तन बनाये।

भगवान्– ये बर्तन उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से बने हैं या इनके बिना ही बन गये हैं?

सकडालपुत्र अपनी श्रद्धा का पक्का था। उसकी श्रद्धा गोशालक के भवितव्यवाद (नियतवाद) पर थी। इसलिए उसने उत्तर दिया – भगवान् भवितव्य ऐसा ही था, इसी कारण ये बर्तन बन गये। इनके बनाने में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम की आवश्यकता नहीं।

भगवान् – अगर कोई युवक हाथ में लाठी लेकर तुम्हारे ये बर्तन फोड़ डाले तो तुम उसे कुछ कहोगे?

सकडालपुत्र – ऐसा करने पर मैं उसके कान, नाक आदि अंग काट डालूंगा। अगर मेरा वश चले तो मैं उसे मार भी डालूंगा।

भगवान् – ऐसा क्यों करोगे? ये बर्तन तुम्हारे बनाये तो हैं नहीं भवितव्य से बने है और भवितव्य से ही फूटेंगे। इन्हें कोई फोड़ [illegible]

के योग्य उपार्जन कर लेता है। दूसरा आदमी मिट्टी के वर्तनों की पांच सौ दुकानें चलाता है और इसी हिसाव से अग्नि, पानी आदि का आरम्भ भी करता है। लेकिन इसके साथ वह जरा भी झूठ नहीं बोलता। आपकी नजर में इन दोनों में ज्यादा पापी कौन है? अगर आप झूठ बोलने का पाप जरा–सा समझते हैं तो आपने जैन धर्म को समझा ही नहीं है।

शास्त्र कहता है कि गृहस्थ श्रावक आरम्भ से नहीं बच सकता, लेकिन वह बड़ा पाप नहीं करता है। वह बड़ी हिंसा, बड़ा झूठ, बड़ी चोरी आदि का पाप कदापि नहीं करेगा। जो लोग ऐसा पाप करते हैं उनकी अपेक्षा श्रावक अल्पारंभी है। अगर बाहर के ही आरम्भ को देखते हो तो यह कुमार है, जो ऐसा आरम्भ करता है और दूसरा कोई ऐसा, जो कुछ भी काम नहीं करता, घर पर बैठा रहता है, मगर मिथ्यात्वी है। अब इन दोनों में से महारम्भी किसको कहेंगे? बाह्य आरम्भ करने वाला ही आरम्भी है, ऐसा मानने वाला मिथ्यात्वी को महारम्भी कैसे कह सकता है? ऐसा मानते हुए भी अगर मिथ्यात्वी को महारम्भी कहा जाय तो मिथ्यात्वी के प्रति द्वेष ही समझना चाहिए।

चार आदमी मोटर में बैठकर जा रहे थे। उनमें से एक वेश्या के पास जा रहा था। दूसरा शिकार खेलने जा रहा था। तीसरा शराब पीने जा रहा था। और चौथा साधु के दर्शन करने जा रहा था। पानी खूब बरसता जाता था और मोटर से भी जीवहिंसा हो रही थी। चलते–चलते दुर्घटना होने से मोटर टूट गई। उसमें बैठे हुए चारों आदमी मर गये। अव इन मरे हुए आदमियों में से आप किसे महारंभी और किसे अल्पारम्भी कहेंगे? चारों में से कौन धर्मात्मा था और कौन पापी था? बाहरी आरम्भ तो चारों ही बराबर ही हैं। अगर आप साधु के दर्शन करने वाले को धर्मात्मा कहें तो यह क्यों? अब आपको यही उत्तर देना पड़ेगा कि एक जगह परिणाम देखकर पाप–पुण्य का निर्णय करना और दूसरी जगह बाहरी क्रिया देखकर पाप–पुण्य का निर्णय करना, यह कहां का न्याय है?

सकडालपुत्र के विषय में आप बाहरी आरंभ मत देखो, उसके भी परिणाम देखो। अगर उसका बाह्य आरंभ ही देखना होता तो उसकी गणना उत्कृष्ट दस श्रावकों में न की जाती।

सकडालपुत्र के पास एक दिन देव ने आकर कहा– कल यहां महामोहन, महागोपाल, और महासार्थवाह पधारेंगे। तू उन्हें वन्दन–नमस्कार

के योग्य उपार्जन कर लेता है। दूसरा आदमी मिट्टी के वर्तनों की पांच सौ दुकानें चलाता है और इसी हिसाव से अग्नि, पानी आदि का आरम्भ भी करता है। लेकिन इसके साथ वह जरा भी झूठ नहीं वोलता। आपकी नजर में इन दोनों में ज्यादा पापी कौन है? अगर आप झूठ वोलने का पाप जरा–सा समझते हैं तो आपने जैन धर्म को समझा ही नहीं है।

शास्त्र कहता है कि गृहस्थ श्रावक आरम्भ से नहीं बच सकता, लेकिन वह बड़ा पाप नहीं करता है। वह वड़ी हिंसा, बड़ा झूठ, वड़ी चोरी आदि का पाप कदापि नहीं करेगा। जो लोग ऐसा पाप करते हैं उनकी अपेक्षा श्रावक अल्पारंभी है। अगर वाहर के ही आरम्भ को देखते हो तो यह कुमार है, जो ऐसा आरम्भ करता है और दूसरा कोई ऐसा, जो कुछ भी काम नहीं करता, घर पर बैठा रहता है, मगर मिथ्यात्वी है। अब इन दोनों में से महारम्भी किसको कहेंगे? वाह्य आरम्भ करने वाला ही आरम्भी है, ऐसा मानने वाला मिथ्यात्वी को महारम्भी कैसे कह सकता है? ऐसा मानते हुए भी अगर मिथ्यात्वी को महारम्भी कहा जाय तो मिथ्यात्वी के प्रति द्वेष ही समझना चाहिए।

चार आदमी मोटर में बैठकर जा रहे थे। उनमें से एक वेश्या के पास जा रहा था। दूसरा शिकार खेलने जा रहा था। तीसरा शराब पीने जा रहा था। और चौथा साधु के दर्शन करने जा रहा था। पानी खूव बरसता जाता था और मोटर से भी जीवहिंसा हो रही थी। चलते–चलते दुर्घटना होने से मोटर टूट गई। उसमें बैठे हुए चारों आदमी मर गये। अब इन मरे हुए आदमियों में से आप किसे महारंभी और किसे अल्पारम्भी कहेंगे? चारों में से कौन धर्मात्मा था और कौन पापी था? बाहरी आरम्भ तो चारों ही बराबर ही हैं। अगर आप साधु के दर्शन करने वाले को धर्मात्मा कहें तो यह क्यों? अव आपको यही उत्तर देना पड़ेगा कि एक जगह परिणाम देखकर पाप–पुण्य का निर्णय करना और दूसरी जगह बाहरी क्रिया देखकर पाप–पुण्य का निर्णय करना, यह कहां का न्याय है?

सकडालपुत्र के विषय में आप वाहरी आरंभ मत देखो, उसके भी परिणाम देखो। अगर उसका वाह्य आरंभ ही देखना होता तो उसकी गणना उत्कृष्ट दस श्रावकों में न की जाती।

सकडालपुत्र के पास एक दिन देव ने आकर कहा– कल यहां महामोहन, महागोपाल, और महासार्थवाह पधारेंगे। तू उन्हें वन्दन–नमस्कार

करना। उन्हें पाट आदि देना और उनसे धर्मोपदेश सुनकर धारण करना। देव ने भगवान् महावीर को लक्ष्य करके यह सब कहा था, मगर सकडालपुत्र, गोशालक का भक्त होने के कारण गोशालक के विषय में ही यह सब समझ बैठा।

दूसरे दिन पोलासपुर में भगवान् महावीर पधारे। सकडालपुत्र उन्हें वन्दन करने गया। भगवान् ने उससे देव वाली कल की घटना कह सुनाई और पूछा क्या यह सत्य है? सकडालपुत्र ने भगवान् के कथन की सत्यता अंगीकार की। तब भगवान ने कहा– सकडालपुत्र! देव ने मुझे लक्ष्य करके तुम्हें कहा था, गोशालक को लक्ष्य करके नहीं।

सकडालपुत्र ने भगवान् का उपदेश सुना, मगर उस पर श्रद्धा नहीं हुई। उपदेश सुनकर वह चला गया। लेकिन जाते समय यह प्रार्थना कर गया कि प्रभो! आप मेरे यहां पधारें। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। वे उसके यहां पधारे।

सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में बने हुए मिट्टी के बर्तन धूप में सूखने के लिए बाहर रखे थे। सकडालपुत्र बर्तनों की देखरेख कर रहा था। उस समय भगवान् ने सकडालपुत्र से पूछा– ये बर्तन किस प्रकार बने हैं?

सकडालपुत्र बोला– भगवन्! पहले मिट्टी लाई गई। उसमें राख, लीद आदि मिलाई और मिट्टी तैयार की गई। फिर चाक पर चढ़ाकर उससे बर्तन बनाये।

भगवान्– ये बर्तन उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से बने है या इनके बिना ही बन गये हैं?

सकडालपुत्र अपनी श्रद्धा का पक्का था। उसकी श्रद्धा गोशालक के भवितव्यवाद (नियतवाद) पर थी। इसलिए उसने उत्तर दिया – भगवान् भवितव्य ऐसा ही था, इसी कारण ये बर्तन बन गये। इनके बनाने में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम की आवश्यकता नहीं।

भगवान् – अगर कोई युवक हाथ में लाठी लेकर तुम्हारे ये बर्तन फोड़ डाले तो तुम उसे कुछ कहोगे?

सकडालपुत्र – ऐसा करने पर मैं उसके कान, नाक आदि अंग काट डालूंगा। अगर मेरा वश चले तो मैं उसे मार भी डालूंगा।

भगवान् – ऐसा क्यों करोगे? ये बर्तन तुम्हारे बनाये तो हैं नहीं भवितव्य से बने हैं और भवितव्य से ही फूटेंगे। इन्हें कोई फोड़ [illegible]

[illegible]

सकता। फिर तुम उस पुरुष को क्यों दण्ड दोगे? इसी प्रकार भगवान् ने उसकी भार्या के संवंध में प्रश्न किया।

भगवान् की बात सुनकर सकडालपुत्र को वोध हुआ। उसने भगवान् के समीप जाकर धर्मश्रद्धा ग्रहण की।

भगवान् के पधार जाने पर गोशालक आया। उसने सकडालपुत्र को समझाने का प्रयत्न भी किया, लेकिन सकडालपुत्र पर कुछ असर नहीं हुआ।

शास्त्रकार ने यह कथा लिखकर आपको गम्भीर सूचना दी है। आप भी महावीर के शिष्य हैं और जो महावीर का शिष्य होता है वह उद्योग के महत्त्व को कदापि अस्वीकार न करेगा। भवितव्य को ही मानना गोशालक का मत है। उद्योग से सब–कुछ होता है, यह बात इतनी स्पष्ट है कि इस पर अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

भवितव्य के भरोसे निठल्ले बैठे रहना अच्छा नहीं। उद्यम करते–करते मृत्यु आ जाय तो भी चिंता नहीं। जैसे मुनि–दर्शन के लिए जाता हुआ व्यक्ति मार्ग में मर गया तो भी यही कहा जायगा कि वह धर्मात्मा था। अतएव शुभ कार्य में उद्योगशील रहो। इसी में कल्याण है।

तात्पर्य है कि पांच परमाणु पुद्‌गल मिलने पर उनका जो दुःखरूप परिणमन होता है वह स्वभाव से ही होता है और किसी के करने से नहीं होता, ऐसा अन्यतीर्थिकों का मत सत्य नहीं है। कोई भी दुःख बिना किये उत्पन्न नहीं हो सकता।

शास्त्र में यह नहीं कहा है कि यह मान्यता किसकी है कि दो परमाणु आपस में नहीं जुड़ते, और तीन परमाणु जुड़ते हैं तथा टूटने पर डेढ़–डेढ़ हो जाते हैं। एक और दो परमाणुओं का भी संयोग न मानना और दूसरी तरफ डेढ़ परमाणु का संयोग मान लेना, यह परस्पर विरोधी मान्यता है। जान पड़ता है, जिसने ऐसी प्ररूपणा की है, उसका स्वतंत्र मत या सम्प्रदाय नहीं होगा। जो भी कुछ हो, शास्त्र में उसका नाम नहीं दिया है, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि यह मत अमुक का था।

कदाचित् कोई यह कहे कि किसी के न मानने पर भी ऐसा लिख दिया हो तो? उसे समझना चाहिये कि वीतराग–प्ररूपित शास्त्रों में ऐसी वात नहीं हो सकती। जो वात कोई मानता ही नहीं, उसका उल्लेख करके फिर खंडन करने की आवश्यकता ही नहीं। और जव किसी मत का नाम ही नहीं दिया है तो किसी को वदनाम करने की नीयत से ऐसा किया गया है, यह आक्षेप तो हो ही कैसे सकता है? वल्कि जिस वात का यहां खंडन किया गया

है, उसे मानने वाले का नामोल्लेख न करने में वीतरागता का ही आभास मिलता है। कहा जा सकता है कि शास्त्रकार को सिर्फ सिद्धान्त बतलाना था, किसी की निन्दा नहीं करनी थी। अतएव सिद्धान्त बता दिया और उसकी त्रुटि भी बतला दी। कोई माने या न माने, उसकी इच्छा, लेकिन भगवान् ने वीतरागभाव से जो–कुछ कहा है, उसमें शंका को स्थान नहीं है।

अन्यतीर्थी लोगों की दूसरी मान्यता यह है कि पांच परमाणु मिल कर जीव के दुःखरूप में उत्पन्न हो जाते हैं। वह दुःख जीव का किया हुआ नहीं होता, किन्तु जीव के किये बिना ही उत्पन्न हो जाता है। कर्म के वे पुद्गल इकट्ठे भी होते है और अलग भी हो जाते हैं। ऐसा निरंतर होता ही रहता है। जो काम सदैव निरन्तर होता रहता है, उसे करने की आवश्यकता नहीं होती।

जैसे पानी स्वयं ही बरसता है, कसी के बरसाने से नही बरसता और बरस कर आप ही बन्द हो जाता है, किसी के बन्द करने से बंद नही होता, संभवतः इसी प्रकार उनका कथन है कि दुःख के पुद्गल भी आप ही जुड़ते है और आप ही बिखर भी जाते हैं। वे किसी के जोड़ने से नही जुड़ते और बिखेरने से नहीं बिखरते। इसी प्रकार दुःख आप ही उत्पन्न हो जाता है और आप ही मिट भी जाता है। वह भी किसी का किया हुआ नही होता।

पानी दो तरह से बरसता है, एक तो प्राकृतिक रीति से, दूसरे कृत्रिम

अन्यतीर्थी यह भी कहते हैं कि भाषा बोलने से पहले तो भाषा है, लेकिन बोलने के समय भाषा नहीं है और बोलने के बाद फिर भाषा है। ऐसा मानने वालों की दलील यह है कि अपने मन के भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् मन के भावों को समझाना ही भाषा का उद्देश्य है। भाषा किसी को लक्ष्य करके ही बोली जाती है। अतएव बोलने से पहले भाषा थी, बोलने के बाद भाषा रही, परन्तु बोलते समय भाषा, भाषा नहीं है। बोलने से पहले वक्ता के मन में भाव थे और जब तक उसके मन में भाव हैं तभी तक वह भाषा है। लेकिन जब भाषा का प्रयोग करना आरम्भ किया तो वह भाषा नहीं रही, क्योंकि वर्तमानकाल अत्यन्त–अत्यन्त सूक्ष्म है, एक समय मात्र का है और उसमें कोई क्रिया नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त एक समय में पूरे पद का उच्चारण भी नहीं हो सकता और पद का उच्चारण हुए बिना कोई अर्थ समझ में नहीं आ सकता। उदाहरणार्थ, किसी ने धर्म पद का उच्चारण किया। इस पद में ढाई अक्षर हैं। इनमें से पहले अक्षर का उच्चारण करके दूसरे अक्षर का उच्चारण करने लगे, तब पहला अक्षर नष्ट हो जाता है। केवल पहले अक्षर के उच्चारण से कोई अर्थ समझ में नहीं आ सकता। अतएव दूसरे अक्षरों का उच्चारण करना आवश्यक है, लेकिन दूसरे के उच्चारण के समय पहला अक्षर नहीं रहा। इस प्रकार बोलते समय निरर्थक होने के कारण भाषा, भाषा नहीं रही। हां, बोलने के पश्चात् भाषा, भाषा है, क्योंकि उससे श्रोता को अर्थ का बोध होता है।

तात्पर्य, अन्यतीर्थिकों का मन्तव्य यह है कि भाषा बोलने से पहले और बोलने के पश्चात् तो भाषा है, मगर बोलते समय भाषा नहीं है। उनका यह मन्तव्य मिथ्या है। वास्तव में भाषा वही है जो बोली जा रही हो। बोलने से पहले भाषा, अभाषा है, क्योंकि वह उस समय तक बोली नहीं गई और इस कारण उसका अस्तित्व ही नहीं है और बोलने के पश्चात् भी वह अभाषा है क्योंकि बोलने के पश्चात् शब्द और अर्थ का वियोग हो जाता है।

अन्यतीर्थिक लोग वर्तमानकाल में पूरे पद का प्रयोग न कर सकने के कारण भाषा को अभाषा कहते हैं। इससे मिलता–जुलता स्याद्वाद दर्शन में, सप्तभंगी में एक भंग 'अवक्तव्य' है। वस्तु के धर्म अनन्त हैं और ऐसा कोई शब्द नहीं है जिससे समस्त धर्मों का प्रतिपादन किया जा सके। अतएव एक साथ वस्तु के प्रतिपादन की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य स्वीकार की गई है। लेकिन अन्यतीर्थी शायद इसी एक भंग को पकड़ कर कहते हैं कि बोलने के समय अक्षर नष्ट होते जाते हैं, अतएव बोलते समय भाषा, भाषा नहीं है। अतएव

सप्तभंगी के अवक्तव्य भंग में और इस मान्यता में काफी अन्तर पड़ जाता है। भगवान् ने इस मान्यता के विरुद्ध सिद्धान्त प्रकट किया है। उन्होंने फरमाया है– भाषण करने, बोलने के कारण ही भाषा, भाषा कहलाती है। अगर बोलते समय भी भाषा, भाषा नहीं है तो त्रिकाल में भी वह भाषा नहीं हो सकती। भले ही समय सूक्ष्म है और उस सूक्ष्म समय में सारी वस्तु नहीं कही जा सकती, लेकिन भाषा तो वही हो सकती है, जो बोली जा रही हो। बोलने से पहले जब भाषा का अस्तित्व ही नहीं, तब उसे भाषा मानना और बोलने के पश्चात् जब शब्द और अर्थ अलग हो जाते हैं तब भी उसे भाषा कहना, मगर बोलते समय भाषा को भाषा न कहना, बड़े आश्चर्य की बात है।

अन्यतीर्थी लोग भूतकालीन और भविष्यकालीन अर्थात् बोली हुई और आगे बोली जाने वाली भाषा को ही भाषा मानते हैं, इसलिये वे यह भी कहते हैं कि जो भाषण न कर रहा हो ऐसे पुरुष की भाषा ही भाषा है। वे वर्तमानकालीन, बोली जाती हुई भाषा को भाषा नही मानते, इसलिये उन्हें यह भी मानना पड़ता है कि बोलने वाले की भाषा, भाषा नही है। मगर उनका यह कथन भी मिथ्या है। जो न बोलता हो, उसकी भाषा ही भाषा है, यह कथन स्वचन बाधित है। अगर न बोलने वाले की भाषा, भाषा है तो वह मुक्त जीवों की तथा अचेतन पदार्थों की ठहरेगी, क्योंकि वे कभी नही बोलते। इसके अतिरिक्त असत्य भाषण करने वाला पाप का भागी नही ठहरेगा, क्योंकि जो असत्य बोल रहा है, वह उसकी भाषा नही है, वह तो नही बोलने वाले की है, अतएव असत्य नही बोलने वाले ही पाप के भागी होंगे। फिर तो गाली देने वाला निरपराध और गाली न देने वाला ही अपराधी ठहरेगा। यह मान्यता इतनी विचारहीन है कि इस पर अधिक प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नही होती।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः।।

भगवान् का कहा हुआ तत्त्व सूक्ष्म है। वह किसी भी हेतु से खंडित नहीं हो सकता। अतएव वह उनकी आज्ञा से ही सिद्ध है। वह इसी कारण सत्य है कि भगवान् ने उसका निरूपण किया है। जिन अन्यथावादी नहीं होते।

ऐसा न समझ कर जो लोग सूक्ष्म तत्त्व–विचार के अधिकारी न होते हुए भी उसमें अपनी बुद्धि का ही प्रयोग करना चाहते हैं, वे तत्त्व की गहराई तक नहीं पहुंच सकते। शास्त्र हमारे सामने हैं। उनसे समझने का प्रयत्न करना हमारा काम है। लेकिन बात समझने का प्रयत्न न करना और यह हठ करना कि मैं जो–कुछ कहता हूं वही सत्य है, यह ठीक नहीं। सूर्य प्रकाश करता है, लेकिन अंधे को या जान–बूझ कर आंख बंद कर लेने वाले को वह प्रकाश क्या लाभ पहुंचा सकता है? इसी प्रकार हमारे सामने शास्त्ररूपी सूर्य का प्रकाश चमक रहा है, परन्तु जानबूझ कर ही जो उसे न माने तो फिर उसे कैसे समझाया जा सकता है? भगवान ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि अपनी निष्पक्ष बुद्धि से जिसे ठीक और सत्य समझता है, वह चाहे सत्य न हो तो भी तेरे लिए वह सत्य ही है। आचारांग सूत्र में कहा है :–

समयंति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होंति ऊहयाए।

अगर तुझे सम्यक्त्व है, तेरा हृदय सच्चा है और सत्य समझ कर ही कह रहा या मान रहा है, लेकिन विशिष्ट ज्ञानी की दृष्टि में वह सत्य नहीं है, तो भी वह सत्य ही है। उस असत्य को सत्य मानने के कारण तेरा सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता।

इस प्रकार भगवान् ने सब मार्ग खुले रखे हैं, लेकिन कुछ लोग अपनी ही बातें चलाने के लिए भगवान् की इन बातों को विस्मृत कर रहे हैं। वे कहते हैं कि काय से पाप करने में ज्यादा पाप लगता है और मन से अनुमोदन करने में कम पाप लगता है। इसका समर्थन करने के लिए वे उत्तराध्ययनसूत्र का यह प्रमाण उपस्थित करते हैं :–

धम्मं पि हु सद्दहंतया दुल्लहा काएण फासणा।

ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि भगवान् ने यह भी तो कहा है कि –

सद्धा परमदुल्लहा।

अर्थात् श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है।

मगर जो भगवान् के वचनों को भूल रहे हैं, उन्हें क्या कहा जाय? भगवान् के वचनों को भूल जाने वाले जो चाहे कह सकते हैं। मगर वह भाषा सत्य नहीं होगी।

भाषा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम स्वामी कहते हैं– हे भगवन्! अन्यतीर्थी एक बात और कहते हैं। उनका कथन यह है कि जीव जब तक बाहर क्रिया नहीं करता, किन्तु भीतर ही भीतर क्रिया करने का विचार करता है, तब तक ही वह क्रिया दुःख देती है। अर्थात् क्रिया जब तक की नहीं जाती, तभी तक दुःख देती है, काय से करने पर दुःख नहीं देती। साथ ही, क्रिया करने के बाद भी दुःख देती है, केवल करते समय दुःख नहीं देती।

जीता रहेगा, वह जीव कहलाता है। जो तीनों कालों में चैतन्यशक्ति से युक्त वना रहता है, वह सत्त्व कहलाता है। प्राणी, भूत आदि प्रत्येक का यह लक्षण प्रत्येक जीव में पाया जाता है, अतएव प्राणी, भूत आदि अलग–अलग न होकर एक ही हैं।

प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की ये दोनों व्याख्याएं की जाती हैं और दोनों में से किसी को भी असंगत नहीं कह सकते। अन्यतीर्थी कहते हैं कि कोई भी व्याख्या हो, लेकिन ये सब प्राणी आदि विना किये दुःख से ही वेदना भोगते हैं, किये हुए दुःख से वेदना नहीं भोगते।

जिनका नाम लेकर यह प्रश्न किया गया है, वे अन्यतीर्थिक तो भगवान् के सामने थे नहीं, पूछने वाले गौतम स्वामी हैं और उत्तर देने वाले भगवान्। ऐसी दशा में अन्यतीर्थी का उल्लेख करके प्रश्न क्यों किया गया? गौतम स्वामी ने अपनी तरफ से ही यह क्यों नहीं पूछ लिया कि भगवन्! जीव अपने किये दुःख भोगते हैं अथवा विना किये दुःख भोगते हैं? अन्यतीर्थी ऐसा कहते हैं, इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता थी ? किस प्रयोजन के लिये गौतम स्वामी ने ऐसा कहा है?

गौतम स्वामी के इस प्रकार कथन करने का वास्तविक कारण क्या है, यह निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन मैं अपनी बुद्धि से कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करता हूं।

अगर गौतम स्वामी यह पूछते कि दुःख विना किये ही होता है या करने से होता है, तो यह प्रश्न गौतम स्वामी का निजी होता। भगवान्, गौतम स्वामी के प्रश्न का भी उत्तर देते। फिर भी गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थी का उल्लेख करके प्रश्न किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि उस समय के कुछ तत्त्वचिन्तकों के सामने जो प्रश्न उठा था और उन्होंने अपनी समझ के अनुसार उसका जो समाधान किया था, गौतम स्वामी ने उसे भगवान् के समक्ष उपस्थित किया है। ऐसा कहने वाले लोग चाहे अन्यतीर्थी कहलाते हों, मगर ज्ञानी महापुरुषों की दृष्टि में तो सभी जीव समान दिखाई देते हैं। उनकी दया प्राणीमात्र पर समान होती है। जो दया करके संसार के सव जीवों को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करता है, सव जीवों को कल्याण का पथ प्रदर्शित करता है, वह भाव–करुणालु है। अगर वे ऐसा सोचते कि जगत् बिगड़ता है तो विगड़े! इसमें मेरी क्या हानि है? तो वे भगवान् से ऐसा प्रश्न न करते। मगर गौतम स्वामी ने उन विषयगामी जीवों को भी अपने समान ही समझा, इसी कारण उनकी मान्यता के विषय में भगवान् से प्रश्न

किया। वास्तव में सब जीवों को आत्मतुल्य माने बिना पूर्ण समभाव भी नहीं आता। पूर्ण समभाव तो संसार के सब जीवों को आत्मतुल्य मानने पर ही आता है। आपके शरीर का एक अंग बिगड़ जाय तो आप उसका इलाज कराते हैं या नहीं? उस अंग को आप अपना ही समझ कर उसका इलाज कराते ही हैं। इसी प्रकार जिन महापुरुषों ने सब जीवों को अपना आत्म मान लिया है, वे अगर किसी जीव में कोई रोग देखें तो उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? ज्ञानी पुरुष तो उनके भाव–रोग को मिटाने का यत्न करेंगे ही। फिर उनका रोग मिटता या न मिटता, दूसरी बात है, लेकिन वे अपनी ओर से तो प्रयत्न करेंगे ही। वे उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं मानेंगे।

रोगी अनेक है और उनके रोग भी बहुत–कुछ अनेक प्रकार के हैं। वैद्य एक ही है। वह किस–किस की दवा करेगा? अर्थात् उलटे विचार के

ही सब–कुछ होता रहता है। क्या हो और क्या न हो, कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार कब, कैसे, कहां, क्या हो, इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है। जब, जैसे, जहां जो–कुछ हो गया, सो हो गया। यही अदृच्छावाद का सिद्धान्त है।

नियतिवाद और यदृच्छावाद में अन्तर है। नियतिवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक भविष्य निश्चित है। जो कुछ भवितव्य है वही होता है। लेकिन यदृच्छावाद के अनुसार कोई नियतता नहीं है। अकस्मात् जब, जो–कुछ हो गया, सो हो गया। उनके मत से सारा जगत् अतर्कित है। इसमें किसी तर्क को स्थान नहीं है। न जाने कब क्या हो जाता है? सोचते कुछ हैं, होता कुछ है। जगत् में कहीं कोई नियमितता नहीं है।

रामचन्द्र के विषय में यह सोचा गया था कि कल इन्हें राज्य दिया जायगा, परन्तु दिया गया वनवास। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व अतर्क्य है। इसमें जो भी सुख–दुःख होता है, वह किसी का किया हुआ नहीं होता, वरन् आप ही आप हो जाता है। सुख–दुःख के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। एक कौआ ताल वृक्ष के नीचे गया। वह नहीं जानता था कि यहां जाने से मेरा मरण होगा। लेकिन पवन के कारण ताल का एक फल टूटकर कौए के ऊपर ऐसा गिरा कि कौआ मर गया। न कौए ने ही सोचा था कि मैं वहां जाकर मरूंगा और न फल ने ही सोचा था कि मैं कौए को मारूंगा। फिर भी यह अतर्कित घटना हो ही गई। इस संसार में सर्वत्र यही होता है। अतएव किसी प्रकार का अभिमान या किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। यदृच्छावादी कहता है– 'जगत् अतर्कित है, फिर यह अभिमान क्यों करते हो कि मैं ऐसा करता हूं? और कुछ न होने पर चिन्ता करने की भी क्या आवश्यकता है? यदृच्छात्व की छत्र–छाया में जो आ जाता है, वह सब तरह से चिन्तामुक्त और अहंकार से हीन हो जाता है। हम सब प्रकार की चिन्ता से छूटने के लिये ही यदृच्छावाद का अमृत सबको पिलाते हैं। इसलिए हमारे सिद्धान्त का आश्रय लो और यह अमृत पीकर निश्चिंत होओ।'

यदृच्छावाद का भ्रम मिटाने के लिये भगवान् ने यथासम्भव बहुत–कुछ कहा हैं। उस कथन को समझना अथवा न समझना और मानना या न मानना, अपनी–अपनी मर्जी की बात है। जगद्गुरु होने के कारण भगवान् ने जगत् के विभिन्न भ्रमों के निवारण का पूरा प्रयत्न किया है। उससे जो लाभ उठाएगा वह सुखी होगा। सार्वजनिक दवाखाना खुला है। जिसकी इच्छा हो, दवा ले। किसी को मनाही नहीं है। किसी पर जबरदस्ती भी नहीं है। जिसका

शुभ होना है, दवा लेगा। जिसके अशुभ कर्मों का उदय है, वह दवा नहीं लेगा।

यदृच्छावादी जो सिद्धान्त प्रकट करते हैं, क्या वे स्वयं उसका पालन कर सकते हैं? वे दूसरे को निश्चिन्त करना चाहते हैं परन्तु खुद किस दर्जे तक अपने सिद्धान्त पर चलते हैं? उनके सिद्धान्त के अनुसार भूख–प्यास न लगाने से लगती हैं, न मिटाने से मिटती हैं। फिर उन्हें मिटाने का उद्योग किसलिए किया जाता है? क्या यदृच्छावादी ऐसा प्रयत्न नहीं करते? किसी की मोहरों की थैली चोर ले गया। अब चोर कहता है– 'न मेरे लाने से थैली आई है, न आपके रहने से रह सकती है।' ऐसा कहने वाले चोर को यदृच्छावादी क्या उत्तर देंगे ? क्या वे चोर के ऐसा कहने से संतोष कर लेंगे? यदि नहीं, तो जब ऐसी छोटी–छोटी बातों में भी अपने सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह सकते, तो ऐसा सिद्धान्त बताकर लोगों को गुमराह करने की क्या जरूरत है? यह सिद्धान्त बतलाना लोगों को पुरुषार्थहीन और आलसी बनाना है। यह मिथ्या सिद्धान्त सुनकर लोग यही सोचेंगे कि उद्यम करने की आवश्यकता ही क्या है? जो जब होगा सो होगा। अपने किये क्या होता है? इस प्रकार यह सिद्धान्त मानव–समाज के लिए अहितकर ही सिद्ध होता है। भगवान गौतम स्वामी से कहते हैं– हे गौतम! बिना की हुई क्रिया नहीं लगती। [illegible]

इस प्रकार यदृच्छावाद का यह एकान्त उपहास का पात्र ही है और मनुष्यों को प्रमादी, पुरुपार्थहीन एवं अकर्मण्य वनाने वाला है।

कोई भी कार्य वातें करने से नहीं, क्रिया करने से ही होता है। विचार, उच्चार और आचार की त्रिपुटी मिलने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। जिस काम को करने का विचार ही न होगा, वह काम कैसे हो सकता है? विचार हुआ, लेकिन दृढ़तारूप मानसिक उच्चार भी न हुआ, तो भी कार्य सिद्ध नहीं होगा। मानसिक दृढ़ता भी हुई, लेकिन क्रिया न की तो भी कार्य होना असम्भव है।

कल्पना कीजिए, किसी महिला ने कुछ लोगों को जिमाने का विचार किया। विचार होने पर उसने निश्चय किया और उन लागों के पास गई। उन्हें न्यौता दे आई। यह विचार भी हुआ और उच्चार भी हुआ। लोग जीमने आये मगर उस महिला ने भोजन नहीं वनाया था। लोग पूछने लगे— जीमने के लिए क्या वना है? तव वह कहने लगी— आप लोगों को जिमाने का विचार आया और मैं आप को निमन्त्रण दे आई। इस प्रकार विचार हो गया। और उच्चार भी हो गया। अव सिर्फ आचार रह गया। जब दो हो गये और एक रह गया तो क्या हानि है? अगर कोई वहिन ऐसा करे तो आप उसे क्या कहेंगे? क्या दूसरी वार उसके निमन्त्रण देने पर आप उसके घर भोजन करने जाएंगे? कौन उसका विश्वास करेगा? अतएव विचार, उच्चार और आचार – तीनों की आवश्यकता है। इन तीनों के होने पर ही कार्य होता है।

आप कहेंगे, फिर हमें क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि कार्य की कमी नहीं है। कमी कार्य करने वालों की है। कार्य तो आपके सामने ही पड़ा है। लेकिन उसे आप ठुकरा रहे हैं। पहला काम है मन, वचन और काय की शुद्धि करना। इनमें भी मन की शुद्धि सर्वप्रथम कर्तव्य है। लोग कहते हैं, भगवान् शान्तिनाथ का नाम जपने पर भी शान्ति नहीं होती। लेकिन वास्तविक शान्ति कव मिल सकती है, इस वात को उन्होंने भुला दिया है। अगर आप यह मानते हैं कि मानसिक शुद्धि होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है, तो पहले मन शुद्ध क्यों नहीं करते? मन शुद्ध करके भगवान् शान्तिनाथ का नाम लो और फिर देखो कि शान्ति मिलती है या नहीं? मतलव यह है कि सर्वप्रथम मनःशुद्धि की आवश्यकता है।

मन और तन का घनिष्ठ सम्वन्ध है। मन में चिन्ता होने पर शरीर भी सूखता जाता है। जिसका मन वलवान् है, उसका शरीर चाहे कृश ही क्यों न हो, वलवान् ही है। मन वलवान् होने पर शरीर में भी तेज रहता है। अतएव

शरीर को शुद्ध रखने के लिए भी मन को बलवान् बनाने की आवश्यकता है। मन शुद्ध रखने से ही वह बलवान् बनता है। इसलिए पहले मन को शुद्ध बनाओ। त्याग, वैराग्य, भक्ति, स्वाध्याय आदि का साक्षात् फल मन को शुद्ध रखना ही है। अतएव मानसिक शुद्धि के लिए प्रयत्न करो।

भगवान् शान्तिनाथ के नाम का बहुत महत्त्व बताया गया है। मगर प्रश्न होता है कि भगवान् शान्तिनाथ का नाम लेने से पेट का दुखना बन्द हो जायगा? आग लगी हो और भगवान् शान्तिनाथ का नाम बोल दें तो क्या आग बुझ जायगी? अगर नाम लेने पर भी पेट का दुःख नहीं मिटा और आग नहीं बुझी तो भी क्या भगवान् शान्तिनाथ के नाम मे करामात मानोगे? गजसुकुमार मुनि ने पूर्ण शान्ति के लिए छहकाय के जीवों के साथ मित्रता जोड़कर सबसे क्षमायाचना करके श्मशान में जाकर ध्यान किया। फिर भी सोमल ने आकर उनके सिर पर आग रख दी। क्या यह शान्ति हुई?

आने पर पति का परित्याग कर देती है, वह भी क्या स्त्री है! सीता चाहती तो राम के वनगमन के समय बहुत–से अपराध निकाल सकती थी, लेकिन उसने ऐसा किया होता तो अपने धर्म का पालन नहीं कर सकती थी। धर्म तो उच्च कोटि की भावना से ही हो सकता है। वास्तव में कर्तव्यपालन के समय धर्म की ओट लेकर कायरता दिखलाना अनुचित है। यह धर्म नहीं, धर्म का दुरुपयोग है। कर्तव्यपालन करने में कदाचित् कोई संकट आता हो तो भी उसके भय से विचलित न होकर कर्तव्यपालन करना चाहिए। घड़ी में जिस समय चाबी दी जाय उसी समय वह चले और चाबी देना बन्द करते ही रुक जाय तो वह घड़ी खोटी समझी जाती है। इसी प्रकार सामायिक में बैठने पर समभाव रखे मगर दुकान पर जाने के समय किसी का गला काटने में संकोच न किया तो यह धर्म हुआ या कर्म हुआ? अपना काम करते हुए भी अपने को परमात्मा का सेवक समझें और यह मानें कि मैं जो करता हूं, परमात्मा की साक्षी से करता हूं, ऐसा समझकर धर्म को सदैव याद रक्खें। तभी समझना चाहिए कि मैंने धर्म को पहचाना है। ऐसा करने वाला ही सच्ची धर्मक्रिया करता है और उसी को धर्मक्रिया के फल की प्राप्ति हुई है।

अन्यतीर्थी कहते हैं कि क्रिया करने से पहले दुःख देती है, करने के बाद भी क्रिया दुःख देती है, लेकिन करते समय दुःख नहीं देती। उदाहरणार्थ, कोई पुरुष मुंबई जाने का विचार करता है। वह ऐसा विचार करके मुंबई चला। चलने में तो दुःख होता ही है, लेकिन उन लोगों का कहना यह है कि मुंबई जाने की क्रिया पहले तो दुःख देती है, मगर चलते समय दुःख नहीं देती। हां, चल चुकने के बाद फिर दुःख देती है। ऐसा उनका कथन है, जिसकी उन्मत्त प्रलाप कहकर उपेक्षा की गई है। लेकिन किसी की सैद्धान्तिक बात की एकदम उपेक्षा कर देना ठीक नहीं है, यह विचार कर उनकी बात पर कुछ विचार भी किया है। टीकाकर कहते हैं कि यह बात है तो उपेक्षा के योग्य ही, मगर बिलकुल उपेक्षा के योग्य ही होती तो गौतम स्वामी ने प्रश्न के रूप में भगवान् के सामने न रखी होती। जैसे किसी मद पीये हुए आदमी की बात पर राजा विचार नहीं करता, इसी प्रकार इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन गौतम स्वामी ने ऐसी ही उपेक्षा की होती तो वे भगवान् के सामने प्रश्न रूप में न रखते। अतएव इस का विचार करने के लिए वे पहले पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं।

किसी भी क्रिया को करने से पहले उसका विचार करना पड़ता है। उस विचार के कारण मानसिक ताप होता है। यह विचार आता है कि इसे करें या न करें? इस कारण क्रिया करने से पहले दुःखरूप होती है। फिर क्रिया की जाती है। जब वह की जाती है, उस समय दुःख नहीं रहता। और क्रिया करने के पश्चात् फिर दुःख होता है। अर्थात् क्रिया करने के बाद एक प्रकार की थकावट होती है और उससे दुःख होता है।

अन्यतीर्थियों के इस पक्ष को उदाहरण से समझिए। आपको विश्वास है कि अमुक जगह जाने से हमें हजार रुपये का लाभ होगा। लाभ के लोभ में आप जाते हैं और जाते समय आपको थकावट, भूख, प्यास आदि का विचार नहीं होता। लेकिन वहां जाने पर या तो काम बिगड़ जाता है और कोई गड़बड़ी पैदा हो जाती है, तो थकावट आदि का दुःख होता है। किसी के घर विवाह या अन्य समारोह होता है तो जब तक वह उसमें व्यग्र रहता है, तब तक उसे थकावट नहीं मालूम होती। लेकिन समारोह सम्पन्न हो जाने पर बेहद थकावट प्रतीत होने लगती है। इसी कारण अन्यतीर्थि कहते हैं कि करते समय क्रिया दुःख नही देती, किन्तु करने से पहले या करने के बाद दुःख देती है। ऊपर से विचार करने पर यह बात शायद ठीक मालूम होती है और इससे दुनिया भ्रम में पड़ सकती है; इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से इसका निर्णय करा लिया है। वास्तव में किसी अंश में यह बात ठीक भी है, मगर दूसरे अंश को छोड़ देने से इस अंश में भी घोटाला हो जाता है। इसलिए भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे कहा– अन्यतीर्थीयो का यह कथन मिथ्या है। दुःख क्रिया करने से पहले नही होता, न बाद मे ही होता है, किन्तु क्रिया

ही दुःख होता है तो कार्य करने में दुःख क्यों नहीं होगा? और जब क्रिया करते समय दुःख नहीं है तो उसके निमित्त से भूत या भविष्य में दुःख क्यों होगा?

यह एक सर्वसम्मत–सा सिद्धान्त है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है और कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कोई भी कार्य बिना कारण के उत्पन्न होता हुआ कहीं दृष्टिकोचर नहीं होता। जब, जहां, जो कार्य होता है, कारण से ही उत्पन्न होता है। यहां क्रिया कारण है और उससे होने वाला दुःख कार्य है। अब इस बात का विचार करना चाहिए कि क्रिया करने से पहले क्रिया विद्यमान नहीं थी, ऐसी हालत में वह दुःख को कैसे उत्पन्न कर सकती है? जो कारण स्वयं ही अब तक उत्पन्न नहीं हुआ, वह अपने कार्य को कैसे उत्पन्न कर देगा? क्रिया अब तक उत्पन्न नहीं हुई है– आगे उत्पन्न होने वाली है, मगर वह अपना कार्य– दुःख पहले ही उत्पन्न कर देती है। यह तो ऐसी ही बात हुई कि बालक जन्मने से पहले ही अपनी सन्तान उत्पन्न कर देता है।

इसी प्रकार क्रिया जब की जा चुकी, तब वह विद्यमान नहीं रही। और जब वह विद्यमान ही नहीं है तो दुःख को किस प्रकार उत्पन्न करेगी? अतएव भूतकालीन क्रिया दुःखजनक नहीं हो सकती और न भविष्यकालीन ही। वर्तमानकाल की क्रिया ही दुःख का कारण होती है।

वर्तमान में कार्य का जो प्रारम्भ हुआ है, वही दुःख है। अगर दुःख न हो तो भूत–भविष्यकाल में दुःख हो ही नहीं सकता। जैसे विवाह से पहले विवाह के संबंध में विचार करने से दुःख होता है, और विवाह हो जाने के बाद थकावट में दुःख होता है, यह ठीक है, लेकिन जब विवाह–कार्य में ही दुःख न होगा तो उससे पहले या उसके बाद दुःख कैसे हो सकता है?

आचारांगसूत्र में कहा है कि पृथ्वीकाय का आरम्भ आठ कर्म की गांठ है। प्रश्न होता है कि वह आरम्भ गांठ है या उससे लाने वाले कर्म गांठ हैं? मगर वहां आरम्भ को ही गांठ कहा है और यह भी कहा है कि यही नारकी है, क्योंकि कारण होते ही कार्य का सद्भाव माना जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं– जो लोग भूत और भविष्य में दुःख मानकर वर्तमान में दुःख नहीं मानते, वे असावधानी में रहते हैं। अतएव वास्तविक दुःख तो वर्तमान में ही है। अगर वर्तमान में दुःख न हो तो भूत–भविष्य में भी दुःख नहीं हो सकता।

यह बात अनुभव से भी मानी जा सकती है। जब कोई कुपथ्य खाता है तो यही कहा जाता है कि 'कुपथ्य मत खाओ।'

भगवान् के इस कथन का अभिप्राय क्या है? अभिप्राय यही है कि हम भलीभांति समझ लें कि जो दुःख हो रहा है, वह हमारा किया हुआ ही है। मान लीजिए, किसी को घोर कष्ट हुआ। उस समय वह कह सकता है कि मैंने कभी कुपथ्य नहीं खाया, कभी प्राणातिपात आदि पाप नहीं किया; फिर मुझे यह कष्ट क्यों हो रहा है? इसीलिये भगवान् ने कहा है कि बिना किये दुःख नहीं होता। तूने अभी नहीं किया है तो क्या हुआ? पहले किया है, इसी कारण यह कष्ट पा रहा है। जो भी कष्ट होता है, वह तेरा ही किया हुआ है।

भगवान् महावीर स्वामी को साढ़े बारह वर्ष तक तप करना पड़ा, कष्ट भोगना पड़ा। उन्होंने इस जीवन में पाप नहीं किया था, फिर भी कष्ट क्यों भोगना पड़ा? मगर भगवान् कहते थे– मुझे जो कष्ट हो रहा है, वह मेरा ही किया हुआ है। मैंने अभी नहीं किया तो क्या हुआ! पहले किया है, इसी कारण कष्ट हो रहा है। इस प्रकार भगवान् जैसे लोकोत्तर महापुरुष ने भी दुःख को अपना किया हुआ माना तो हम लोग किस गिनती में हैं? हमें जो हो, उसे अपना किया ही क्यों नहीं मानना चाहिए?

लेकिन भविष्य में जो दुःख होगा वह कृत कर्मजन्य ही होगा। दुःख का क्या कारण है? मैंने कौन–सा अपराध किया है? लेकिन उसने यह दावा नहीं किया और यही सोचा कि यह दुःख मेरा ही किया हुआ है। जब उस सती ने भी ऐसा माना तो तुम ऐसा क्यों नहीं मान सकतीं? तुम्हें भी यही विचार करना चाहिए।

दुःख आ पड़ने पर यह सोचने से कि मैंने दुःख नहीं किया था, फिर भी मुझे दुःख भोगना पड़ रहा है, आर्तध्यान होगा। इसके विपरीत यह सोचने से कि यह दुःख मेरा ही किया हुआ है, धर्मध्यान होगा। आर्तध्यान और धर्मध्यान में क्या अन्तर है, यह बात आप जानते ही हैं। अतएव सदैव इस बात को स्मरण रखिए–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।।

अर्थात् इस आत्मा ने पहले शुभ या अशुभ, जैसे कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभाशुभ फल भोगता है।

ऐसा समझ कर अपने सम्यक्त्व–रत्न को दृढ़ करो और आत्मा को सब समय निश्चल रक्खो। अन्यतीर्थी लोग कहते हैं कि बिना किये कर्म लगते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त अपना नहीं है। अपना सिद्धान्त तो यह है कि बिना किये कर्म नहीं लगते। चाहे सारा संसार पापी हो जाय, लेकिन यदि तू पापी नहीं है तो संसार का पाप तुझे स्पर्श भी नहीं कर सकता। इसलिए जब सुख–दुःख हो तो समझना चाहिए कि यह मेरा ही किया हुआ है। जब सुख हो तो अभिमान न करना और दुःख में दीन न होना वीर पुरुषों का लक्षण है। यह विवेकशील पुरुषों की पहचान है। यह मत समझो कि तुम्हें कोई दूसरा दुःख या सुख दे रहा है।

एक सेठ का लड़का था। उसके मां–बाप मर गये। उसकी दुकान का काम मुनीम चलाता था। मुनीम लड़के को खर्च दिया करता था। इससे लड़का खुश होता और मुनीमजी का आभार मानता था। उसे यह नहीं मालूम था कि मुनीमजी देते हैं, मगर किसकी तिजोरी में से देते हैं? उसे यह तो समझना ही चाहिए था कि यह सब मेरा ही है और मेरी ही तिजोरी से मिल रहा है।

इसी प्रकार, हे भव्य जीव! तुझे जो सुख मिल रहा है वह तेरा ही किया हुआ है। उस सुख को पाकर अभिमान क्यों करता है? सारा सुख तेरी

होता है, फिर भी भंग पीते समय ही यह समझ लेना चाहिए कि मैं नशा कर रहा हूं। ऐसा समझने से नशे से, अर्थात् भंग पीने से बचने का अवकाश रहेगा। इसी प्रकार भविष्य के दुःख को वर्तमान में ही समझ कर यह जान लेना चाहिये कि इस क्रिया से दुःख होगा। यानी मैं यह दुःख ही कर रहा हूं। ऐसा समझने से दुःख से बचाव होगा। इसीलिए भगवान् ने कहा है– दुःख अपना किया होता है, बिना किया नहीं।

जो लोग सुख–दुःख को कर्मजन्य नहीं मानते या कर्म की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, उनके लिये एक गाथा बनाई गई है। अगर इस एक ही गाथा का किसी योगीश्वर ने विचार किया हो तो उसे कुछ अपूर्व ही विचार उत्पन्न होगा। वह गाथा इस प्रकार है :–

जो तुल्लसाहणाणं, फलेविसेसो न सो विणा हेउं।
कज्जत्तणओ गोयम! घडोव्व, हेऊयसे कम्मं।।

इस सारे प्रकरण का संक्षेप में आशय यह है कि समान साधन वाले पुरुषों को फल में जो विशेषता होती है, वह निष्कारण नहीं है; क्योंकि वह विशेषता कार्य है। जो कार्य होता है, वह बिना कारण नहीं हो सकता, जैसे घट। घट कार्य है तो उसके लिए मिट्टी, चाक आदि कारणों की आवश्यकता होती है। वह कारणों के बिना उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार समान साधन वाले पुरुषों को भी फल में जो विशेषता देखी जाती है, उसका भी कोई–न–कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जिस कारण से फल–प्राप्ति में विशेषता होती है, वही कारण कर्म कहलाता है। इस अनुमान–प्रमाण से कर्म की सिद्धि होती है।

मान लीजिए, दो किसानों ने खेती की। दोनों के पास खेत, बैल, हल, बीज आदि साधन समान हैं और दोनों ने परिश्रम भी किया है। फिर भी एक किसान के खेत में खूब धान्य हुआ और दूसरे के खेत में कम हुआ। इस प्रकार फल में विशेषता हुई।

दो आदमी समान पूंजी लगाकर समानरूप से व्यापार करते हैं। फिर भी एक को नफा और दूसरे को नुकसान होता है। जिन स्त्रियों का एक ही साथ में विवाह हुआ है, उनमें से एक संतानवती होती है और दूसरी विधवा हो जाती है। एक की स्त्री मर जाती है और दूसरे की स्त्री से घर बस जाता है। इस प्रकार अन्तर प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। अब प्रश्न यह है कि

साधन समान होने पर भी यह अन्तर क्यों हुआ? फल में यह विशेषता किस कारण से आई? तुल्य साधन होने पर भी जो विशेषता आई है, वह निष्कारण नहीं है। उसका कोई–न–कोई कारण अवश्य होना चाहिए। फल की विशेषता कार्य है और जगत् में जितने भी घट आदि कार्य देखे जाते हैं, उन सबका कारण अवश्य होता है। इस अटल नियम के अनुसार इस विशेषता का जो कारण है, उसे चाहे कोई कुछ भी नाम दे, हम उसे कर्म कहते हैं। कर्म से ही यह फल सम्बन्धी विचित्रता उत्पन्न होती है।

ज्ञानी पुरुष वितंडावाद से दूर रहते हैं, परन्तु जो बात सत्य होती है, वह कह देते है।

एर्यापथिकी एवं साम्परायिकी क्रिया

मूलपाठ

प्रश्न – अन्नउत्थियाणं भंते! एवं आइक्खंति, जाव–'एवं खलु एगेजीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेंति। तंजहा–इरियावहियं च, संपराइयं च। जं समयं इरियावहिअं पकरेइ तं समयं संपराइअं पकरेइ; जं समयं संपराइअं पकरेइ तं समयं इरियवहिअं पकरेइ। इरियावहिआए पकरणयाए संपराइअं पकरेइ, संपराइआए पकरणआए इरियावहियं पकरेइ। एवं खलु एगेजीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति। तंजहा–इरियावहियं च, संपराइअं च।' से कहं एअ भंते! एवं?

उत्तर – गोयमा! जं णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति, तं चेव जाव–जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं अहिंसु। अहं पुण गोयमा! एवं आइक्खामि–एवं खलु एगे जीवे एगसमए एक्कं किरियं पकरेइ। परउत्थियवत्तव्वं णेयव्वं। ससमयवत्तव्वयाए णेयव्वं। जाव– इरियावहिअं, संपराइअं वा।

संस्कृत छाया

प्रश्न – अन्ययूथिका भगवन्! एवमाख्यान्ति, यावत्–'एवं खलु एको जीव एकेन समयेन द्वे क्रिये प्रकरोति। तद्यथा–ऐर्यापथिकी च, साम्परायिकी च। यं समयं ऐर्यापथिकी प्रकरोति, तं समयं साम्परायिकी प्रकरोति। यं समयं साम्परायिकी प्रकरोति तं समयं ऐर्यापथिकी प्रकरोति। ऐर्यापथिक्याः प्रकरणतया साम्परायिकी प्रकरोति, साम्परायिक्याः प्रकरणतया ऐर्यापथिकी प्रकरोति। एवं खलु एको जीवः एकेन समयेन द्वे क्रिये प्रकरोति। तद्यथा–ऐर्यापथिकी च, साम्परायिकी च।' तत् कथमेतद् भगवन्! एवम्?

उत्तर – गौतम! यत् ते अन्यतीर्थिका एवमाख्यान्ति, तदेव यावत्–ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः। अहं पुनः गौतम! एवमाख्यामि, एवं खलु एको

गौतम स्वामी, भगवान् से कहते हैं– हे प्रभो! अन्यतीर्थी लोग कहते हैं कि जीव एक ही समय में सांपरायिकी और ऐर्यापथिकी, दोनों क्रियाएं करता है। उनका यह कथन मेरी समझ में नहीं आता। अतएव अनुग्रह करके आप ही निर्णय दीजिए।

यद्यपि इस प्रश्न का निराकरण स्वयं गौतम स्वामी ही कर सकते थे, मगर उन्होंने भगवान् से ही निर्णय कराया। भगवान् से निर्णय कराने के कारण आज हमारे लिए यह आधार है कि अमुक बात भगवान् की कही हुई है।

गौतम स्वामी के कथन का उत्तर भगवान् ने दिया– गौतम अन्यतीर्थिकों का यह कथन मिथ्या है कि एक जीव को एक समय में दो क्रियाएं लगती हैं। जीव एक समय में दो क्रियाएं नहीं कर सकता। एक ही कर सकता है। चाहे ऐर्यापथिकी क्रिया करे, चाहे सांपरायिकी।

यहां यह आशंका हो सकती है कि जो की जाय वह क्रिया कहलाती है। फिर एक साथ दो क्रियाएं क्यों नहीं लग सकती? जिस समय ईर्या अर्थात् गमन करने की क्रिया होती है, उसी समय कषाय भी रहता है और कषाय की क्रिया सांपरायिक है! इसलिए ऐर्यापथिकी क्रिया के साथ सांपरायिकी क्रिया भी होनी ही चाहिए। इसी प्रकार जब सांपरायिकी क्रिया होती है, तब योग भी रहता है और योग की क्रिया ऐर्यापथिकी है। ऐसी दशा में सांपरायिकी क्रिया के साथ ऐर्यापथिकी भी क्यों नहीं लगती?

इस शंका का समाधान यह है कि केवल शब्द की व्युत्पत्ति से ही काम नहीं चलता। व्युत्पत्ति से तो, जो गमन करे उसे गौ कहते हैं, लेकिन गमन तो घोड़ा भी करता है। अतएव गौ का यही लक्षण मानने से अतिव्यापप्ति होती है। इसलिये व्युत्पत्ति के साथ प्रवृत्ति निमित्त भी माना जाता है। यहां भी सिर्फ व्युत्पत्ति का विचार न करके यह देखना चाहिए कि भगवान् ने जो–कुछ कहा है, वह क्यों और किस कारण से कहा है?

भगवान् के कथन का आशय यह है कि जब कषाय है तब ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं हो सकती। ऐर्यापथिकी क्रिया कषाय न होने पर ही होती हैं। जब तक कषाय है तब तक साम्परायिक क्रिया ही होती है, एर्यापथिकी नहीं होती और जब कषाय नहीं है तब साम्परायिक क्रिया नहीं हो सकती। इस प्रकार एक ही समय में दो नहीं, किन्तु एक ही क्रिया हो सकती है।

उपपात–विरह

मूलपाठ

प्रश्न – निरयगई णं भंते! केवतियं कालं विरहिआ उववाएणं पण्णत्ता?

उत्तर – गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता! एवं ववक्कंतीपयं भाणि अव्व निरवसेस।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति जाव–विहरइ।

संस्कृत छाया

प्रश्न – निरयगतिर्भगवन्! कियन्तं कालंविरहिता उपपातेन प्रज्ञप्ता।

इस सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन प्रज्ञापना सूत्र के छट्ठे पद में किया गया है। वही विवेचन यहां समझ लेना चाहिये। समयाभाव के कारण उस सबका विस्तार के साथ यहां विवेचन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकरण के प्रश्नोत्तर का संक्षिप्त आशय यह है :—

गौतम – भगवन्! चारों गतियों में जीव निरन्तर ही उत्पन्न होते रहते हैं या कोई ऐसा भी समय आता है, जब किसी गति में एक भी जीव उत्पन्न न हो?

भगवान् – गौतम! हां, ऐसा समय भी होता है।

गौतम – सब गतियों में एक ही समान समय का व्यवधान होता है?

भगवान् – नहीं, गौतम! एक समान व्यवधान नहीं होता, किन्तु भिन्न–भिन्न गतियों में भिन्न–भिन्न नियम हैं।

समुच्चय रूप से चारों गतियों में बारह मुहूर्त से अधिक का समय निकलने या उपजने का विरहकाल नहीं होता। सब जगह जघन्य काल एक ही समय का है।

विशेष रूप से देखा जाय तो पहले नरक में चौबीस मुहूर्त का, दूसरे में सात अहोरात्र का, तीसरे में पन्द्रह अहोरात्र का, चौथे में एक मास का, पांचवें में दो मास का, छठे में चार मास का और सातवें नरक में छह मास का विरहकाल होता है। कहा भी है :—

चउवीसई मुहुत्ता सत्त अहोरत्त तह य पन्नरस।
मासो य दो य चउरो, छम्मासा विरहकालो उ।।

इस गाथा का अर्थ ऊपर आ ही चुका है।

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में तथा पहले और दूसरे देवलोक में चौबीस मुहूर्त का विरहकाल है। तीसरे देवलोक में नौ दिन और बीस मुहूर्त का, चौथे देवलोक में बारह दिन दस मुहूर्त का, पांचवें देवलोक में साढ़े बाईस दिन का, छठे देवलोक में पैंतालीस दिन का, सातवें देवलोक में अस्सी दिन का, आठवें देवलोक में सौ दिन का, नौवें और दसवें देवलोक में संख्यात महीनों का (जो एक वर्ष से अधिक न हों), ग्यारहवें और बारहवें देवलोकों में संख्यात वर्ष का विरहकाल होता है। ग्रैवेयक के पहले त्रिक में संख्यात सैकड़ों वर्षों का (जो एक हजार से अधिक न हों), दूसरे त्रिक में संख्यात हजारों वर्षों का और तीसरे त्रिक में संख्यात लाखों वर्षों का विरहकाल होता है। कहा भी है :—

भवण–वण–जोई–सोहम्मीसाणे चउवीस मुहुत्ताओ।
उक्कोस विरहकालो पंचसु वि जहलओ समओ।
णव दिन वीस मुहुत्ता बारस दस चेव दिणमुहुत्ताओ।
बावीसा अद्धं चिय, पणयाल असीइ दिवस सयं।।
संखेज्जा मासा आणय–पाणय एसु तहा आरणऽच्चुएवासा।
संखेज्जा विण्णेया, गेवेज्जेसुं अओ वोच्छं।।
हेट्ठिमवास सयाइं, मज्झि सहस्साइं उवरिये लक्खा।
संखेज्जा विन्नेया, जहासंखेणं त तिसं पि।।

कौन इसकी परवाह करता है? गुरुमुख से धारण किए विना शास्त्र का गूढ़ मर्म समझने में आना कठिन होता है। अगर कोई थोड़ा–बहुत ज्ञानी भी हो तो भी उसे यही समझना चाहिये कि मैं कुछ नहीं जानता; किन्तु जो–कुछ भगवान् ने कहा है, वही सत्य है।

सेवं भंते सेवं भंते गौतम बोल्या सई।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नईं।
हाथ जोड़ी मान मोड़ी गौतम बोल्या सई।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नईं।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा में आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. एक महान् क्रांतिकारी संत हुए हैं। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, संवत् 2000 को भीनासर में सेठ हमीरमलजी बांठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला में उन्होंने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध संघ की एक श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई, जिसमें उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया ने उनकी स्मृति में भीनासर में ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनन्तर दिनांक 2.4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु संस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई प्रशिक्षण केन्द्र का संचालन किया जाता है, जिसमें योग्य अध्यापिकाओं द्वारा महिलाओं व छात्राओं को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई व पेन्टिंग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों में योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य के सहारे जीवन में स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

संस्था के संस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमें उच्च कोटि के विद्वानों को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयों पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में बीकानेर विश्वविद्यालय में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में बीकानेर विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप में प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का संचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।